इग्नू
जन–जन का
विश्वविद्यालय

BHIC-134

भारत का इतिहास : 1707-1950

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

विशेषज्ञ समिति

प्रो. श्रीकृष्ण (*रिटायर्ड*) इतिहास संकाय, इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, रेवाड़ी, हरियाणा	डॉ. नलिनी तनेजा (*रिटायर्ड*) स्कूल ऑफ ओपन लर्निंग दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रो. स्वराज बासु इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	डॉ. रोहित वांचू इतिहास विभाग, सेंट स्टीफन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रो. शशिभूषण उपाध्याय इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्री अजय माहुरकर, इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक	श्री अजय माहुरकर प्रो. शशिभूषण उपाध्याय
पाठ्यक्रम निर्माण दल	श्री अजय माहूरकर प्रो. शशिभूषण उपाध्याय प्रो. श्रीकृष्ण (सलाहकार)

पाठ्यक्रम श्रेय

इकाई सं.	इकाई लेखक
इकाई 1	ईएचआई-05 की इकाई 1 और एमएचआई-05 की इकाई 25 पर आधारित
इकाई 2	ईएचआई-05 की इकाई 4 और 5 पर आधारित
इकाई 3	ईएचआई-05 की इकाई 8 पर आधारित
इकाई 4	ईएचआई-05 की इकाई 13 पर आधारित
इकाई 5	ईएचआई-05 की इकाई 30 और 31 पर आधारित
इकाई 6	ईएचआइ-05 की इकाई 16 पर आधारित
इकाई 7	ईएचआई-05 की इकाई 14 पर आधारित
इकाई 8	ईएचआई-01 की इकाई 1 और 2 पर आधारित
इकाई 9	ईएचआई-01 की इकाई 8 और ईएचआई-05 की इकाई 26 और 27 पर आधारित
इकाई 10	ईएचआई-01 की इकाई 9, 10 और 11 पर आधारित
इकाई 11	ईएचआई-01 की इकाई 16, 18, 25 और 34 पर आधारित
इकाई 12	ईएचआई-01 की इकाई 22, 35 और 36 पर आधारित
इकाई 13	ईएचआई-01 की इकाई 35 और एमएचआई-04 की इकाई 27 और एमएचआई-09 की इकाई 34 पर आधारित

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

BHIC-134

भारत का इतिहास : 1707–1950

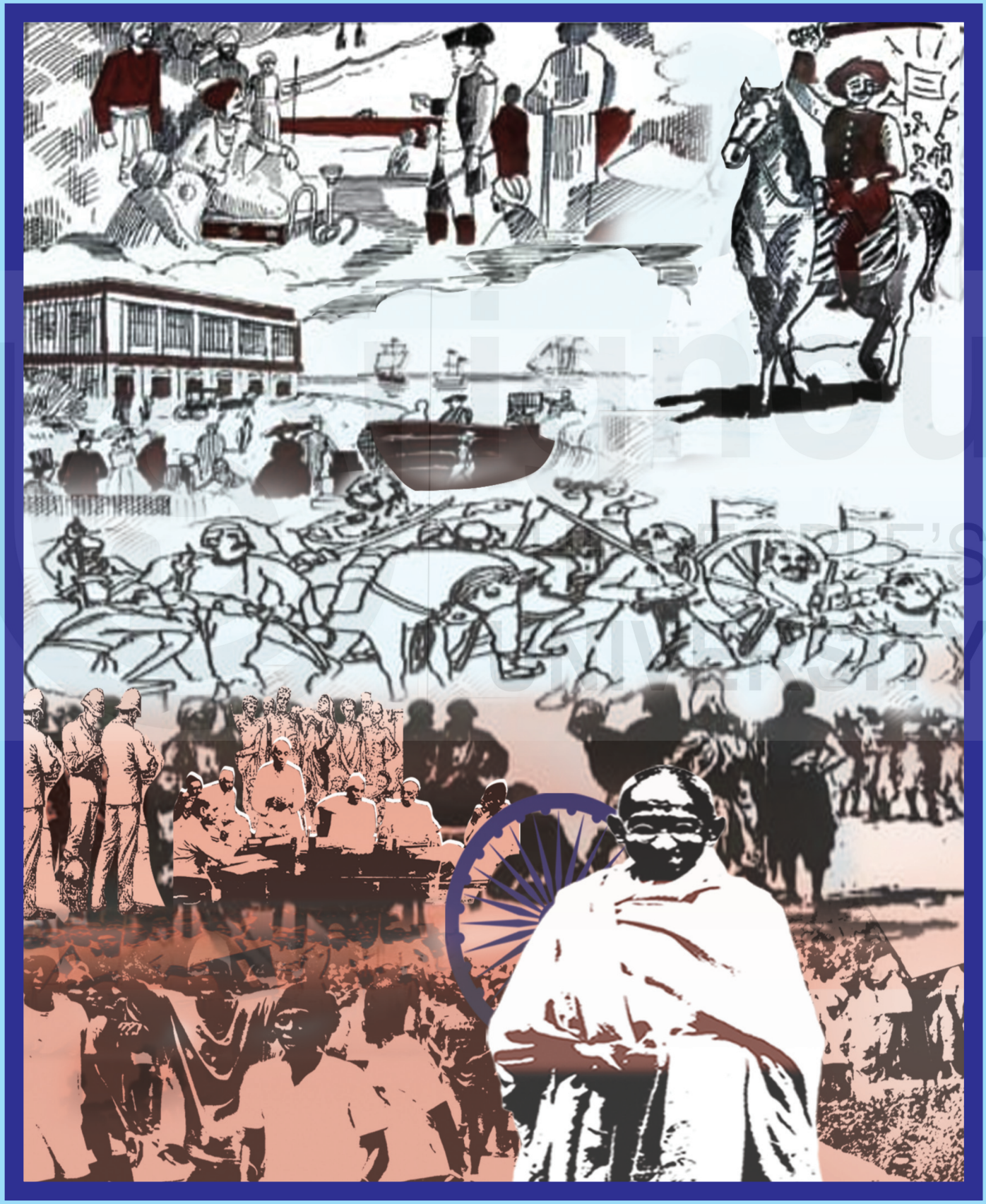

''शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्तमान विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।''

– इन्दिरा गांधी

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

पाठ्य-सामग्री, प्रारूप और भाषा सम्पादन

श्री अजय माहुरकर

प्रो. शशिभूषण उपाध्याय

प्रो. श्रीकृष्ण (सलाहकार)

आवरण सज्जा : मैं. आर.के. एंटरप्राइजेज

सामग्री निर्माण

श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

श्री यशपाल
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

फरवरी, 2021

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2020

ISBN-978-93-90773-44-2

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के बारे में विश्वविद्यालय कार्यालय मैदान गढ़ी, नई दिल्ली से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्विद्यालय की ओर से कुलसचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरण प्रभाग द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

टाइप सैटिंग एवं मुद्रण: ऐजूकेशनल स्टोर्स S-5 बुलंदशहर रोड इंडस्ट्रियल एरिया, साईट-1 गाजियाबाद (उ.प्र.)-201009

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 4 24-03-2021 11:47:17

पाठ्य विवरण

इकाई सं.	पाठ्यक्रम परिचय	पृ.सं.
	पाठ्यक्रम प्रस्तावना	7
इकाई 1	अठारहवीं सदी की व्याख्या	9
इकाई 2	स्वतंत्र राज्यों का आविर्भाव	19
इकाई 3	औपनिवेशिक शक्ति की स्थापना	33
इकाई 4	1857 तक औपनिवेशिक सत्ता का विस्तार और सुदृढ़ीकरण	43
इकाई 5	1857 का विद्रोह	53
इकाई 6	औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था : कृषि	65
इकाई 7	औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था : व्यापार और उद्योग	79
इकाई 8	औपनिवेशिक शासन का आर्थिक प्रभाव	89
इकाई 9	उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक-धार्मिक आंदोलन	101
इकाई 10	राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास	113
इकाई 11	महात्मा गांधी के तहत राष्ट्रीय आंदोलन	125
इकाई 12	साम्प्रदायिकता : उत्पत्ति, विकास और भारत का विभाजन	141
इकाई 13	स्वतंत्रता का आगमन : संविधान सभा और गणतंत्र की स्थापना	155
	इस पाठ्यक्रम के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें	167

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

पाठ्यक्रम प्रस्तावना

यह पाठ्यक्रम आधुनिक काल में भारतीय इतिहास का अवलोकन करेगा। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद, कई स्वतंत्र राज्य भारत में उभरे, जिसके परिणामस्वरूप क्षेत्र और राजस्व के लिए असीम प्रतिद्वन्द्विता का विस्तार हुआ। विभिन्न यूरोपीय कम्पनियाँ इस राजनैतिक और सैन्य खेल में और अधिक नियन्त्रण हासिल करने के लिए सम्मिलित हो गई। अन्त में, अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने न केवल अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों को प्रतिस्पर्धा में खत्म कर दिया, बल्कि भारतीय शासकों की कीमत पर भी कामयाबी हासिल की। इसने 1757 में बंगाल के बड़े प्रान्त के शासक को हराकर अपनी शक्ति को सुरक्षित रूप से स्थापित किया। इसके बाद इसने लगभग पूरे भारत में अपने राजनैतिक और सैन्य नियन्त्रण को व्यवस्थित रूप से लगातार बढ़ाया। 1857 के विद्रोह के दौरान इसकी शक्ति को बड़े पैमाने पर चुनौती दी गई थी, लेकिन एक कड़े संघर्ष के बाद यह अपना नियन्त्रण दुबारा स्थापित करने में कामयाब रही। यह पाठ्यक्रम एक व्यापक ढ़ाँचे में औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की स्थापना से भी संबंधित है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से उभरते राष्ट्रवादी आन्दोलन द्वारा औपनिवेशिक शक्ति को फिर से प्रभावी रूप से चुनौती दी गई थी। महात्मा गांधी के नेतृत्व में महान राष्ट्रवादी आन्दोलन ने अन्ततः 1947 में औपनिवेशिक शासन से आजादी हासिल की। यह पाठ्यक्रम इस आन्दोलन के उद्भव और विकास और एक नए गणतन्त्र के गठन से भी संबंधित है।

पाठ्यक्रम की शुरुआत अठारहवीं शताब्दी से होती है, जिसकी इतिहासकारों द्वारा दो तरीके से व्याख्या की गई है। इतिहासकारों का एक समूह साम्राज्य केन्द्रित दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए तर्क देता है कि मुगल साम्राज्य का पतन विनाशकारी था। जिसके परिणामस्वरूप 'अस्त-व्यस्तता और अराजकता' उत्पन्न हुई। इतिहासकारों का एक अन्य समूह जिन्होंने एक क्षेत्र-केन्द्रित दृष्टिकोण का अनुसरण किया है, इस बात पर बल देता है कि हालांकि साम्राज्य का पतन हुआ लेकिन इसका परिणाम 'अस्त-व्यस्तता और अराजकता' के रूप में सामने नहीं आया। इसलिए **इकाई 1** अठारहवीं शताब्दी की प्रमुख विशेषताओं, इस शताब्दी पर विभिन्न इतिहासकारों के विचार, और मुगल साम्राज्य के पतन और नए राज्यों के उदय के बारे में नए विचारों से संबंधित है। **इकाई 2** मुगल शक्ति के पतन के बाद स्वतन्त्र क्षेत्रीय शक्तियों के उद्भव के बारे में है। विशेष रूप से चूँकि सभी स्वतंत्र राज्यों का अध्ययन करना असंभव था, इसलिए एक प्रकार के व्यक्तिगत अध्ययन पद्धति के तहत यह इकाई अठारहवीं शताब्दी में मैसूर और हैदराबाद के विकसित हो रहे राजनैतिक गठन की प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करती है, उनकी तुलना करती है और इसके अलावा उस प्रक्रिया को भी दर्शाती है जिसके माध्यम से सिख राज्य का उदय हुआ। **इकाई 3** बंगाल में शासकीय क्षेत्रीय सत्ता के रूप में ईस्ट इंडिया कम्पनी के उद्भव के बारे में है। इस पारंपरिक राजनैतिक वर्णन में आर्थिक हितों की भूमिका पर बल दिया गया है। ब्रिटिश क्षेत्रीय विस्तार और राजनैतिक सुदृढ़ीकरण के लिए एक दीर्घकालीन संघर्ष हुआ। अंग्रेजों ने स्थानीय शासकों को अधीन करने के लिए कई युद्ध लड़े। भारतीय राज्यों की आंतरिक कमजोरियों ने सत्ता के लिए इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम तय किया। हालांकि हमारा उद्देश्य यह नहीं है कि अंग्रेजों द्वारा भारत के एक-एक अंश की विजय का सिलसिलेवार एक विस्तृत वृत्तांत पेश किया जाए। एक राजनैतिक वृत्तांत की बजाए, **इकाई 4** में हमारा ध्यान उभरती शाही विचारधाराओं और परंपराओं पर होगा जिन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन को मजबूत करने और व्यवस्थित करने के प्रयास को आकार देने में मदद की। आप जानते हैं कि देश पर अपने शासन की अवधि के दौरान ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय लोगों का शोषण और उत्पीड़न किया। यद्यपि भारतीय लोगों के विभिन्न वर्गों ने अलग-अलग समय में अंग्रेजी वर्चस्व की अवहेलना की, परन्तु यह 1857 का महान विद्रोह था, कभी-कभी जिसे स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम भी कहा जाता है, जिसने अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी वर्चस्व को एक गंभीर चुनौती दी। इसलिए **इकाई 5** की विषयवस्तु 1857 का महान विद्रोह, इसके कारण, इसका प्रक्षेपपथ और प्रभाव है। **इकाई 6** और **7** औपनिवेशिक शासन के आर्थिक आयाम को उजागर करती हैं। हम

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

सब जानते हैं कि भारी मात्रा में राजस्व एकत्र करने और अपने स्वयं के लाभ के लिए भारतीय संसाधनों का उपयोग करने का अभियान ब्रिटिश नीति के लिए मुख्य था। इन इकाइयों को कृषि क्षेत्र और व्यापार और उद्योग दोनों क्षेत्रों में औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की व्यापक तस्वीर देने के लिए रूपांकित किया गया है।

इकाई 8 भारत पर औपनिवेशिक शासन के प्रभाव, उपनिवेशवाद की बदलती प्रवृत्ति के साथ औपनिवेशिक शोषण की बदलती प्रकृति और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की राष्ट्रवादी आलोचना की एक प्रकार की समीक्षा है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत ने देश के विभिन्न भागों में आरम्भ किए गए सुधार आन्दोलनों की एक श्रृंखला देखी। ये आन्दोलन आधुनिक दिशा में भारतीय समाज की पुनर्संरचना की ओर उन्मुख थे। **इकाई 9** इन सामाजिक, धार्मिक आन्दोलनों का एक सामान्य और विश्लेषणात्मक अवलोकन प्रस्तुत करती है। **इकाई 10** राष्ट्रीय चेतना के प्रारंभिक रूप में फलने-फूलने के बारे में है और यह स्पष्ट करती है कि किस प्रकार से भारतीय मध्यम वर्ग औपनिवेशिक शासन की चुनौती का जवाब देता है। यह इकाई यह आकलन करेगी कि कैसे राष्ट्रीय चेतना ने एक संगठित रूप ले लिया, विशेष रूप से कांग्रेस के गठन में शिक्षित भारतीयों द्वारा निभाई भूमिका को समझने का प्रयास करेगी। यह आपको इसकी उत्पत्ति के बारे में कुछ विवादों से भी परिचित कराएगी। यह प्रारंभिक कांग्रेस के चरित्र का वर्णन करेगी। यह आपको इस प्रारंभिक दौर में कांग्रेस में दो भिन्न दृष्टिकोणों यानि नरम दल और गरम दल के उभरने से परिचित कराएगी। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भारतीय राजनीति के सार तत्व विचारधारा और पहुँच को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजनीति में उनके प्रवेश के साथ संघर्ष में एक नया चरण खुला। जन-लामबन्दी में बदलाव के साथ, वह राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान प्रमुख व्यक्ति तो बने रहे और उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष को निर्देशित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसलिए **इकाई 11** गांधी के विचारों और तकनीकों के प्रभाव में असहयोग, सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ो आन्दोलन जैसे आन्दोलनों की एक श्रृंखला की छानबीन करती है। किसी भी विकासशील देश की प्रमुख प्राथमिकताओं में से एक उसके लोगों की एकता को बनाए रखना है। आधुनिक भारतीय इतिहास में, इस तरह की एकता की बढ़ती साम्प्रदायिकता ने एक गंभीर परीक्षा ली। **इकाई 12** यह विश्लेषण करती है कि भारत में कैसे साम्प्रदायिकता का जन्म हुआ और कैसे यह विभिन्न शक्तियों और उनके विकास के कारण फली-फूली और कैसे अन्त में 1947 में देश के विभाजन में पराकाष्ठा पर पहुँची। दशकों तक भारतीय राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता का विरोध किया था और इसके आधिपत्य का मुकाबला करने की कोशिश की थी। द्वितीय विश्व-युद्ध और भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद यह स्पष्ट हो चला था कि ब्रिटिश शासन जल्द ही समाप्त होने वाला है लेकिन भारतीय लोगों को सत्ता हस्तानांतरण करने के लिए एक दीर्घकालीन वार्तालाप के माध्यम से समझौते का रूप दिया गया। इस पाठ्यक्रम की अन्तिम **इकाई 13** स्वतंत्रता के आगमन और एक गणतन्त्र की स्थापना में संविधान सभा की भूमिका और स्वतंत्रता के बाद के भारत की राज्य-व्यवस्था के विश्लेषण से संबंधित है।

इकाई 1 अठारहवीं सदी की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 अठारहवीं शताब्दी : प्रमुख विशेषताएँ

1.3 अठारहवीं शताब्दी संबंधी वाद-विवाद

1.4 मुगल साम्राज्य, इसका पतन और अठारहवीं शताब्दी का प्रारंभ

1.5 क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं के उद्‌भव का सामाजिक-आर्थिक संदर्भ

1.6 सारांश

1.7 शब्दावली

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित समझ पाएंगेः

- अठारहवीं सदी की मुख्य विशेषताएँ,
- अठारहवीं सदी के बारे में विभिन्न इतिहासकारों के विचार, और
- मुगल साम्राज्य के पतन और क्षेत्रीय राज्य-व्यवस्थाओं के उदय के कारण।

1.1 प्रस्तावना

भारतवासियों के लिए अठारहवीं शताब्दी वह काल था, जब स्थायी परम्पराओं का पतन हो रहा था। इतिहास में मुगल साम्राज्य कभी भी इतना असुरक्षित नहीं प्रतीत हुआ। उसके किलों को अफगानी लुटेरे (नादिरशाह 1739 और अहमदशाह अब्दाली 1748-1767), मराठा साहसिक (पेशवागण) और अन्य योद्धा किसान समूहों (जाट, रोहिला और सिख) के लगातार आक्रमणों को सामना करना पड़ा, और सैन्य अधिकारी तंत्र (*मनसबदारी प्रथा*) जो साम्राज्य का गर्व और मुख्य आधार थे, कुछ भी करने में अपने को अक्षम पा रहे थे। आर्थिक व्यवस्था टूट चुकी थी और जिसके परिणामस्वरूप कुलीन और भद्र वर्ग, तथा उनके आश्रितों के जीवन-स्तर पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा। साम्राज्य का दिवाला निकल चुका था और राजनीतिक अधिशासन और आर्थिक ईमानदारी गायब हो चुकी थी और यही काफी नहीं था। तैमूर वंश पर सबसे बड़ा कंलक यह था कि दो बादशाह अहमद शाह (1748-54) और शाह आलम (1759-1816) को अन्धा कर दिया गया और आलमगीर द्वितीय (1754-1759) की आपसी गुटबाजी में कुलीन-वर्ग द्वारा हत्या कर दी गई।

जिस तीव्र गति से यह सब हुआ वह आश्चर्यजनक था। 1700 में औरंगजेब के शासनकाल में मुगल साम्राज्य अपनी क्षेत्रीय पराकाष्ठा पर था। परन्तु 1730 के आसपास उसके कई सारे भाग राजनीतिक कारणों से क्षेत्रीय राज्यों में खंडित हो चुके थे। इनमें कुछ, जैसे अवध की नवाबी या बंगाल की निज़ामत उत्तराधिकारी राज्यों के रूप में उभरे और दूसरे, जैसे मराठा और जाट मुगल साम्राज्य के दीर्घकालीन और हिंसक विरोध का परिणाम थे। और आगे आने वाले तीस सालों में तो भारत की राजनीतिक तकदीर किसी दूसरी दिशा में ही मुड़ती दिखाई देती है। अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी, जो एक यूरोपीय शक्ति थी, पूर्वी भारत में काफी क्षेत्रों को जीत लेने में सफल हो चुकी थी और उपमहाद्वीप के दूसरे भागों में भी दखल डालने लगी थी। राजनीतिक मामलों में इन सफलताओं के आधार पर कम्पनी धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से दृढ़ता से उपनिवेशी राज्य का प्रारम्भ करने की दिशा में बढ़ रही थी। इन आश्चर्यजनक परिवर्तनों को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 9 24-03-2021 11:47:17

कि उस समय के लोग सोचने लगे थे कि उनकी दुनिया उलट-पुलट हो रही है।

इन परिवर्तनों को देखते हुए कई आधुनिक इतिहासकार अठारहवीं शताब्दी के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुए हैं और इसी कारण अठारहवीं शताब्दी संबंधी अध्ययन इतिहासकारों के मध्य उतेजनापूर्ण वाद-विवाद का केन्द्र बन गया है। इससे इस शताब्दी के इतिहास लेखन में अभिनव विकास आया है। व्याख्याओं में कई पहलुओं पर काफी मतभेद है, परन्तु कुछ विषयों पर सर्वसम्मति है। पुरानी व्याख्या के अनुसार मुगल साम्राज्य का पतन औरंगजेब की धार्मिक कटट्रतापूर्ण नीति के कारण हुआ। अब सर्वसम्मति से इसे अस्वीकार किया जाता है। जहाँ औरंगजेब ने मराठा, जाट और कुछ राजपूत वंशों के विरोध का सामना किया, वहीं उसे समान रूप से मुस्लिम कुलीन वर्ग और अधिकारियों के विरोध का भी सामना करना पड़ा, जो शाही दरबार में अन्ततः गुटबाजी और संघर्षों को बढ़ाने में सहायक रहे। दूसरी ओर कई शक्तिशाली राजपूत शासक साम्राज्य के प्रति वफादार बने रहे।

पुरानी रूढ़िबद्ध धारणा कि यह शताब्दी नैतिक अवनति और सांस्कृतिक पतन का काल थी को भी अस्वीकार किया जाता है। अब आंचलिक क्षेत्रों के संतुलित तथा सक्रिय सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इनमें से कई क्षेत्रीय राज्यों ने मुगल संस्कृति की विरासत को आगे बढ़ाया और उसे क्षेत्र विशेष की सांस्कृतिक विरासत में मिलाया। लखनऊ और हैदराबाद साहित्य और कला के संरक्षण और सांस्कृतिक विकास के प्रमुख केन्द्र बन गए। अठारहवीं शताब्दी का बनारस धार्मिक शिक्षा और तीर्थयात्रा के केन्द्र के साथ-साथ उत्तर भारत में बैंकिंग और व्यापार के केन्द्र के रूप में उभरा। बंगाल में नाडिया संस्कृत शिक्षा और दयाभागा हिन्दू कानून संबंधी शिक्षा का केन्द्र था और बिष्णुपुर में क्षेत्रीय स्थापत्य कलाओं और संगीत की विविध शैलियाँ पनपी और समृद्ध हुई। दक्षिण में मराठा शासकों के संरक्षणत्व में तंजौर एक प्रसिद्ध धार्मिक, संगीत और नाट्य परम्पराओं का केन्द्र बन गया।

आज इतिहासकार मुगल साम्राज्य की अवनति और उसके परिणाम को धार्मिक कट्टरता और कुछ शासक विशेष की कमजोरी न मानकर एक संरचनात्मक प्रक्रिया से घटने वाली संरचनात्मक असफलता का परिणाम मानते हैं न कि किसी व्यक्तिगत असफलता का नतीजा। परन्तु इस संरचनात्मक असफलता के कारणों और प्रकृति पर बहुत मतभेद है। कुछ लोग इस अवनति को आर्थिक संकट का परिणाम मानते हैं जो एक अति-शोषक शासक वर्ग के कारण उत्पन्न हुआ। कुछ का मानना है कि यह पूरी प्रक्रिया क्षेत्रीय पुनरुत्थान का परिणाम है, जो अन्ततः दीर्घकालीन आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती है। राज्य और समाज के बदलते संबंधों के बारे में भी अलग-अलग व्याख्याएँ हैं – आर्थिक विकास का क्या पैटर्न और प्रक्रियाएँ थीं? साम्राज्य और स्थानीय क्षेत्रों में विकास से होने वाले लाभ के बंटवारे पर झगड़े संबंधी विवाद का प्रश्न, आदि।

परन्तु अठारहवीं शताब्दी मुगल साम्राज्य की अवनति और क्षेत्रीय राज्यों के सुदृढ़ीकरण तक ही सीमित नहीं थी। इस शताब्दी के बीचोंबीच उपमहाद्वीप में और भी कई मौलिक परिवर्तन आ रहे थे। इनके बारे में इतिहासकारों की कई व्याख्याएँ हैं परन्तु वह आपस में नहीं मिलती। वाद-विवाद के कई क्षेत्र हैं : पहला कम्पनी का व्यापारिक से राजनीतिक सत्ता में परिवर्तन। दूसरा, भारत में उपनिवेशवाद की जड़ें बर्हिजात (exogenous) थीं या स्थानीय; और तीसरा इसके सामाजिक और आर्थिक प्रभाव क्या थे? इन्हीं में निरन्तरता और परिवर्तन के प्रश्न और इन सबका नए औपनिवेशिक ढाँचे में क्या महत्व है, ये सब प्रश्न आपस में उलझे हुए हैं।

1.2 अठारहवीं शताब्दी : प्रमुख विशेषताएँ

व्यापक कार्यरत प्रक्रियाओं और विचारों के विस्तृत क्षेत्र को समझने के लिए इस शताब्दी की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं को ध्यान में रखना चाहिए।

पहला, अठारहवीं शताब्दी ने दो परिवर्तन देखे। प्रथम, जब मुगल साम्राज्य का विभाजन हुआ और वह क्षेत्रीय और उससे भी छोटी सत्ताओं में बँट गया। साम्राज्य में आए संकट,

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 10 24-03-2021 11:47:17

जिसके परिणामस्वरूप उसका विखण्डन हुआ, वही इस परिवर्तन का मुख्य कारण है। जहाँ यह क्षेत्रीय और सामाजिक गुटों में राजनीतिक शक्ति का पुनर्वितरण मात्र था, वहीं दूसरा परिवर्तन कहीं अधिक गहरा था। यह लगभग शताब्दी के मध्य में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा प्लासी (1757) और बक्सर (1763) के युद्ध के पश्चात् राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त कर लेने पर हुआ। इसके परिणामस्वरूप कुछ नए बदलाव आए। सबसे बड़ा परिवर्तन सामुद्रिक व्यापार संगठन में हुआ। ईस्ट इंडिया कम्पनी का अब भारत पर प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और उसने अपने राजनीतिक आधिपत्य को सैन्य और व्यापारिक कार्यों में प्रयुक्त किया।

दूसरा, इतिहासकारों ने अठारहवीं शताब्दी के प्रभावों को पूर्ण रूप से समझने के लिए इसे एक 'दीर्घकालीन' शताब्दी के रूप में देखते हैं। नवीन व्याख्याओं के अनुसार इस शताब्दी की राजनीतिक-गतिशीलता के बीज 1680 के आसपास मुगल साम्राज्य के विखंडन में देखे जा सकते हैं। विघटनकारी परिणामों में 1720 के पश्चात् क्षेत्रीय राजनीति में स्थिरता के लक्षण दिखाई देते हैं। 1750 से कम्पनी के आधिपत्य में नए राजनीतिक सम्बन्धों का प्रारम्भ होता है। यह प्रक्रिया 1820 तक जारी रही जिसमें प्रायः सभी स्वदेशी राज्यों का विलय अंग्रेज शासित इलाकों में कर लिया गया या वे कम्पनी के सहायक संधि के तहत मित्र बन गए। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी राजनीतिक महत्व की दृष्टि से सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों और उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तीन दशकों को अपने में आत्मसात करती है। आर्थिक परिप्रेक्ष्य से भी 'दीर्घकालीन' शताब्दी की धारणा लाभपद्र है। अब इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि क्षेत्रों में राजनीतिक पुनर्स्थिति के साथ क्षेत्रीय आर्थिक पुनरुत्थान भी हुआ। कुछ स्थानों में अवनति हुयी। वहीं दूसरे स्थानों में आर्थिक उन्नति देखने को मिलती है। जिसका नेतृत्व स्थानीय भूमिपति वर्ग और व्यापारिक वर्ग ने किया। प्रचलित मत, जो शताब्दी के मध्य से आर्थिक अव्यवस्था पर जोर देता है, की तुलना में आधुनिक शोधों से पता चलता है कि कम्पनी के सत्ता में आ जाने से देशी संरचनाओं पर जोर पड़ने के बावजूद वे एकदम नष्ट नहीं हुयी। बंगाल में भी, जहाँ कम्पनी का शासन सबसे अधिक अन्तर्वेधी था, व्यापार और कृषि में समृद्धि आई हालांकि थोड़े परिवर्तित रूप में। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों तक स्थिति ऐसी ही बनी रही जब अठारहवीं शताब्दी की समृद्धि की धीमी गति धीरे-धीरे समाप्त होने लगी।

तीसरा, एक अर्थपूर्ण परिप्रेक्ष्य जो हाल में उभर कर आया है वह भारतीय अर्थव्यवस्था और विश्व अर्थव्यवस्था के मध्य सम्बन्धों का अवलोकन करता है। हिन्द महासागर अटलांटिक और प्रशांत महासागर के साथ एक विस्तृत व्यापारिक नेटवर्क का हिस्सा था और प्रारंभिक आधुनिक व्यापार के यूरोपीयकरण ने अठारहवीं शताब्दी में भारत के व्यापारिक जीवन की प्रकृति और भविष्य पर प्रभाव डाला। व्यापार की इस लम्बी अवधि में भारत ने हमेशा वस्तुओं और सेवाएँ प्रदान की थीं। इस माँग का निर्धारण यूरोपीय व्यापार के विश्वव्यापी नेटवर्क द्वारा किया जाता था। भारत के दृष्टिकोण से इसमें पर्याप्त मात्रा में लाभ था और इस माध्यम से भारत में काफी धन आया। अठारहवीं शताब्दी को समझने के परिप्रेक्ष्य से ये परिणाम महत्वपूर्ण हैं। मुगल और उत्तर-मुगल के बीच निरन्तरता की समस्या और उनसे उपनिवेशवाद के प्रारम्भिक वर्षों की समस्याओं को तभी समझा जा सकता है अगर यह ध्यान रखा जाए कि भारत का व्यापारिक जीवन और पूँजी विस्तृत रूप से संबंधों के सिलसिलों से जुड़ी हुई थी जिसकी अन्तः प्रेरणा आगरा और दिल्ली के साथ-साथ अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया और यूरोप से आती थी। प्रारम्भिक उपनिवेशवाद की मध्यस्थता ने इस समावेश की प्रक्रिया को और भी गहरा कर दिया। इसका एक उदाहरण हमें अठाहरवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तर-एशियाई व्यापार में आए परिवर्तनों में दिखाई पड़ सकता है जब भारत और पश्चिम-एशिया के बीच का प्रारंभिक संयोजन, अंग्रेजी व्यापार की देखरेख में पूर्व और दक्षिण-पूर्व एशिया की दिशा में मुड़ गया। क्योंकि अठारहवीं शताब्दी में सत्रहवीं शताब्दी की तुलना में (जो एक संकटपूर्ण समय माना जाता है) विश्वव्यापी आर्थिक विस्तार हुआ और भारत का समुद्री व्यापार इस समय असाधारण रूप से बढ़ा इसलिए कोई भी दृष्टिकोण जो अठारहवीं शताब्दी को आर्थिक पृथकीकरण का युग मानता है, संदिग्ध माना

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 11 24-03-2021 11:47:17

जाना चाहिए।

बोध प्रश्न-1

1) अठारहवीं शताब्दी में देखे गए दो संक्रमण क्या हैं?

.....

.....

.....

2) अठारहवीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था और वैश्विक अर्थव्यवस्था के बीच क्या संबंध था?

.....

.....

.....

1.3 अठारहवीं शताब्दी संबंधी वाद-विवाद

अठारहवीं शताब्दी में तीव्रता से इतने महत्वपूर्ण परिवर्तन आए कि स्वाभाविक है कि लगभग हर विषय पर विभिन्न व्याख्याएँ हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। मोटे तौर पर पर यह वाद-विवाद इस शताब्दी को दो भागों में बाँटे जाने से शुरू होता है और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के समर्थकों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। यहाँ हम 1750 तक के समय को लें तो दो तरह के मत मिलते हैं– साम्राज्य-केन्द्रित और क्षेत्र केन्द्रित विचार। 1750 के बाद भी हमें दो विचार भारतीयता और यूरोपीयकरण के समर्थन में मिलते हैं। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की चर्चा करते हुए कुछ इतिहासकार मुगल साम्राज्य और उसकी संस्थाओं की केन्द्रीयता और समाज और अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया में उसकी भूमिका को मुख्य मानते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार साम्राज्य के पतन के विध्वंसक परिणाम हुए। इस विचारधारा के कटट्रवादियों के विचार में इस पतन से देश में राजनीतिक अव्यवस्था और अराजकता आ गई। हाल की व्याख्याओं में इस पतन को संरचना के ह्रास के रूप में देखा गया है। लेकिन इन सबसे कुछ भी कोई सकारात्मक विचार नहीं उभर पाया। साम्राज्य के पतन के बाद उभरने वाले क्षेत्रीय राज्यों पर आरोप लगाया जाता है कि वे अपने को, पहले से ज्यादा, जितना उनका विकास एक मुगल सूबे के रूप में था उससे अधिक विकसित नहीं कर पाए। जाट, सिख और मराठाओं के विरोधी आन्दोलनों को यह विचार लुटेरों के दलों से ज्यादा नहीं मानता।

इसके विपरीत वे हैं, जो घटनाओं को क्षेत्रीय और स्थानीय परिप्रेक्ष्य से देखते हैं। साम्राज्य केन्द्रित विचार, जो साम्राज्य की प्रमुख भूमिका को स्वीकार करते हैं, के विपरीत क्षेत्र-केन्द्रित विचार साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले सामाजिक समूहों को अपना केन्द्र बनाते हैं। उन्होंने किस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक प्रक्षेप-पथों की गति को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए बदल दिया। एक स्तर पर, मुगल क्षेत्रीय शासन को मूलतः बदल दिया गया जिससे बंगाल, अवध और हैदराबाद में स्वायत्त राज्यों की स्थापना हुई। दूसरे स्तर पर मराठा और सिख जैसी राजनीतिक शक्तियों का उदय हुआ। जिनका उदय मुगलों के विरोध के रूप में हुआ था परन्तु उन्होंने जो राजनीतिक तन्त्र खड़ा किया उसमें उन्होंने ज्यादातर मुगल प्रशासनिक पद्धतियों का ही प्रयोग किया। इस बदले हुए क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में अधिकारियों ने मुगल कुलीन-वर्ग को क्षेत्रों में अपनी शक्ति और मजबूत करने का मौका दिया। इसके अतिरिक्त, उनके परिवार और आश्रितों को कृषि पर *मालिकाना* अधिकार स्थापित करने और राजस्व को *इजारे* या ठेके पर लेने का मौका मिला जो धीरे-धीरे आने वाले समय में उनकी पुश्तैनी जायदाद बन गई। क्षेत्रों में व्यापारिक विकास से इनकी स्थिति और मज़बूत हुई।

1750 के बाद की स्थिति के बारे में यूरोपवादी विचार एक विजयी, विस्तारवादी (मुख्य रूप से ब्रिटेन) के प्रभुत्व को प्रमुखता देते हैं जिसने अराजकता और अव्यवस्था से घिरे हुए

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 12 24-03-2021 11:47:17

भारत को हराया। यह भारत के राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहासकारों का सबसे प्रमुख दृष्टिकोण है, जो भारत के आर्थिक पिछड़ेपन के कारणों पर श्रेष्ठ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। राष्ट्रवादी विचारधारा अठारहवीं शताब्दी में भारत में फैली अराजकता को देश के इतिहास में एक क्षणिक, पर भयंकर भूल मानते हैं जिसने पनपते हुए राष्ट्र को एक विदेशी शक्ति के अधीन कर अपने आपको उसका उपनिवेश बना दिया। परम्परागत मार्क्सवादी विचारधारा अंग्रेजी शासन को एक आवश्यक बुराई मानती है क्योंकि इससे अठारहवीं शताब्दी के सामन्तवादी विघटन का अन्त हुआ। हाल के कुछ विद्वान, इसे ऐसे रूप में देखते हैं जो निरन्तर लाभ, वस्तुओं तथा बाजारों की खोज में था और जिसका कोई प्रगतिशील पहलू नहीं था। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के बारे में इतिहासकारों के दृष्टिकोण में कुछ सामान्य मान्यताएँ हैं। पहली यह कि व्यवस्था और स्थिरता एक बड़ी अखिल-भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में ही हो सकती है और चूँकि यह स्थिरता अठारहवीं शताब्दी में समाप्त हो गई, इसलिए इस काल में अव्यवस्था, अराजकता और पतन आया। दूसरा, यह सभी ने माना है कि इस शताब्दी में विच्छिन्नता आई। दोनों विचार के समर्थक अंग्रेजी शासन को एक मूलभूत वियोजन मानते हैं जो विदेशी और अनजान आधिपत्य पर आधारित था तथा जो भारतीय अधिशासन या संस्कृति की परम्पराओं से बहुत दूर था।

दूसरी ओर, भारतवादी परिप्रेक्ष्य उपनिवेशवाद के इस संक्रमण-काल को विभेदक मानते हैं। अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को विजय और अधीनीकरण का एकतरफा प्रक्रम न मानकर भारत के साथ यूरोप (विशेषतः अंग्रेजों का) की एक लम्बे अरसे के लिए सम्बद्धता मानते हैं। भारत पर एक विदेशी शासन की शक्ति के बल पर उपरोपण के स्थान पर इस बात पर जोर दिया जाता है कि किस तरह से भारतीय समाज की परिस्थितियों ने अंग्रेजी शासन को बढ़ावा दिया। इस तर्क के अनुसार, भारत में अंग्रेजी शासन के निर्धारण में महानगरीय स्वार्थों के साथ-साथ भारतीय कारकों का भी योगदान था। भारतवादी दृष्टिकोण रखने वाले अठारहवीं शताब्दी को मात्र अराजकता से भरपूर काल नहीं मानते, उनके मतानुसार मुगल साम्राज्य के 'उत्तराधिकारी' राज्यों ने भारत को राजनीतिक स्थिरता प्रदान की। भारतवादी साम्राज्य के टूटने को आर्थिक पश्चगमन नहीं मानते, उनका मानना है कि अठारहवीं शताब्दी में भी भारत की व्यापारिक और सैन्य-कुशलता बनी रही और कम्पनी ने इसका अपने लाभ के लिए प्रयोग किया। जहाँ एक ओर इस अनाधिकार प्रवेश का जोरदार देशी विरोध रहा, वहीं दूसरी ओर भारत में अंग्रेजी शासन की सफलता के पीछे देशी कारकों का विशेष योगदान रहा। अंग्रेजी शासन भारतीय शासन प्रणाली के आदर्शों, कृषि-व्यापारिक प्रबंधों और मानव संसाधनों की दक्षता पर आधारित था, परन्तु उसने उसे अपने उद्देश्य के अनुसार ढाल लिया। भारतवादी दृष्टिकोण के मतानुसार, अठारहवीं शताब्दी किसी अवरुद्ध ता को नहीं इंगित करती, बल्कि उसमें एक गहरी निरन्तरता थी, जिसमें पहले से चली आ रही संस्थाएँ और संचनाएँ बनी रहीं। यद्यपि उनका रूप बदल गया और चारों ओर व्यावसायिक प्रक्रियाओं का विस्तार हुआ। इस मत पर प्रचार करने वाले अक्सर असंगत रूप से 'कैम्ब्रिज स्कूल' कहलाते हैं क्योंकि इनमें से कई अमेरिका में रहते हैं और कई भारतीय इतिहासकारों का भी यही दृष्टिकोण है। इन्हें कुल मिलाकर 'संशोधनवादी' इतिहासकार की संज्ञा दी गई है।

1.4 मुगल साम्राज्य, उसका पतन और अठारहवीं शताब्दी का प्रारंभ

मुगल साम्राज्य की अवनति के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। जैसा कि पहले कहा गया है, नैतिक भ्रष्टता का सिद्धान्त, कमजोर शासक और साम्प्रदायिक नीति को गम्भीरता से लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह आनुभाविक तौर पर खरी नहीं उतरती। फरूखसियार जैसे बाद के मुगल शासकों ने इस पतन को रोकने की कोशिश की। हमें ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता जिससे प्रतीत हो कि इन बादशाहों ने अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाई, परन्तु घटनाएँ इतनी तेजी से घट रही थीं कि किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा काबू में कर पाना संभव नहीं था। अन्य विचार, तीव्रता से बिखरती संरचना पर, साम्राज्य के आर्थिक और *जागीरदारी* व्यवस्था में आए संकट पर अपना ध्यान केन्द्रित करती हैं,

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 13 24-03-2021 11:47:17

जिनसे अधिशासन जोखिम में पड़ गया था। इस विषय पर विस्तृत रूप से लिखा गया है। इरफान हबीब के तर्क इस संबंध में सबसे प्रभावशाली रहे हैं। हबीब का मानना है कि एक ओर अर्थव्यवस्था के विस्तार की क्षमता स्वयं में बुनियादी तौर पर अपने आप में सीमित थी। मुगल अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति थी कि किसानों से अधिक से अधिक अधिशेष हथिया लें। इसने एक त्रि-ध्रुवीय संघर्ष – कुलीन वर्ग, *जमींदार* और किसानों के बीच – को जन्म दिया। यह संघर्ष शीघ्र ही इतना बढ़ गया कि उसे नियंत्रित करना या रोकना असंभव हो गया। सतीश चन्द्र के अनुसार, साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण राज्य के अधिकारियों की *जागीर* प्रथा की कुशलता को बनाए रखने की असमर्थता था जिसने आपसी गुटबाजी में तीव्र संघर्ष को जन्म दिया। इसी धारा में अथर अली का मानना है कि *जागीरों* की अत्यधिक कमी इस पतन का एक बड़ा कारण था। औरंगजेब के दक्षिण अभियानों के परिणामस्वरूप भू-आवंटन के आकांक्षियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई जिससे *जागीर* व्यवस्था चरमरा गई। जॉन रिचर्ड्स द्वारा इसमें विशेष संशोधन किया गया। उनका कहना था कि दक्षिण में *बे-जागीरी (ज़ागीर* के बिना) कोई समस्या नहीं थी क्योंकि उस क्षेत्र में भू-आवंटन की कमी नहीं थी। परन्तु समस्या दक्खनी स्थानीय विशिष्ट वर्गों द्वारा एक उचित व्यवस्था की स्थापना था। दक्खन में उचित शासन व्यवस्था की स्थापना करना साम्राज्य की प्रमुख समस्या थी। साम्राज्य की सुदृढ़ीकरण की दिशा में असफलता के कारण स्थिति संकटपूर्ण हो गई। यह असफलता विशेषकर मुगल साम्राज्य की स्थानीय कृषि पर आधारित आभिजात्य वर्ग को सही तौर पर समाविष्ट न कर पाने के कारण थी, जिसके कारण साम्राज्य में दरार पड़ गई।

मार्शल हॉगसन एक रोचक तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि तीनों मुसलमान साम्राज्य – ऑटोमन, सफविद और मुगल – इसलिए सफल नहीं हए क्योंकि वे समान रूप से एक ही धर्म का पालन करते थे बल्कि उनकी सफलता का प्रमुख कारण गोला-बारूद का सही प्रयोग था। उनकी कमज़ोरी और पतन का भी मुख्य कारण यही था कि वे पश्चिमी गोलार्द्ध में युद्ध के क्षेत्र में बदलती हुई नई तकनीकियों को सफलतापूर्वक अपना न सके। क्या यही तर्क भारत पर भी लागू होता है? हाल में इक्तिदार आलम खान ने हमारा ध्यान गोला-बारूद, केन्द्रीयकरण, और प्रतिरोध के बीच की समकालिक अनुकूलता की ओर आकृष्ट किया है। बन्दूक, तोप और गोला-बारूद्ध ने जहाँ साम्राज्य की शक्ति को बढ़ावा दिया वहीं शक्तिशाली प्रजा द्वारा उनका प्रयोग अपने को सशस्त्र करने के लिए और राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करने के लिए किया। तत्कालीन परिस्थितियों में इस महत्वपूर्ण तकनीकी ज्ञान को नीचे सामान्य जनता तक पहुँचने से रोक पाना असम्भव था। अतः गोला-बारूद्ध और अस्त्र-शस्त्रों पर राज्य के एकमात्र नियंत्रण का सिद्धांत इसलिए कामयाब सिद्ध नहीं होता क्योंकि, *जमींदार,* चौधरी और प्रमुख कृषक समूहों के पास बड़े पैमाने पर सशस्त्र-सेना थी। मराठा, सिख और जाटों के अलावा ग्रामीण क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्तियों के पास भी बन्दूकों का भरपूर भंडार था। यह स्मरण योग्य हैं कि इन लोगों को अपने समाज/जाति में उच्च स्थिति के कारण कुछ परम्परागत अधिकार और अनुलाभ मिले हुए थे। इससे वे जरूरत पड़ने पर अपनी सेना की संख्या बढ़ा सकते थे, जो प्रायः वे करते भी थे। मुगल सेना के पास हालांकि अत्यधिक मात्रा में सैन्य सामग्री थी, परन्तु इसके बावजूद उन्हें स्थानीय सरदारों से हमेशा खतरा रहता था क्योंकि ग्रामीण इलाकों में उनकी अवस्थिति उनके अनुकूल थी। अठारहवीं शताब्दी तक राज्य और स्थानीय सरदारों के पास समान रूप से सैन्य-तकनीकी उपलब्ध थी क्योंकि ग्रामीण इलाकों में एक व्यापक उथल-पुथल थी। स्टुअर्ट गॉर्डन ने यह दर्शाया है कि अठारहवीं शताब्दी में मराठाओं ने किस प्रकार एक बहुत बड़े और पंचमेल सैन्य श्रमिक बाजार का उपयोग किया जिसमें यूरोपीय भी शामिल थे।

इसलिए, मुगल साम्राज्य के पतन को समझने के लिए दीर्घकालीन और अल्पकालिक (conjunctional) दोनों ही दृष्टिकोणों की आवश्यकता है। दीर्घकालीन दृष्टिकोण यह है कि मुगल साम्राज्य ने शक्ति के केन्द्रीयकरण के लिए कई संस्थाओं की नींव रखी, परन्तु दुर्भाग्यवश इनसे साम्राज्य की सांस्थानिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में समय-समय पर संकट

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 14 24-03-2021 11:47:17

आया, जिनका समाधान मुगल शासक प्रभावशाली ढंग से नहीं कर पाए। उदाहरण के लिए सरकार भू-राजस्व निर्धारण (*जमा)* और वास्तविक कर-वसूली (*हासिल*) में सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाई। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों से राजस्व प्रेषण में 20 प्रतिशत तक की क्षति को कम करने में सक्षम सिद्ध नहीं हुई। मुगल साम्राज्य की एक संरचनात्मक असमर्थता भी थी कि वह स्थानीय विशिष्ट वर्ग और सरकार के साथ सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाई। दोनों निरंतर विरोध की स्थिति में रहते थे। निश्चित रूप से कभी-कभी दोनों में पुनर्मेल के उदाहरण भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, अकबर की राजपूत नीति। परन्तु इसका प्रभाव क्षेत्र पूरे राजपूताना तक विस्तृत नहीं था न ही यह समस्त राजपूत वंशों के लिए थी और न ही यह राजनीतिक संघर्ष को रोक पाई। सरकार द्वारा साम्राज्य में दूर-दूर तक फैले हुए छोटे-छोटे *ज़मीदारों* के साथ कोई व्यवहारिक सम्बन्ध स्थापित न कर पाने की अक्षमता, जिसमें दोनों की सम्मति हो, ने समस्याएँ और बढ़ाई। *मसावत* और *ज़ोरतलाब* (ऐसे क्षेत्र जो हमेशा विद्रोही रहे हों) इलाके *सर-ए-हासिल* इलाकों के साथ-साथ थे। ये दीर्घकालीन संरचनात्मक समस्याएँ थीं।

अल्पकालिक समस्या दक्खन के संकट के रूप में उभरी और उत्तरी भारत में गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र में चले आ रहे जाट और मेवातियों के दीर्घकालीन विरोधी-आन्दोलन और पंजाब में सिखों के विरोध ने विशेषकर गंभीर रूप धारण किया। पूर्वी भारत जैसे क्षेत्रों में जहाँ सत्रहवीं शताब्दी में विशेष रूप में व्यापार और वाणिज्य का विस्तार हुआ, पेशकश (tribute) वसूली में कठिनाई रही क्योंकि *ज़मींदारों* ने राजस्व के ढीलेपन का अपने हित में पूरा लाभ उठाया। हालांकि साम्राज्य की राजनैतिक स्थिरता में कोई अन्तर नहीं आया, परन्तु इससे आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ी। इसके साथ दो और एशियाई साम्राज्यों में भी संकट पैदा हो गया जिससे भारत और पश्चिमी एशिया का व्यावसायिक रूप से अत्यंत लाभप्रद सम्पर्क टूट गया। एक व्याख्या के अनुसार, मुगल साम्राज्य के प्रसिद्ध बन्दरगाह सूरत को इस समय जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उसका महत्वपूर्ण कारण इन साम्राज्यों का पतन ही था।

अल्पकालिक संकटों ने पहले से चली आ रही राजकीय अनिवार्यताओं और स्थानीय अनिवार्यताओं के मध्य दीर्घकालिक संघर्षों में और भी वृद्धि की जिससे साम्राज्य को घुटने टेकने पड़े।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि मुगल साम्राज्य के केन्द्रीयकरण, विकेन्द्रीयकरण की अन्तर्जातीय प्रक्रियाओं और संकटों को समझने के लिए केन्द्र और स्थानीय क्षेत्रों के निरन्तर बदलते हुए, समझौतावादी संबंधों और कुलीन वर्ग तथा स्थानीय सरदारों के बीच निरन्तर तनावों को ध्यान में रखना होगा। ये रिश्ते कभी भी राजकीय आदेशों से निर्धारित नहीं किए जा सकते थे, वे हमेशा उजागर होते और बदलते रहते थे। अगर मुगल साम्राज्य का समझौतेवादी राजनीतिक संबंधों पर आधारित प्रतिष्ठान के रूप में विश्लेषण किया जाए तो उसके अन्तराल में गतिशीलता दिखाई देगी और इस गतिशीलता ने साम्राज्य के विभिन्न भागों में विभिन्न सामाजिक गुटों को साथ-साथ आने का मौका प्रदान किया। इससे साम्राज्य के विभिन्न भागों में प्रचलित भिन्न-भिन्न सामाजिक विन्यासों को व्याख्यायित किया जा सकता है। केन्द्र और राज्यों के बदलते हुए संबंधों से हमें क्षेत्रों और केन्द्र के मध्य अंतःसंबंधों का भी पता चलता है। साम्राज्य द्वारा केन्द्रीयकरण की जितनी कोशिश की गई, क्षेत्रीय समूहों को उतना ही अधिक लाभ प्राप्त हुआ, उन्होंने केन्द्रीयकरण की इस प्रक्रिया को अपनाया और उससे लाभ उठाया। साम्राज्य ने जैसे-जैसे राजस्व व्यवस्था द्वारा धन संचय किया, स्थानीय समूहों द्वारा उसके अतिक्रमण की प्रवृत्ति रही जिससे एक ओर आपसी संघर्ष बढ़ा, वहीं दूसरी ओर उनके द्वारा धन की अधिक से अधिक मात्रा में धन संचय की प्रवृत्ति को बल मिला।

1.5 क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं के उद्‌भव का सामाजिक-आर्थिक संदर्भ

अगर हम साम्राज्य का क्षेत्र-केन्द्रित परिप्रेक्ष्य अपनाएँ तो उसके पतन के वैकल्पिक रूप से नज़र आते हैं। यहाँ तक कि फारसी भाषा के स्रोतों में भी साम्राज्य के विकेन्द्रित और

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 15 24-03-2021 11:47:17

नाजुक पहलुओं के विवरण हैं। उदाहरण के लिए, आंद्रे विंक *'फितना'* के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि राज्य व्यवस्था निरन्तर अंदर से ही विनाशकारी थी और गुटबंदी और अपकेन्द्रक शक्तियाँ केन्द्र से लगातार अलग हो रही थीं। स्टिफन ब्लेक द्वारा मुगल व्यवस्था की पैतृक-नौकरशाही (patrimonial-bureaucratic) व्याख्या उसका एक दूसरा पहलू है। इसका अर्थ यह है कि मुगल हमेशा विस्तृत रूप से एक व्यक्तिगत (पैतृक) और अत्यंत सैन्यीकृत और केन्द्रीय पहलुओं में संतुलन रखने के प्रयत्न में मानों एक तनी हुई रस्सी पर चलते रहे। इससे एक अजीब तरह की असंगति पैदा हो गई और जैसा एम.एन. पियर्सन कहते हैं, मुगल शासक एक पैतृक, अत्यधिक व्यक्तिगत शासन और अपनी सैनिक आकांक्षाओं के बीच की दरार को लांघ नहीं पाए। अपने सेना को कामयाब बनाने के प्रयत्न में वे एक स्वतंत्र सैन्य नौकरशाही प्रथा की स्थापना नहीं कर पाए। मुज़फ्फर आलम दर्शाते हैं कि किस प्रकार इस राजकीय प्रक्रिया को स्थानीय भद्र वर्ग अन्दर ही अन्दर काटकर अपनी स्थिति को और मजबूत बनाता रहा।

हम अब देखते हैं कि मुगल राज्य से पीछे हटने वाले कई दबाव थे। इनमें केन्द्र की गुटबंदी से लेकर स्थानीय और क्षेत्रीय विशिष्ट वर्गों द्वारा स्वयं को सुदृढ़ बनाना था। इन वर्गों की प्रकृति सब जगह एक-सी नहीं थी। अवध के लोग समाज के ऊँचे वर्ग के थे (*अशरफ*), बाकी स्थानों पर कुछ निम्न श्रेणी के तत्व भी शामिल थे जैसे पंजाब में जाट, किसान, या बंगाल में बसे हुए इलाकों के छोर पर स्थित सदगोप *ज़मींदारी*। महाजन और व्यापारियों ने इसमें विशेष भूमिका अदा की। वे कुछ पैसे देकर लागत की जिम्मेदारी लेते थे। अठारहवीं शताब्दी में नए आंचलिक विशेष वर्ग की यह विविधता इनकी प्रमुख विशेषता थी, जिससे हमें एक ऐसी व्यवस्था दिखाई देती है जो बहु-ध्रुवीय तनाव के थपेड़ों से परेशान थी। यह संकट ऐसे गुटों की आशंकाओं के दोबारा उदय होने से हुआ जिसे सी. ए. बेली 'कई तरह के सैन्य, व्यापारिक और राजनीतिक ठेकेदार' के नाम से संबोधित करते हैं। जिन्होंने एक साथ एकजुट होकर 'मुगल साम्राज्य के बढ़ते हुए व्यापार और उत्पादन का फायदा उठाया। इस उदय का अर्थ पतन नहीं है। इसका अर्थ है कि ऊपरी सतह के सामाजिक विस्थापन के साथ-साथ कुछ पुरानी संस्थाओं का स्थान नवीन संस्थाओं ने लिया और कुछ को पुनः संगठित किया गया।

अठारहवीं शताब्दी की राजनीतिक प्रक्रियाओं पर हाल के अध्ययन द्वारा तीन प्रकार की शासन प्रणालियों की ओर इशारा किया गया है। इनमें से प्रथम पहले से चली आ रही मुगल शासन प्रणालियों की प्रतिकृति थी। अवध और बंगाल के नवाब केवल नाम के ही मुगल *सूबेदार* थे और उत्तराधिकारी राज्यों के रूप में इन प्रान्तों पर राज कर रहे थे। इन्होंने मुगलों द्वारा शुरू की गई प्रथाओं और रीतियों को अपनाया। दूसरी श्रेणी में वे राज्य आते थे, जिनकी उत्पत्ति मुगल साम्राज्य से हटकर हुई थी। इनमें मराठा, जाट और सिख राज्य आते थे जिनके सुदृढ़ीकरण ने नए तंत्रों की स्थापना की जिनसे मुगल साम्राज्य को वास्तविक रूप से और निरन्तर रूप से खतरा था। तीसरी श्रेणी में आने वाली संरचनाएँ राजनीतिक अत्यंत महत्वपूर्ण थीं। इसमें मुसलमान तथा हिन्दू और आदिवासियों के कई स्थानीय प्रभाव क्षेत्र थे जो अर्ध-स्वाधीन राज्यों की सीमाओं पर स्थित थे। जाट *ज़मींदारों* द्वारा गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र से भगाए जाने पर राजपूत वंशों ने पश्चिम में गुजरात से लेकर उत्तर में अवध तक, विजय, प्रवासन और व्यवस्थापन द्वारा छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की। रोहिलखण्ड और भोपाल में अफगान सरदारों ने विजय, ठेके पर राजस्व (*इजारा*) और दक्षिण-पश्चिम सीमावर्ती इलाकों के साथ व्यापार द्वारा अपने राज्यों की स्थापना की। बनारस राज और बंगाल में बुर्दवान और कासिम बाज़ार के ज़मींदारों ने कृषि-उपनिवेशिकता, राजस्व के ठेके (*इजारा*) और व्यापार द्वारा अपने राज्यों से संगठित किया। भारत की उत्तर-पूर्व सीमा में आहोम राजाओं ने मुगल साम्राज्य को 1680 के आसपास बढ़ने से रोका। इस हिन्दू वंश के राजाओं ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अंग्रेजों के आक्रमण तक असम को स्वाधीन रखा।

दक्षिण में राजतंत्रवादियों का वास्तव में प्रमुख केन्द्रीयकरण मैसूर में 1760 के आसपास ही हुआ। डेविड लड्डन दर्शाते हैं कि उससे पहले की स्थिति यह थी कि तेलुगुभाषी *नायकों*

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 16 24-03-2021 11:47:17

ने छोटे-छोटे राज्य बना रखे थे। वहीं कई *पलायाक्करार* या पोलिगार थे जिन्होंने *नायकों* के क्षेत्रों में अपने छोटे क्षेत्र बनाए जो मंदिरों पर आधारित थे और जिनका अत्यधिक मात्रा में सैन्यीकरण हुआ। मालाबार तट पर तटवर्ती राज्यों और *ज़मींदारों* घरानों में एक आशंकापूर्ण सन्धि का रिश्ता था जो व्यापार, भूमि और श्रम से प्राप्त होने वाले लाभ को पारस्परिक रूप में बाँट लेते थे। इस क्षेत्र में एक अन्तर्वेधी राजतंत्र का प्रारम्भ हैदर अली और टीपू सुल्तान के समय में मैसूर के आक्रमण के बाद हुआ।

बोध प्रश्न-2

1) ''अठारहवीं शताब्दी सार्वभौमिक रूप से अवनति की शताब्दी थी।'' टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

2) सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों के जीवंत केन्द्रों के रूप में उभरते क्षेत्रों के संदर्भ में आप अठारहवीं शताब्दी को कैसे देखेंगे?

.....

.....

.....

1.6 सारांश

अठारहवीं शताब्दी की प्रमुख विशेषता मुगल साम्राज्य का पतन और कई क्षेत्रीय सत्ता केन्द्रों का विकास था। शताब्दी के मध्य अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी की राजनीतिक सत्ता की स्थापना के साथ ही एक नया कारक सामने आया जिसका प्रभाव बहुत गहरा था। अठारहवीं शताब्दी की व्याख्या इतिहासकारों ने दो दृष्टिकोण से की है। कुछ साम्राज्य-केन्द्रित विचार के हैं। उनका मानना है कि मुगल साम्राज्य का पतन विध्वंसक था, जिससे 'अव्यवस्था और अराजकता' फैली। दूसरे क्षेत्र-केन्द्रित विचार के हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि मुगल साम्राज्य के पतन के बावजूद 'अव्यवस्था और अराजकता' नहीं फैली। क्षेत्र विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाओं की सरगरमी से गूँजने लगे और राजनीतिक समस्याओं के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ। यह प्रक्रिया अंग्रेजों के प्रारम्भिक वर्षों में भी विघटित नहीं हुई, परन्तु इसमें कई बदलाव आए जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर अभूतपूर्व बोझ पड़ा।

1.7 शब्दावली

चौधरी : अर्द्ध-वंशानुगत *परगना* स्तर का अधिकारी। उसका मुख्य कार्य राजस्व एकत्रित करना था।

***जागीरदारी* व्यवस्था** : आभिजात्य वर्ग को वेतन के बदले भूमि (इसके अनुसार कुलीन वर्ग के लोगों को वेतन के साथ भूमि) आवंटित की जाती थी। इस प्रकार आवंटित क्षेत्र *जागीर* कहलाते थे और उनका धारक *जागीरदार*। परन्तु *जागीरदारों* को भूमि नहीं बल्कि उस निश्चित क्षेत्र से आय/कर का अधिकार प्राप्त था। *जागीरें* अक्सर हस्तांतरणीय होती थीं।

***मनसबदारी* प्रथा** : *मनसब* का अर्थ है, पद। मुगल अधिकारी वर्ग में जो भी शामिल होता था उसको *मनसब* दिया जाता था। यह पद दोहरा था – *जात* और *सवार*। *ज़ात* से धारक का सरकारी पदानुक्रम में स्थान नियत होता था तथा इससे उसके व्यक्तिगत वेतन का निर्धारण होता था और सवार से यह पता चलता था कि *मनसबदारों* को कितने बड़े सैन्यदल (घोड़े, घुड़सवार और साधन) के रख-रखाव की ज़रूरत थी।

तालुकदार : *ज़मींदार* के स्थान पर प्रयुक्त होने वाला शब्द। यह शब्द सत्रहवीं शताब्दी

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 17 24-03-2021 11:47:17

के अन्तिम वर्षों में प्रयोग में आया।

ज़मींदार : वंशानुगत रूप से उच्च अधिकारों का धारक। *ज़मींदार* को एकत्रित किए कुल राजस्व के हिस्से पर अधिकार प्राप्त था। साधारणतया उसे कुल एकत्रित कर का 10 प्रतिशत (हालांकि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में यह 25 प्रतिशत तक था) मिलता था। जब *ज़मींदार* प्रशासन के लिए राजस्व एकत्रित करता था तो उसे *नानकर* कहा जाता था और जब प्रशासन उसे बीच में न लाकर सीधा कर एकत्र करता था तो *मालिकाना* पर अधिकार होता था।

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) भाग 1.2 देखें।

2) भाग 1.2 देखें।

बोध प्रश्न-2

1) भाग 1.4 देखें।

2) भाग 1.5 देखें।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 18 24-03-2021 11:47:17

इकाई 2 स्वतंत्र राज्यों का आविर्भाव

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मैसूर का उत्थान

2.3 मैसूर में युद्ध और सैन्यीकरण की भूमिका

2.3.1 स्थानीय सरदार

2.3.2 अठारहवीं शताब्दी के प्रयास

2.4 मैसूर का प्रशासन

2.5 मैसूर के वित्तीय संसाधन

2.5.1 भूमि से प्राप्त राजस्व

2.5.2 व्यापार से प्राप्त राजस्व

2.6 हैदराबाद एक स्वतंत्र राज्य के रूप में

2.6.1 युद्ध और सेना

2.7 भू-राजस्व प्रणाली

2.8. संरक्षक और उनके आश्रित

2.8.1 वकील

2.9 स्थानीय सरदार

2.10 वित्तीय और सैन्य समूह

2.11 प्रशासनिक प्रणाली

2.12 सिख धर्म : धार्मिकता से राजनैतिक पहचान तक

2.13 सिख राज्य का उदय

2.14 सिख राजनीतिक व्यवस्था का चरित्र

2.15 सारांश

2.16 शब्दावली

2.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित को समझ पाएंगेः

- मुगल सत्ता के पतन के बाद क्षेत्रीय शक्तियों का उदय,
- आप उस प्रक्रिया को समझने में सक्षम होंगे जिसमें मैसूर और हैदराबाद का अठारहवीं सदी में राजनीतिक गठन हुआ,
- यह दिखाना कि यह प्रक्रिया कैसे दो क्षेत्रों में भिन्न थी और उन कारणों को समझना कि दोनों प्रक्रिया क्यों अलग-अलग थी,
- सिख शासन की स्थापना से पहले पंजाब में राजनीतिक व्यवस्था का विकास,
- सिख धार्मिक व्यवस्था का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में परिवर्तन, और
- वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से सिख राज्य का उदय हुआ।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 19 24-03-2021 11:47:17

2.1 प्रस्तावना

मुगलों के पतन के बाद क्षेत्रीय शक्तियों का उदय संभवतः सबसे महत्वपूर्ण विकास था। इस प्रक्रिया को तीन प्रकार के राज्यों के समूह के रूप में समझा जा सकता है। हैदराबाद, अवध और बंगाल, उत्तराधिकारी राज्य मुगल साम्राज्य के तत्कालीन प्रांत थे, जो टूट कर स्वतंत्र राज्य बने। 'नए राज्य', मराठा, सिख, जाट और अफगानों द्वारा बनाए गए। इनमें से कुछ राज्यों के निर्माण में शाही माँगों के खिलाफ लोकप्रिय किसान आंदोलनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। तीसरी श्रेणी मैसूर, राजपूत और केरल के स्वतंत्र राज्यों की थी। जिन प्रांतों में मुगल के गवर्नर स्वतंत्र राज्य स्थापित करते हैं वहाँ दिल्ली से संबंध विच्छेद तीन चरणों में होता हैः व्यक्तियों के विद्रोह के बाद सामाजिक समूहों का विद्रोह, समुदायों का विद्रोह और अंत में क्षेत्रों का विद्रोह। शाही राजस्व की माँगों के खिलाफ जमींदारों के विद्रोह से विघटन हुआ। गवर्नरों (सूबेदारों) को केन्द्र का समर्थन नहीं मिला और उन्होंने स्थानीय संभ्रांत लोगों का समर्थन हासिल करने की कोशिश की। क्षेत्रीय राज्यों का दूसरा समूह 'नए राज्यों' और 'विद्रोही राज्यों' का था जैसे मुगल के खिलाफ विद्रोह करने वालों मराठा, सिख, जाट आदि का। पहले तीन किसान विद्रोहों के रूप में लोकप्रिय आंदोलनों के रूप में शुरू हुए थे। इनमें नेतृत्व आभिजात्य वर्ग का नहीं था बल्कि नए लोगों का जो अक्सर निम्न तबकों से आए थे।

हमारा खास ध्यान मैसूर और हैदराबाद के राज्यों के उदय पर केन्द्रित होगा। हम यहाँ देखेंगे कि पहले की राजनीतिक संस्थाओं के बने रहने के बावजूद गठित होने वाले राज्यतंत्रों में कुछ बुनियादी बदलाव हुए। मैसूर और हैदराबाद में ऐसा कई तरीकों से हुआ। जब हैदराबाद में मुगल राजनीतिक संस्थाएँ कमजोर पड़ गयीं और उनका इस्तेमाल क्षेत्र की स्थिति को मजबूत करने के लिए होने लगा तो दूसरी तरफ मैसूर में वोडयार वंश को उखाड़ फेंका गया और उसकी जगह एक मजबूत और सुदृढ़ प्रशासन का गठन हुआ। शुरुआत में इन दोनों की प्रक्रियाओं ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य दशकों में स्वायत्तता की स्थिति को जन्म दिया।

2.2 मैसूर का उत्थान

मैसूर राज्य हैदराबाद के दक्षिण में था। अठारहवीं शताब्दी में, वोडयार से लेकर टीपू सुल्तान तक, मैसूर के सभी शासकों को एक ओर तो मराठों के विस्तारवाद की चुनौती का सामना करना पड़ा तो दूसरी ओर हैदराबाद और कर्नाटक के विस्तारवाद की चुनौती से निपटना पड़ा और अंग्रेजों ने इस स्थिति का फायदा उठाया। अठारहवीं शताब्दी की जो जानी-मानी हस्तियाँ थी, उनमें एक टीपू सुल्तान था, जो अंग्रेजों की बढ़ती ताकत से टक्कर लेने वाला एक लोक नायक बन गया और अंग्रेज उसे सत्ता हथियाने की राह का कांटा मानते थे। मैसूर को विजय नगर साम्राज्य की वायसरायी से बदल कर वोडयार वंश ने उसे एक स्वायत्तशासी राज्य बना दिया। अब मैसूर को दक्षिण भारत में एक बड़ी ताकत के रूप में स्थापित करने का उत्तरदायित्व हैदरअली और उसके बेटे टीपू सुल्तान पर था। हैदर मामूली खानदान से था और उसके समय के उसके विरोधी अंग्रेज उसे अक्सर अनाधिकार ग्राही (या, हड़प लेने वाला) कहते थे – इस बात का असर बाद के इतिहासकारों में भी देखने को मिलता है। लेकिन वह उसी मायने में अनाधिकार ग्राही था जिस मायने में मैसूर का वह प्रधान मंत्री या दलवई अनाधिकार ग्राही था, जिसकी जगह हैदर आया था। दलवई ने नामधारी वोडयार राजा का वजूद ही शून्य कर दिया था और अपने पहले के दलवई, नंजराज की तरह हैदर ने भी राज्य की सेवा करने वाले एक कर्मचारी की हैसियत से शुरुआत की थी। उसने सेना को मजबूत करने, बेलगाम स्थानीय सरदारों या पोलीगरों को काबू में करने और बेदनोव, सुंडा, सेवा, कनारा और गुटी को अधीन करने में अपनी सैन्य प्रतिभा दिखायी। उसकी जीत का सबसे महान क्षण वह था, जब उसने अंग्रेजी सेनाओं को मद्रास के अंदर पाँच मील तक खदेड़ कर 1769 में उन्हें संधि के लिए मजबूर कर दिया। इस इकाई में हम यह अध्ययन करेंगे कि मैसूर एक बड़ी क्षेत्रीय ताकत के रूप में कैसे मजबूत और स्थापित हुआ।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 20 24-03-2021 11:47:17

2.3 मैसूर में युद्ध और सैन्यीकरण की भूमिका

युद्ध और उसके साथ सैन्यीकरण की अहमियत मैसूर के इतिहास में और भी पहले से दिखायी देती है। इतिहासकार स्टाइन के अनुसार, सैन्यीकरण की परंपरा ऐतिहासिक विजयनगर साम्राज्य में सोलहवीं शताब्दी से देखी जा सकती है। दक्षिण भारत में सबसे पहले विजयनगर ने ही स्थानीय राजाओं और दूसरी बाहरी ताकतों पर अपना कब्जा कायम करने की गरज से आग्नेयास्त्रों (बंदूक, पिस्तौल जैसे हथियारों) का इस्तेमाल किया था।

2.3.1 स्थानीय सरदार

यह समझने के लिए कि मैसूर में बहुत पहले सैन्यीकरण क्यों जरूरी हो गया था, स्थानीय सरदारों की भूमिका को समझना अहमियत रखता है। स्थानीय सरदार, खास तौर पर, पोलीगर, जंगलों के शिकारी संग्रहकर्ता समूहों के वंशज थे, जिन्होंने सैन्य कौशल हासिल कर लिया था और विजयनगर साम्राज्य की सैनिक सेवा में स्थानीय राजनीतिक नेतृत्व की सीख भी ली थी। अठारहवीं शताब्दी आते-आते उनमें से अधिकांश ने दो मुख्य माध्यमों से ताकत हासिल कर ली थी – (क) राजस्व का कब्जा और अपनी भूमियों पर खेती से मिलने वाला अंशदान, और (ख) उनके अपने संप्रदाय के मंदिरों के पुरोहितों का समर्थन। इसके अलावा इस तथ्य ने भी इस दिशा में काम किया कि मंदिर व्यापार के केंद्र भी थे और उन्होंने स्थानीय सरदारों को ताकत हथियाने में मदद की, जिससे वे मैसूर के किसी भी केन्द्रीयकृत राज्य के विकास को प्रभावित कर सकें। इसका यह भी अर्थ हुआ कि मैसूर और पोलीगरों के बीच ताकत और सैनिक बल का टकराव मैसूर में किसी राजतंत्र को स्थापित करने में निर्णायक कारक होता।

2.3.2 अठारहवीं शताब्दी के प्रयास

इस टकराव की शुरुआत अठारहवीं शताब्दी में चिक्कदेव राजा वोडयार (1672-1704) ने की। उसके अधीन मैसूर अभूतपूर्व सैन्यीकरण की ओर बढ़ा। इस बढ़ी सैनिक क्षमता को बनाये रखने के लिए उसने राज्य के अधिकारियों के द्वारा इकट्ठे किए जाने वाले आम राजस्व को बढ़ा दिया और उसके सैनिकों के पास जो भूमि थी उसे राजस्व करों से मुक्त कर दिया।

हैदरअली जो धीरे-धीरे मैसूर प्रशासन की सीढ़ियाँ चढ़ता ऊपर तक जा पहुँचा था, उसने अपने आपको ठीक इसी तरीके से मजबूत किया। उसने भूमि के बड़े हिस्सों को महत्वाकांक्षी योद्धाओं के हाथों नीलाम कर दिया, जिन्होंने राजस्व किसानों की हैसियत से स्थानीय सरदारों पर राजस्व लाद दिया। हैदरअली ने इन सरदारों का स्वाधीनता का कोई दावा नहीं माना और अगर किसी ने विरोध करने की कोशिश की तो उसे उसकी भूमि से ही खदेड़ दिया। इन सरदारों की गतिविधियों के क्षेत्र को सीमित करके हैदर ने फिर उनके स्थानीय प्रभुत्व को तोड़ा। उसका बेटा, टीपू सुल्तान पोलीगारों को अधीन बनाने में और भी आगे बढ़ा। उन्हें निकाल देने के बाद उसने उनकी भूमि को या तो निजी क्षेत्र के व्यक्तियों को या फिर सरकारी अधिकारियों को किराये पर उठा दिया। इसके अलावा, टीपू सुल्तान ने अपने सैनिकों को युद्ध की लूट में हिस्सा देने की जगह उन्हें नियमित तनख्वाह देनी शुरू कर दी, जिससे यह तय हो गया कि सेना में स्थानीय सरदारों के साथ सांठ-गांठ वाला कोई स्वार्थी तत्व सर न उठा सके।

कुछ मायने में हैदर और टीपू ने सेना के संगठन की कुछ कमजोरियों को भी खत्म करने की कोशिश की। उन्होंने संगठन में यूरोपीय ढंग से अनुशासन को और मजबूत बनाने की कोशिश की।

इसके लिए उन्होंने फ्रांसीसी सैनिकों की भर्ती की और उनसे सैनिकों को विशेष प्रशिक्षण देने का काम लिया। हमारे पास हैदर के अधीन फ्रांसीसी सेनापति द ला तूर की सेवा का ब्योरा उपलब्ध है, जिससे पता चलता है कि 1761 तक मैसूर सेना में फ्रांसीसी लोगों की गिनती काफी बढ़ गयी थी। इससे पैदल सेना और तोपचियों के प्रशिक्षण में मदद मिली होगी। दूसरी बात यह है कि, इससे आधुनिक यूरोपीय आग्नेयास्त्रों और तोपों के उपयोग

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 21 24-03-2021 11:47:17

के लिए एक माहौल भी तैयार हुआ। उपर्युक्त विचार इतिहासकार संजय सुब्रहमण्यम का है, जिन्होंने वोडयार मैसूर के युद्ध का विशेष अध्ययन किया है।

2.4 मैसूर का प्रशासन

हैदर और बाद में टीपू की एक और उपलब्धि थी प्रशासन के ढाँचे को मजबूती प्रदान करना। असल में हैदर और टीपू के वोडयारों के पुराने प्रशासन के साथ छेड़छाड़ नहीं की। उन्होंने सेना और राजस्व से लेकर सूचना तक प्रशासन के 18 विभागों को बनाए रखा। अपनी क्षमता दिखाने वाले खांडे राव, वेंकटप्पा या मीर सादिक जैसे सर्वोच्च अधिकारियों को राजनीतिक खींचतान के बावजूद साथ रखा गया। असल में रद्दोबदल उसी समय की गयी जब ऐसे बड़े अधिकारी पैसों की गड़बड़ी में पकड़े गए। ब्रिटिश प्रशासक टामस मुनरो का यह मत था कि हिंदू या मुसलमान देशी शासक के अधीन व्यक्तिगत दौलत और महत्वाकांक्षा पाने की जो गुंजाइश थी उसे देखते हुए ही समाज के कुलीन वर्गों ने कंपनी की सेवा के ''विनम्र मामूलीपन'' की जगह, देशी शासकों के साथ जुड़ना पसंद किया।

2.5 मैसूर के वित्तीय संसाधन

बहरहाल, हैदर और टीपू के अधीन मैसूर प्रशासन की खास बात थी राज्य चलाने के लिए अपने वित्तीय संसाधनों में बढ़ोत्तरी करके अपने सैन्य राजनीतिक अधिकार का आधार तैयार करना। इसके लिए, अठारहवीं शताब्दी के मैसूर के वित्त और उत्पादन के दो संचालकों– व्यापारी और किसान दोनों को संभालना था।

2.5.1 भूमि से प्राप्त राजस्व

भूमि को अलग-अलग वर्गों में बाँटा हुआ था और हर वर्ग की भूमि के मूल्यांकन का तरीका भी अलग था। इजारा भूमि को तय किरायों पर किसानों को पट्टे पर दिया जाता था। हिस्सा भूमि पर किराया उत्पादन में हिस्से के तौर पर देना होता था। इसके अलावा सिंचित भूमि का किराया उत्पादन में हिस्से के तौर पर देना होता था और सूखी भूमि का किराया पैसों में चुकाना होता था।

भूमि को सर्वेक्षण और नियंत्रण प्रणाली के तहत रखा जाता था और खेत जोतने वालों को काफी राहत और सुरक्षा देकर उनका हौसला बढ़ाया जाता था। राज्य नियंत्रण की एक मजबूत प्रणाली बनायी गयी थी, जिसमें *अमलदार* तो राजस्व प्रशासन को नियंत्रित करते थे और *आसफदार* किराए संबंधी झगड़ों के कानूनी बिंदुओं की देखभाल करते थे। बिचौलियों को खत्म करके राज्य के लिए अधिक से अधिक राजस्व बनाने के लिए राज्य के हितों और किसानों के हितों के बीच एक सीधा सूत्र बनाया गया। टीपू ने राजस्व किसानों से किसानों की रक्षा करने के लिए खास सरकारी अधिकारियों को खेती के अधिकार न देने जैसे कई उपाय किए।

टीपू की भूमि राजस्व नीति में खेती को विकास की सुविधाएँ देने के लिए व्यक्तियों को खेती करने के लिए पूरी स्वतंत्र व्यक्तिगत पहल देने का प्रावधान था। ऐसे व्यक्तियों को सिंचाई तथा अन्य संबंधित कार्यों के लिए जमीन मुफ्त में दी गई। इस तरह लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया गया जो खेती के विकास को स्वतंत्र रूप से सहारा दे सकें।

परन्तु इन उपायों से अलग पड़ी भूमि को जोतने और एक खास परिवार को हमेशा के लिए जागीर दे देने वाली, जागीर प्रणाली के कारण सफलता नहीं मिली। दूसरी ओर खेती के उत्पादन में पूरे गाँव की साझेदारी होने की प्रथा थी। जैसा कि इतिहासकार निखिलेश गुहा बताते हैं, इस प्रथा के कारण उत्पादन का बड़ा हिस्सा वर्चस्व रखने वाली या ऊँची जातियों को चला जाता था, जो अधिकतर कर्मकांड करते थे। इस तरह, ऐसा कोई तरीका नहीं था जिससे कि अतिरिक्त उत्पादन का इस्तेमाल खेतिहर समुदाय में विकास का काम शुरू करने के लिए किया जा सके। परिणामस्वरूप खेतिहर के पास इतने संसाधन नहीं बच पाते थे कि खेती का विकास हो सके।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 22 24-03-2021 11:47:17

सबसे अधिक, राज्य युद्ध को प्राथमिकता देता था। सुलतानों का खास ध्यान मराठों, हैदराबाद कर्नाटक और अंग्रेजों पर था। इसके कारण सैन्य खर्चा बेतहाशा बढ़ गया और उसके परिणामस्वरूप राजस्व की माँग बढ़ गयी। उदाहरण के लिए, टीपू ने अपनी हार के समय भूमि राजस्व में 30 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी की थी। इस तरह खेती के किसी स्थायी विकास की संभावना नहीं थी और खेतिहर को और अधिक पैसा देने को मजबूर करना इस स्थिति का ऐसा परिणाम था जिसे टाला नहीं जा सकता था।

2.5.2 व्यापार से प्राप्त राजस्व

व्यापारी लोग लगभग पिछली दो शताब्दियों से मैसूर की अर्थव्यवस्था में एक अहम् भूमिका निभा रहे थे। इनमें से अहम् व्यापारियों ने अंदरूनी, बाहरी व्यापार और राजस्व खेती को एक दूसरे से जोड़ व्यापार और भूमि के इन विविध निवेशों का एक विभाग हथियाया हुआ था। राजनीतिक कार्यवाही के स्तर पर वे अक्सर सत्ताधारी शासकों के बीच अपने हितों की रक्षा करवाने के लिए मौजूद प्रथा और पारंपरिक संबंधों का इस्तेमाल करते थे। भूमि में उनका दखल काफी महत्वपूर्ण था। जैसा कि संजय सुब्रमण्यम बताते हैं, उनमें से कुछ के बड़े राजस्व किसान होने के बावजूद उनके अधीन खेती वाले इलाके में संपन्नता ही आयी, गिरावट नहीं। इससे पता चलता है कि वे भूमि को कितना महत्व देते थे और व्यापार के लाभों का भूमि में थोड़ा-थोड़ा करके आना कितना अहम् था। इस तरह संपन्न व्यापारियों की मैसूर की अर्थव्यवस्था में अहम भूमिका थी।

टीपू ने इन व्यापारियों और उनके व्यापार की अहमियत को समझा। उसने ''असुफों'' को नियुक्त किया कि वे अधिकारियों को प्रशिक्षित करें, जिससे कि वे व्यापार को काबू में रखने के लिए टीपू के द्वारा स्थापित व्यापार केंद्रों को चला सकें।

राज्य के अधिकारियों के जमा किए हुए राजस्व से इन व्यापार केन्द्रों के लिए व्यापार पूँजी उपलब्ध करानी होती थी। ऐसी व्यवस्था की गयी थी कि व्यक्ति निजी हैसियत में राज्य के व्यापार में पूँजी लगाने के लिए पैसा जमा करें जिस पर उन्हें 35 प्रतिशत का लाभ दिया जाता था। निजी व्यापारियों को यह छूट थी कि वे यहाँ आवश्यक वस्तुओं की बिक्री में हिस्सा लें, इसे राज्य के लिए फायदेमंद समझा जाता था। इन केंद्रों के हिसाब-किताब की नियमित जाँच होती थी। इसके अलावा, मुद्रा के नियमन का कठोरता से पालन होता था।

बहरहाल, ऐसा लगता है कि निजी व्यापारियों की गतिविधियों के विस्तार, या अंग्रेजों के संदर्भ में समुद्री व्यापार पर वर्चस्व को एक संभावी खतरे के रूप में देखा जाता था, ऐसा शायद देसी व्यापारियों और अंग्रेजों के बीच गठबंधन के रूप में था। 1785 में उसने अपने बंदरगाहों से काली मिर्च, चंदन और इलायची के निर्यात पर पांबदी लगा दी। 1788 में उसने अंग्रेजों के साथ व्यापार करने की साफ मनाही कर दी।

संक्षेप में, अठारहवीं शताब्दी में मैसूर एक ऐसा राज्यतंत्र था जो हैदर और टीपू की सैनिक ताकत के द्वारा मजबूत तो हुआ लेकिन उन पर इस बात का लगातार दबाव रहा कि वे सैन्य शक्ति के कारण काबू में आयी ताकतों का कोई स्थायी हल निकालने में समर्थ नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप हमने देखा कि राज्यतंत्र के भीतर के व्यक्तियों में खुद राज्यतंत्र की कीमत पर अपना निजी फायदा करने की कैसी संभावनाएँ बनीं।

बोध प्रश्न-1

सही उत्तर पर निशान लगाएँ।

1) टीपू के अधीन स्थानीय सरदार–
   - क) खुलेआम अपने अधिकारों का इस्तेमाल कर रहे थे।
   - ख) पूरी तरह से काबू में रखे जाते थे।
   - ग) कभी रहे ही नहीं।
   - घ) (क) और (ग) दोनों।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 23 24-03-2021 11:47:17

2) युद्ध–

क) मैसूर राज्यतंत्र की कार्यसूची से पूरी तरह से गायब था।

ख) मैसूर राज्यतंत्र स्थापित करने की तरकीबों का एक अहम् हिस्सा था।

ग) अठारहवीं शताब्दी में मैसूर राज्य और स्थानीय सरदारों के बीच शक्ति संतुलन को निर्धारित करता था।

घ) (ख) और (ग) दोनों।

3) टीपू के अधीन भू-राजस्व–

क) मुख्य तौर पर राजस्व किसानों के माध्यम से इकट्ठा किया जाता था।

ख) मुख्य तौर पर टीपू द्वारा नियुक्त सरकारी अधिकारी इकट्ठा करते थे।

ग) बिचौलिए इकट्ठा करते थे।

घ) सुल्तान के हाथों में नहीं जाने दिया जाता था।

4) मैसूर में व्यापारियों के लाभ–

क) कृषि विकास में लगाए जाते थे।

ख) कृषि में कभी नहीं आते थे।

ग) मुख्य तौर पर उद्योग में लगा दिए जाते थे।

घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

2.6 हैदराबाद एक स्वतंत्र राज्य के रूप में

ऐसा लगता है कि हैदराबाद के राज्यतंत्र ने मैसूर के राज्यतंत्र से अलग किस्म के ढाँचे को अपनाया। यहाँ शुरू के दिनों में मुगल प्रभाव कहीं अधिक मुखर था। आमतौर पर मुगल साम्राज्य के दिनों में दक्कन के सूबेदार को हैदराबाद में नियुक्त किया जाता था। यहाँ पर मुगल प्रशासन प्रणाली को लागू करने का प्रयास किया गया। लगातार मुगल मराठा टकराव और अंदरूनी तनाव के बावजूद इस प्रणाली ने दक्कन में मुगल साम्राज्य की व्यवस्था को मुखर किया। परंतु मुगल साम्राज्य के पतन के परिणामस्वरूप यह प्रणाली संकट में पड़ गयी थी।

निजाम आसफ जाह को मुगल सम्राट ने 1713 में पहले सूबेदार (प्रांत का प्रभारी) बनाया। लेकिन 1724 में अपने प्रतिद्वंद्वी मुगल नियोक्ता पर सैन्य विजय के बाद ही उसके हाथ में दक्कन की बागडोर असरदार ढंग से आ सकी। इस दौर के बाद वह दक्कन में ही बना रहा और अपने नियुक्त किए हुए प्रभारी को यहाँ छोड़कर ही वह मुगल दरबार में गया। उसके बाद उसने हैदराबाद से मुगल अधिकारियों को हटा दिया और उनकी जगह अपने आदमी बिठा दिए। उसने संधि करने, युद्ध करने और मंसब और खिताब देने के अधिकार भी अपने हाथ में ले लिए। अब धीरे-धीरे मुगल अधिकार कुतबा पढ़ने आदि तक ही सीमित रह गया। निजाम अली खाँ (1762-1803) के समय तक आते-आते कर्नाटक मराठे और मैसूर सभी ने अपने जमीन के दावों को सुलझा लिया था और हैदराबाद में एक किस्म का स्थिर राजनीतिक ढाँचा उभर आया था।

2.6.1 युद्ध और सेना

अन्य जगहों की तरह ही, हैदराबाद में उभरने वाले राज्यतंत्र का एक अहम् अंग सेना ही थी। निजामुल-मुल्क ने मौजूदा जागीरदारियों को बने रहने देने की नीति ही अपनायी। सेनापति और उनके सैनिक अपने निजी नियोक्ताओं, खासतौर पर सामंतों के जरिए राजनीतिक व्यवस्था से बंधे थे। यहाँ की स्थिति मैसूर से इस मायने में अलग थी कि यहाँ (हैदराबाद में) स्थानीय सरदारों के अधिकारों को ज्यों का त्यों बना रहने दिया गया। मुगल सेना की तरह, हैदराबाद की सेना का रख-रखाव भी निजाम के खजाने में सामंतों द्वारा लिए गए नकद भत्तों से किया जाता था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 24 24-03-2021 11:47:18

सेना की मराठा, कर्नाटक नवाब, मैसूर या अंग्रेजों को अंकुश में रखने में महत्वपूर्ण भूमिका थी। हालांकि ऐसा मैसूर में नहीं था, फिर भी हैदराबाद में राज्य के वित्त को सीधा-सीधा युद्ध में लगाने के लिए तैयार करने के प्रयास मैसूर के मुकाबले निश्चित रूप से कमजोर दिखायी देते हैं। आइए हम वित्त के मुख्य साधन – भूमि राजस्व प्रणाली की ओर ध्यान दें और देखें कि क्या राज्य के लिए राजस्व इकट्ठा करने में सचमुच फर्क था।

2.7 भू-राजस्व प्रणाली

हैदराबाद की भू-राजस्व प्रणाली मैसूर की भू-राजस्व प्रणाली से इस मायने में फर्क थी कि टीपू और हैदर ने तो राजस्व पर एक बड़ी नौकरशाही के जरिए सीधे काबू करने की कोशिश की थी, लेकिन हैदराबाद के शासकों ने यह काम बिचौलियों को करने दिया।

इतिहासकार एम. ए. नईम ने इजारा या राजस्व खेती भूमि के वजूद की बात कही है। दूसरे, तमाम ऐसे पेशकश जमींदार थे, जिनकी भूमि का सरकारी तौर पर आकलन नहीं होता था लेकिन उन्हें अपने ही आकलन खातों के हिसाब से एक सालाना अंशदान या ''पेशकश'' देनी होती थी। तीसरे, नईम के अनुसार, जहाँ जमींदारों और देशपांडे (गाँव प्रधानों) को राज्य के आकलन के आधार पर भू-राजस्व देना होता था, वहाँ भी उनकी सहमति ली जाती थी।

राजस्व के लिए यह तो समझा जाता था कि वह उत्पादन का 50 प्रतिशत होना चाहिए, लेकिन ऐसा बहुत कम ही होता था कि इस अनुपात में राजस्व इकट्ठा हो। राज्य और भू-राजस्व दाताओं के बीच बिचौलियों का महत्व इस तथ्य से पता चलता है कि राज्य की इकट्ठा हुई रकम या ''जमाबंदी'' जमींदार की सहमति से तय हुई आकलन की रकम, या ''कामिल'' से हमेशा कम होती थी। जैसा कि नईम ने लिखा है, इन दोनों, कामिल और जमा के बीच का फर्क जमींदार का हिस्सा होता था। निजाम काल के राजस्व संबंधी दस्तावेजों से ''हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वास्तविक राजस्व में भी गिरावट आयी''।

हैदराबाद में जागीरें या राज्य की सेवा के लिए मिलने वाली भूमि पुश्तैनी होती थी। मैसूर में तो इस पर रोक लगाने की कोशिश हुई, लेकिन हैदराबाद में इसके लिए कोई गंभीर उपाय किए गए नहीं लगते। यही नहीं, जागीरदार पुश्तैनी विरासत का फायदा उठाते हुए इतने मजबूत हो गए कि वास्तविक राजस्व में गिरावट आने के संदर्भ में भी इस बात का कोई सवाल नहीं उठता कि जागीरदारों को जो रकम सचमुच मिलनी चाहिए, उनकी जागीरों से उन्हें मिलने वाले राजस्व उससे कम हो।

हैदराबाद के भू-राजस्व प्रशासन में अमिल (प्रांतीय प्रधानों) के नीचे अधिकारी होते थे। नियमित आकलन और सर्वेक्षण के उपाय किए जाते थे। खेती करने वालों का राज्य की कर्ज और मोहलत की नीति के जरिए हौसला बढ़ाया जाता था।

मगर ये सभी संभावनाएँ बिचौलियों की ताकत और अहमियत ने खत्म कर दी। हमने ऊपर देखा कि उनकी भूमि का राजस्व के आकलन और जमा करने में निर्णायक थीं।

इसका निजामों के अधीन हैदराबाद के राज्यतंत्र के बनने पर महत्वपूर्ण असर पड़ना था लगता है कि वहाँ बिचौलिए स्वार्थों का एक ऐसा तंत्र (नेटवर्क) मौजूद था जो सर्वोच्च स्तर पर ताकत और असर के लिए चलने वाली होड़ के लिए राजनीतिक आधार बन सकता था।

2.8 संरक्षक और उनके आश्रित

इतिहासकार कैरेन लियोनार्ड हैदराबाद की राजनीतिक व्यवस्था में शिथिल ''संरक्षक-आश्रित संबंध'' की बात बताती है। वह मुख्य संरक्षक निजाम और शक्तिशाली सामंतों को बताती है। निजाम तो अपनी पकड़ बनाए रखते थे, जबकि उनके इर्द-गिर्द सामंतों का घेरा समय-समय पर बदलता रहता था। निजाम के काल में सांमतों को अपने काम में आगे बढ़ने के लिए कोई एक-सा मानदंड नहीं था, जैसा कि मुगलों के अधीन होता था। निजाम के साथ व्यक्तिगत संबंध या सैनिक कौशलों को अहमियत मिल रही थी। इसलिए हैदराबाद में

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 25 24-03-2021 11:47:18

शक्तिशाली बनने के लिए मंसबों ने (जैसा कि मुगलों की व्यवस्था में था) सामंतों के उदय को नहीं रोका। बहुत से ऐसे जमींदार या जागीरदार जो अपने पीछे छोटे बिचौलियों को लेकर चल सकते थे, थोड़े से सैनिक कौशल और कूटनीति के बल पर शक्तिशाली हो गए।

इससे पहले मुगलों के औपचारिक भू-राजस्व नियमों और व्यवस्थित प्रशासनिक स्तरीकरण के कारण शक्ति और दौलत बनाने की गुंजाइश सीमित ही रही। लेकिन अब संस्था का ढाँचा इतना कमजोर था कि शीर्ष पर राजनीतिक दावों को सीधे-सीधे हथियाया जा सकता था।

2.8.1 वकील

शक्ति और दौलत हथियाने की इस प्रक्रिया को ''वकील'' कहलाने वाले बिचौलियों का एक और तंत्र मदद पहुँचा रहा था। ये ''वकील'' निजाम और सामंतों के बीच, सामंतों और सामंतों के बीच, और निजाम और बाहरी ताकतों के बीच दलालों का काम करते थे। वकील हैदराबादी सामंतों द्वारा संचालित विशाल और पैसे वाली संस्थाओं में व्यक्तियों के लिए सुअवसरों की भी व्यवस्था करते थे।

ये वकील आमतौर पर व्यक्तियों के स्वार्थों के आधार पर काम करते थे और वहीं तक शक्तिशाली थे जहाँ तक उनके संरक्षक शक्तिशाली थे। इसी के साथ, व्यक्तिगत लाभ के लिए निष्ठा तथा संरक्षण बदल लेना आम बात थी। उस माहौल में जहाँ काम को आगे बढ़ाने के लिए कोई एक-सा मापदंड नहीं था, ये वकील शक्ति और दौलत के लिए चलने वाली होड़ में व्यक्तिगत लाभ के लिए कार्य करने वाली शक्तियों के प्रतिनिधि थे।

2.9 स्थानीय सरदार

मैसूर की स्थिति के विपरीत, निजाम के अधीन स्थानीय सरदारों ने निजाम को अंशदान देने के बाद अपनी पुश्तैनी भूमि पर कब्जा जारी रखा। उन्होंने निजामों और उसके सामंतों जैसे संरक्षकों की भूमिका तो निभायी, लेकिन उन्हें हैदराबाद की राजनीतिक व्यवस्था में कभी पूरे तौर पर मिलाया नहीं गया। न ही उनके वकीलों ने दूसरे शासकों के साथ संबंध बनाए रखे। स्थानीय सरदारों ने हैदराबाद दरबार की जीवन शैली को भी नहीं अपनाया और दरबार की राजनीतिक के दायरे से बाहर रहने में ही संतुष्ट रहे। लेकिन जब हैदराबाद दरबार कमजोर हो गया उस समय वे अपनी व्यक्तिगत क्षमता में निर्णायक कारक बने रहे।

2.10 वित्तीय और सैन्य समूह

साहूकारों, महाजनों और सेनापतियों (आमतौर पर भाड़े के) ने हैदराबाद की राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे प्रमुख भूमिका निभाते थे क्योंकि वे आवश्यक वित्तीय और सैन्य सेवा प्रदान करते थे। उनकी शक्ति का स्रोत उनका सम्प्रदाय था और वकीलों के विपरीत वे जाति अथवा सम्प्रदाय के समूहों की तरह काम करते थे। वित्तीय समूहों में कुछ मुख्य सम्प्रदाय या जाति समूह अग्रवाल और मारवाड़ी थे, जबकि अफगान और अरब प्रमुख सैनिक समूह थे। समर्थन और सेवाएँ वापस लेने की धमकी देकर ये व्यक्ति और समूह अपने स्तर पर राज्यतंत्र के संतुलन में एक अहम् भूमिका निभाने की स्थिति में थे।

2.11 प्रशासनिक प्रणाली

प्रशासनिक प्रणाली हैदराबाद राज्यतंत्र के दूसरे पहलुओं की प्रवृत्ति का अनुसरण करती दिखती है। पहले की मुगल संस्थाएँ प्रकट में व्यक्तियों को लाभ कमाने की छूट देने की प्रक्रिया में लगी रहीं, लेकिन अब उन्होंने निहित स्वार्थों को मज़बूत करने की भी छूट दे दी। सबसे अच्छा उदाहरण, दीवान के पद का है जो राज्य के अधिकतर रोज़मर्रा के मामलों को चलाता था। यहाँ दीवान की जगह दफ्तरदार का मातहत पुश्तैनी पद कहीं अधिक अहम् हो गया। राजस्व जैसे मामलों को चलाने के लिए वेतनभोगी अधिकारियों के न होने की स्थिति में, ये दीवान स्थानीय देशपांडे या तालुकदार के द्वारा रकम निश्चित करके और

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 26 24-03-2021 11:47:18

उसे खाते में दर्ज करके, सही नियंत्रण कर पाने में समर्थ थे। इस तरह से उन्हें काफी दौलत बना लेने का मौका भी मिल जाता था।

बोध प्रश्न-2

सही उत्तर पर निशान लगाएँ।

1) हैदराबाद में इकट्ठा होने वाले राजस्व की रकम–
   - क) का फैसला दीवान करता था।
   - ख) का फैसला निजाम करता था।
   - ग) का फैसला देशपांडे या स्थानीय बिचौलियों की सहमति से दफ्तरदार करते थे।

2) हैदराबाद के वकील–
   - क) प्रमुख व्यापारी थे।
   - ख) प्रमुख सैनिक थे।
   - ग) प्रमुख कलाकार थे।
   - घ) बुनियादी तौर पर ताकत और प्रभाव के विभिन्न केन्द्रों के बीच के दलाल थे।

3) हैदराबाद के निज़ाम का शासन 1724 के बाद–
   - क) पूरे तौर पर मुगलों के अधीन था।
   - ख) केवल नाम के लिए मुगलों के अधीन था।
   - ग) पूरे तौर पर फ्रांसीसियों के अधीन था।
   - घ) पूरे तौर पर पुर्तगालियों के अधीन था।

4) हैदराबाद में स्थानीय सरदार–
   - क) पूरी तरह से निज़ाम के अधीन थे।
   - ख) अपनी-अपनी जगह शासक रहे।
   - ग) कभी रहे ही नहीं।
   - घ) ख) और ग) दोनों।

2.12 सिख धर्म : धार्मिकता से राजनैतिक पहचान तक

पंद्रहवीं तथा सोलहवीं सदियों में धार्मिक आंदोलनों की श्रृंखलाओं ने भारतीय धार्मिक विश्वासों को पुनः जागृत किया। इन्हीं आंदोलनों के गर्भ से पंजाब में सिख धर्म का उदय हुआ। इस नए उदित होते संप्रदाय के संस्थापक गुरु नानक थे, जिन्होंने अपने अनुयायियों को सिख नाम दिया जिसका साहित्यिक अर्थ है, सिखने वाला या अनुशासित। कुछ ही समय में इस नए धर्म का प्रसार होने लगा, लोगों के लिए सिख नाम एक व्यापक अर्थ वाला हो गया, किसी जाति का प्रतीक न होकर एक धर्म बन गया। गुरु नानक का धार्मिक आंदोलन शांतिपूर्वक, व्यापक था और इसका लक्ष्य धर्म निरपेक्ष जीवन के साथ एकता स्थापित करना था।

गुरु नानक के बाद अन्य नौ गुरु हुए जिन्होंने 200 वर्षों में न केवल सिख धर्म को संगठित तथा शक्तिशाली किया बल्कि मुगल सम्राटों तथा उनके सूबेदारों की चुनौतियों का सामना करने के लिए शक्तिशाली लड़ाकू ताकत बना दिया। इन गुरुओं के सिख धर्म के विकास में योगदान इस प्रकार थे :

- गुरु आनन्द ने गुरुमुखी लिपि को विकसित किया,
- गुरु रामदास ने अमृतसर के मंदिर की आधारशिला रखी,

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 27 24-03-2021 11:47:18

- गुरु अर्जुन देव ने आदि ग्रंथि को संकलित किया,
- गुरु हरि गोविन्द ने सिखों को सैन्य कला एवं युद्ध नीतियों में प्रशिक्षित किया,
- गुरु गोविन्द सिख ने सिखों को खालसा संगठनात्मक केन्द्र बिन्दु के साथ एक भलीभाँति संगठित लड़ाकू ताकत के रूप में संगठित किया।

गुरु गोविन्द सिंह की मृत्यु के साथ गुरुओं की परंपरा का अंत हो गया और सिख धर्म का नेतृत्व उनके विश्वसनीय शिष्य बंदा बैरागी के हाथों में चला गया जिसकी लोकप्रियता बंदा बहादुर के नाम से हुई। बंदा बहादुर ने मुगल सेनाओं के विरुद्ध 8 वर्षों तक प्रबल संघर्ष किया। 1715 में उसको गिरफ्तार कर फांसी दे दी गई। बंदा की फांसी के बाद लगभग 10 वर्षों तक मुगल अधिकारियों ने सिख विद्रोहियों पर नियंत्रण करने के लिए अथक प्रयास किए। परन्तु उनका यह प्रयास सफल न हुआ। ऐसे बहुत से कारण थे जिनकी सहायता से सिखों ने स्वयं को पंजाब में सबसे शक्तिशाली राजनैतिक ताकत के रूप से संगठित एवं स्थापित किया। ये कारण निम्नलिखित थे :

- अठारहवीं सदी के प्रारंभिक दशकों से मुगल शाही प्रभुत्व का कमजोर पड़ना,
- नदिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण,
- मराठा आक्रमण,
- प्रांतीय प्रशासन में एकरूपता तथा एक सूत्र संपर्क का अभाव, और
- शाही सत्ता के प्रभुत्व की बहुत से स्थानीय सरदारों तथा जमींदारों के द्वारा अवमानना।

अठारहवीं सदी पंजाब में इन सभी कारणों से बड़ी अराजक स्थिति पैदा हो गई और इस स्थिति से सिखों का सबसे शक्तिशाली ताकत के रूप में उदय हुआ। अहमद शाह अब्दाली की मौत उत्तर भारत में अफगान साम्राज्य के आधिपत्य की मृत्युघण्टी साबित हुई। अफगान शक्ति के पतन के साथ ही सिख मसलों ने पंजाब में प्रमुख भूमिका प्राप्त कर ली और क्रमशः इनके सरदारों ने स्वतंत्र रियासतों को बनाने में सफलता प्राप्त की।

सिखों ने मुगल अधिकारियों के दमन का सामना करने के लिए स्वयं को बहुत से छोटे तथा अत्यंत गतिशील गुटों में संगठित किया। इन गुटों को जत्थे तथा इनके कमाण्डरों को जत्थेदार कहा जाता था। एकताबद्ध कार्यवाही की आवश्यकता को महसूस करते हुए जत्थेदारों ने एक संघ बनाने की कोशिश की और इसके लिए वे बैसाखी तथा दिवाली के त्योहारों के अवसरों पर एक समूह के रूप में मिलते थे। यद्यपि इन बैठकों को स्थायी तौर पर आयोजित न किया जा सका परन्तु इससे विभिन्न गुटों के बीच एकता को बढ़ावा मिला।

अफगानों के द्वारा मुगलों तथा मराठों की पराजय से लाभ उठाते हुए सिखों ने पंजाब में अपने आधार को और सुदृढ़ किया। 1765 के बाद से सिखों का राजनैतिक शक्ति के रूप में तेजी से विकास हुआ और जिसकी अंतिम परणिति उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में स्वतंत्र राज्य की स्थापना के रूप में हुई। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बहुत छोटे गुटों ने स्वयं को 12 क्षेत्रीय संघों या मिसलों में स्थानीय सरदारों के नेतृत्व में पुनः संगठित किया। इस प्रकार :

- भागी मिसल का नियंत्रण झेलम तथा सिंधु नदियों के बीच के क्षेत्रों लाहौर एवं अमृतसर पर था,
- रामगढ़ी मिसल का नियंत्रण जालंधर के दोआब पर था,
- कन्हैया का नियंत्रण रैकरी क्षेत्र पर,
- सिंहपुरियों का नियंत्रण सतलुज नदी के पूर्वी तथा पश्चिमी इलाकों पर,
- अहलूवालिया मिसल का नियंत्रण राजकोट तथा कपूरथला पर,
- सुकर चकिया का आधिपत्य गुजरनवाला, वजीराबाद पर, तथा
- फुलकिया का नियंत्रण मालवा तथा सिरहिन्द पर था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 28 24-03-2021 11:47:18

ये मिसलें अपने मूल रूप से समानता के सिद्धांत पर आधारित थी। मिसलों के मामलों के बारे में निर्णय करते समय प्रत्येक सदस्य को समान रूप से बोलने का अधिकार था और अपने-अपने संगठन के मुखिया तथा अन्य अधिकारियों को चुनने का भी अधिकार था। मिसल के प्रारंभिक चरण में उसकी एकता तथा लोकतांत्रिक चरित्र अफगान आक्रमण के खतरे के टल जाने के बाद धीरे-धीरे समाप्त हो गया। समय के इस घटना-चक्र में शक्तिशाली सरदारों के उदय तथा उनके आंतरिक कलह और उनकी विनाशकारी लड़ाइयों के कारण मिसलों का लोकतांत्रिक चरित्र भी समाप्त हो गया। इस आंतरिक संघर्ष ने मिसलों की जड़ ही खोद दी। अन्ततः सुकर चकिया मिसल के सरदार रणजीत सिंह का दूसरी मिसलों के सरदारों के बीच एक शक्तिशाली ताकत के रूप में उदय हुआ और उसने हथियारों की शक्ति के बल पर सिखों के बीच एकता स्थापित की।

2.13 सिख राज्य का उदय

पंजाब के राजनैतिक घटनाचक्र में नया मोड़ रणजीत सिंह के उदय के साथ आया। जिस प्रक्रिया का प्रारंभ अठारहवीं सदी में सिख क्षेत्रीय संगठन की स्थापना के साथ हुआ था उसकी चरम पराकाष्ठा उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पंजाब में रणजीत सिंह द्वारा स्थापित स्वायत्त राज्य की स्थापना के रूप में हुई। रणजीत सिंह सुकर चकिया मिसल के सरदार महान सिंह का पुत्र था। 1792 में जिस समय उसके पिता की मृत्यु हुई, उस समय वह केवल 12 वर्ष का था। उसे उत्तराधिकार में जो राज्य मिला था उसके अंतर्गत गुजरनवाला, वजीराबाद और सियालकोट रोहतास तथा पिण्डदन्दान खाँ के क्षेत्र आते थे। यह वह समय था जबकि सिख मिसलों का आपसी संघर्ष सर्वोच्चता के लिए चल रहा था। सिख सरदारों के आपसी संघर्षों और जमन शाह के नेतृत्व में 1795, 96 तथा 98 में अफगान आक्रमणों ने रणजीत सिंह की अपनी ताकत को पंजाब में सुदृढ़ करने में मदद की। रणजीत सिंह ने सफलतापूर्वक सिख मिसलों की स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया और उनको एकमात्र राजनीतिक आधिपत्य के अधीन कर लिया।

प्रारंभिक कुछ वर्षों में रणजीत सिंह के सम्मुख समस्या अपने दीवान लखपत राय की बढ़ती शक्ति और उसकी माता माई मलवाई द्वारा, प्रशासन पर नियंत्रण करने के प्रयासों को रोकना था। उसने अपने दीवान से छुटकारा पाने के लिए उसको कैथल के एक खतरनाक अभियान पर भेज दिया और जहाँ पर उसको मार दिया गया। भाई मलकाई की हत्या भी संदेहास्पद ढंग से कर दी गई। अपने घरेलू राज्य के मामलों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के बाद रणजीत सिंह ने मिसलों के सरदारों के विरुद्ध अभियान चलाया। कन्हैया मिसल सरदार तथा उसकी सास रानी सदा कौर के सक्रिय सहयोग से उसने रामगढ़ी मिसल पर आक्रमण किया। कन्हैया मिसल के क्षेत्र पर अधिकार कर लेने के कारण रामगढ़ी मिसल को सजा देने के लिए इस अभियान को चलाया गया था। रामगढ़ी मिसल को पराजित कर उसके मुख्य नगर मियानी पर अधिकार कर लिया गया।

शक्तिशाली रामगढ़ी मिसल के अपमानजनक समर्पण के बाद रणजीत सिंह ने अपना ध्यान लाहौर पर केन्द्रित किया। 1747 में अफगान नेता जमान शाह ने लाहौर पर अपना नियंत्रण कायम कर लिया। परन्तु ईरान के शाह के साथ मिलकर उसके भाई द्वारा उसके विरुद्ध षड़यंत्र करने के कारण जमान शाह को वापस लौटने के लिए मज़बूर होना पड़ा। उसने लाहौर को अपने सूबेदार शाहंची खाँ के अधीन कर दिया। ज़मान शाह के वापस लौट जाने के कारण रणजीत सिंह को लाहौर पर अधिकार करने के लिए सुअवसर मिल गया। गुजरात के साहिब सिंह तथा पिण्डीवाला के मिलखा सिंह के गठबंधन के साथ उसने शाहंची खाँ पर आक्रमण किया और 1799 में लाहौर पर अधिकार कर लिया। लाहौर के बाद उसने भांजी मिसल पर आक्रमण कर किसी कड़े विरोध के बिना अमृतसर तथा उनके अन्य क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। लाहौर और अमृतसर का स्वामी होने के बाद रणजीत सिंह ने स्वयं को इसका सर्वमान्य राजा घोषित करते हुए पंजाब में संप्रभु संपन्न सिख राजतंत्र की नींव रखी। अपनी स्थिति को और सुदृढ़ करने के लिए रणजीत सिंह ने अन्य राज्यों की ओर अपने अभियान को जारी रखा। उसने जम्मू को अधीन कर लिया,

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 29 24-03-2021 11:47:18

मिरोवाल, नरोवाल, सियालकोट, दिलावरगढ़, वजीराबाद पर भी अधिकार कर लिया और उसने काँगड़ा के राजा संसार चंद तथा कासूर के पठान सरदार निजामुद्दीन के अभिमान को तोड़ दिया। काबुल की मुसलमान रियासतें जैसे कि झंग तथा साहीवाल समर्पण करने को तैयार थी और मुलतान के गवर्नर मुजफ्फर खाँ ने रणजीत सिंह को ढेर सारे उपहारों के साथ बधाई दी। परन्तु मुल्तान ने अन्ततः 1818 में मीर दीवान चन्द के नेतृत्व में सिख सेनाओं के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। कश्मीर 1819 तक जीत लिया गया और 1820 में रणजीत सिंह को संपूर्ण पंजाब का शासक मान लिया गया जिसके अंतर्गत सिंधु से सतलुज तक का क्षेत्र, कश्मीर और तिब्बत की सीमा तक पर्वतीय क्षेत्र आता था। सिंधु नदी के पार के डेरा इस्माइल, डेरा गाजी खान, खैराबाद और अंततः पेशावर (1834) सभी को सिख शासन के अधीन कर लिया गया। रणजीत सिंह के अधिकारियों ने रणजीत सिंह द्वारा स्थापित राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता को 1845 तक बनाए रखा तथा कुछ नए छोटे क्षेत्रों को भी उसमें शामिल कर लिया। परन्तु विभिन्न चरणों में सिख राज्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था के अधीन हो गया और 1849 में अंतिम रूप से इसको पूर्णतः ब्रिटिश साम्राज्य में लिया गया।

2.14 सिख राजनीतिक व्यवस्था का चरित्र

अभी तक हमने सिख राज्य तथा उसके संगठनात्मक ढाँचे के विकास के विषय में विवेचन किया है। लेकिन सिख राजनीतिक व्यवस्था का क्या चरित्र था? इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि सिख राजनीति को मूलभूत आधार सिख गुरुओं के उपदेशों ने उपलब्ध कराया। मध्य काल में सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए सिखों के बीच जो आंदोलन पैदा हुआ वह अठारहवीं सदी के दौरान अंततः एक राजनैतिक आंदोलन में परिवर्तित हो गया। इसलिए सिख राजनीति की आधारशिला नैतिक नियमों और गुरुओं की लोकतांत्रिक परंपराओं के आधार पर रखी गयी। इस लोकतांत्रिक परंपरा की अभिव्यक्ति मिसल काल की सिख राजनीतिक व्यवस्था में गुरमत, दल खालसा, खालसा के नाम पर शासन करने आदि जैसी बहुत सी विशेषताओं में पायी जाती है।

यह जानना महत्वपूर्ण है कि मिसल काल के दौरान की सिख राज्य व्यवस्था के चरित्र के विषय में सभी इतिहासकार एक मत नहीं हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार मिसलें अपने चरित्र में धार्मिक, राजनैतिक व्यवस्था वाली थी परन्तु दूसरी ओर यह भी मत व्यक्त किया गया है कि मिसल के सरदारों के कार्य करने से स्पष्ट है कि अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्रतापूर्वक कभी-कभी अपने हितों के अनुरूप कार्य करते थे। सरबत खालसा की सभाओं में उनकी उपस्थिति आवश्यक नहीं थी। वे इन सभाओं में आपात स्थिति पर विचार-विमर्श करने के लिए ही शामिल होते थे या पारस्परिक हितों के मामलों के लिए। इन सभाओं के निर्णयों को मानना उनके लिए अनिवार्य नहीं था। परन्तु लोकतांत्रिक परंपराओं का एक ढाँचा होने के बावजूद भी मिसलों के आंतरिक संगठन में बहुत अधिक लोकतंत्र नहीं था। व्यक्ति विशेष की सरकार के सिद्धांत का प्रचलन ही अधिक था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मिसलों का एक संघ था परन्तु एक मिसल के अंतर्गत सरदार या मिसल का मुखिया पूर्ण रूप से स्वतंत्र होता था। बाह्य खतरों के कारण मिसलों के संघ का अस्तित्व था। आंतरिक मामलों में संघ का मिसलों पर कोई नियंत्रण न था।

बहुत से स्वतंत्र सरदारों के स्थान पर सिख राजतंत्र के उदय के कारण सिख राजनीति के चरित्र में पुनः और परिवर्तन हुआ। उन्नीसवीं सदी में सरदार की व्यक्तिगत स्वायत्तता का अंत हो गया और राज्य के अंतर्गत राजा सर्वोच्च प्रभुत्वसंपन्न बन गया। रणजीत सिंह का सिख धर्म का पुस्तकों तथा सिख धर्म में पूरा-पूरा विश्वास था। परन्तु उसने अपने व्यक्तिगत विश्वास (धर्म) का प्रशासन चलाने में कभी भी प्रयोग नहीं किया। पंजाब को विभिन्न जातियों, धार्मिक और भाषाई गुटों के लोगों की भूमि होने के कारण एक धर्म निरपेक्ष प्रशासन की आवश्यकता थी और सिख शासकों ने इस क्षेत्र में अपने शासन को सुदृढ़ करने के लिए उचित ढंग से कार्य किया। प्रशासन के मामलों में धर्म का हस्तक्षेप बिल्कुल भी नहीं किया गया। डॉ. इन्दू बंगा ने लिखा है कि पहाड़ी घाटियों तथा इसी

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 30 24-03-2021 11:47:18

प्रकार के अन्य मैदान वाले स्थानों पर स्वायत्त रियासतों की निरंतता, जागीरों का आवंटन तथा बिना किसी मदभेद के जमींदार कुलीनों की सेवा, धरमारथ के लिए धार्मिक व्यक्तियों और विभिन्न धर्मों से संबंधित धार्मिक संस्थाओं को दिए जाने वाले अनुदान, इन सबके पीछे मुख्य उद्देश्य सुदृढ़ता की आवश्यकता थी।

बोध प्रश्न-3

1) सिखों के भाईचारे को गुरुनानक से गुरु गोविन्द तक किस प्रकार सुदृढ़ किया गया?

.....

.....

.....

2) मिसलों का उदय कैसे हुआ? सिख राज्य-व्यवस्था में उनकी भूमिका क्या थी? उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

3) सिख राज्य के स्वरूप पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2.15 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि मैसूर के राज्यतंत्र में किस तरह उन संस्थाओं में जो कमजोर ढंग से स्थापित हुई थीं या कमज़ोर हो रही थीं तमाम बिचौलिए तथा अन्य व्यक्ति राज्यतंत्र के विभिन्न स्तरों पर निर्णायक भूमिका निभा रहे थे। इस प्रक्रिया में मैसूर एक ऐसे राज्य के रूप में उभरा जो कुछ अर्थों में हैदर और टीपू की सैनिक शक्ति के जरिए एक मज़बूत प्रशासन कायम करके उनके संस्थात्मक आधार की कमजोरियों को दूर करने में कामयाब रहा। इससे कुछ हद तक कुछ व्यक्तियों और ताकतों पर पाबंदी तो लग गई लेकिन वे खत्म बिल्कुल नहीं हुई। दूसरी ओर, हैदराबाद में प्रशासन के अंदर स्वार्थी तत्वों को मज़बूत हो जाने दिया और ऊपर से नीचे तक 'संरक्षण-आश्रितों' के सम्पर्कों से अपने राजतंत्र को कायम किया।

लगातार होने वाले विदेशी आक्रमणों और सिख सरदारों के विद्रोहों के कारण पंजाब में मुगल प्रशासन समाप्त हो गया था। इन व्याप्त अस्थिर राजनैतिक परिस्थितियों में सिखों का उदय एक राजनैतिक ताकत के रूप में हुआ और उन्होंने पंजाब में एक स्वायत्त राज्य की स्थापना की। रणजीत सिंह के नेतृत्व तथा उसकी राजनैतिक कुशलता ने इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मुगल व्यवस्था की तुलना में प्रशासन में बहुत अधिक संस्थापक परिवर्तन नहीं हुए और अपने शासन को सुदृढ़ करने के लिए सिख शासकों ने प्रशासन में धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण को अपनाया।

2.16 शब्दावली

विभाग निवेश : इस इकाई में विभाग निवेश व्यापारी पूँजीपतियों के द्वारा किए निवेश की विविधता को जताता है।

राजस्व किसान : ऐसे व्यक्ति जिन्हें कोई शासक राज्य की माँग के अनुसार एक निर्धारित राजस्व के बदले में खेती योग्य भूमि देता है।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 31 24-03-2021 11:47:18

सरंक्षक : ऐसा व्यक्ति जो अपनी हैसियत या असर के कारण किसी का कुछ भला कर सकता है। आश्रित वह है, जिसका यदि भला किया जाता है और जो संरक्षक की कुछ सेवा करता है।

कुतबा : सम्राट के लिए प्रार्थना।

अबवाब : भू-राजस्व के साथ-साथ अन्य कर (उत्पादक कर, चुंगी) भी किसानों से वसूल किए जाते थे।

आदि ग्रंथ : सिख पंथ की धार्मिक पुस्तक।

दल खालसा : एक से अधिक सरदार की संयुक्त सेनाएँ जिनका गठन किसी विशेष उद्देश्य के लिए किया गया हो परन्तु अस्थायी तौर पर।

धरमारथ : भूमि अनुदान जिसे धार्मिक तथा स्वयंसेवी संस्थाओं को दिया गया हो।

फौजदार : मुगलों के अंतर्गत एक सरकार का प्रशासनिक अधिकारी।

गुरमत : गुरु ग्रंथ साहिब के सम्मुख सरबत खालसा में उपस्थित सिखों द्वारा पूर्ण बहुमत से पारित प्रस्ताव।

पटवारी : गाँव का मुनीम।

सरबत खालसा : संपूर्ण खालसा, सिख पंथ की सभा।

2.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) क), 2) घ), 3) ख), 4) क)

बोध प्रश्न-2

1) ग), 2) घ), 3) ख), 4) ख)

बोध प्रश्न-3

1. भाग 2.12 देखें।
2. भाग 2.12 देखें।
3. भाग 2.14 देखें।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 32 24-03-2021 11:47:18

इकाई 3 औपनिवेशिक शक्ति की स्थापना

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 ब्रिटिश विजय से पूर्व का बंगाल

3.3 बंगाल की ब्रिटिश विजयः 1757-65

- 3.3.1 सिराजउद्दौला और ब्रिटिश
- 3.3.2 मीर जाफर और अंग्रेज
- 3.3.3 मीर कासिम और अंग्रेज
- 3.3.4 मीर कासिम के पश्चात्

3.4 राजनीतिक रूपांतरण की व्याख्या

3.5 अंग्रेजों की सफलता का महत्व

3.6 सारांश

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

भारत में अंग्रेजी प्रभुत्व का इतिहास बंगाल का ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था के अधीन हो जाने के साथ प्रारंभ हुआ। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको ज्ञान हो जाएगाः

- अंग्रेजों के द्वारा की गई बंगाल विजय की पृष्टभूमि का;
- बंगाल के नवाब से ब्रिटिश प्रभुत्व को राजनैतिक सत्ता के रूपांतरण का; और
- उन कारकों का जिनके कारणवश सत्ता का रूपांतरण हुआ और इसके महत्व का।

3.1 प्रस्तावना

यह इकाई बंगाल में 1757 से 1765 तक के दौरान नवाब से अंग्रेजों को हुए राजनीतिक सत्ता के रूपांतरण का परिचय आपसे करायेगी। इस इकाई में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि यह मुख्यतः बंगाल के नवाब एवं अंग्रेजों के बीच वह व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता थी, जिसने 1750 के दशक में घटनाओं के क्रम का निर्णय किया। इस घटना-क्रम के लिए महत्वपूर्ण निर्णायक कारण किसी भी नवाब की व्यक्तिगत असफलता नहीं थी जैसा कि कुछ इतिहासकारों ने सिद्ध करने का प्रयास किया है। फिर भी प्रशासन में आयी गिरावट जिसका प्रारंभ अठारहवीं सदी में हुआ था, ने भी बंगाल की स्वतंत्र राजनीतिक व्यवस्था के अंतिम रूप से धराशायी होने में निःसंदेह योगदान किया। यहाँ पर हम पहले अंग्रेजों की बंगाल विजय की पृष्ठभूमि और 1757 से 1765 के राजनैतिक घटनाचक्र का विवेचन करेंगे। फिर हम इस रूपांतरण और प्लासी तथा बक्सर की लड़ाइयों के महत्व की व्याख्या पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे क्योंकि ये घटनाएँ भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रसार में निर्णायक थीं।

3.2 ब्रिटिश विजय से पूर्व का बंगाल

यूरोपीय अर्थव्यवस्था में अर्थात् सामंतवाद में पूँजीवाद की ओर एवं फिर व्यापारिक पूँजीवाद से औद्योगिक पूँजीवाद की ओर हुए परिवर्तनों के कारणवश औपनिवेशिक साम्राज्य

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 33 24-03-2021 11:47:18

को स्थापित करने के लिए बहुत सी यूरोपीय शक्तियों के बीच कड़ी प्रतियोगिता हुई। साम्राज्यवाद के प्रसार की इस प्रक्रिया में सत्रहवीं शताब्दी से ही बंगाल, डच, फ्रांसीसी एवं अंग्रेजी कंपनियों के बीच शिकार का मैदान बन गया। यह मुख्यतः बंगाल में अच्छे व्यापार की संभावनाओं तथा संपन्न संसाधनों के कारणवश था और इसलिए कई विदेशी कंपनियाँ आकर्षित हुई थीं। औरंगजेब के शासनकाल के दौरान भारत की यात्रा करने वाले यात्री फ्रांकोयस ने बंगाल के बारे में लिखा है किः

''देश की धन प्रचुरता के कारण ..... पुर्तगालियों, अंग्रेजों और डचों के बीच यह कहावत लोकप्रिय हो गई कि बंगाल प्रांत में प्रवेश के लिए सैंकड़ों द्वार हैं परंतु छोड़ने के लिए एक भी नहीं''।

अठारहवीं सदी में बंगाल से यूरोप को निरंतर कच्चे उत्पादों जैसे शोरा, चावल, नील, काली मिर्च, चीनी आदि एवं रेशम, सूती कपड़े, कढ़ाई-बुनाई के सामान आदि का निर्यात होता था। प्रारंभिक अठारहवीं सदी में ब्रिटेन को एशिया से होने वाले आयात का 60 प्रतिशत सामान बंगाल से ही जाता था। बंगाल की व्यापारिक क्षमताएँ ही अंग्रेजों के द्वारा इस प्रदेश में ली जाने वाली रुचि का स्वाभाविक कारण थीं।

अंग्रेजों का बंगाल के साथ निरंतर संबंध 1630 के दशक में शुरू हुआ। पूरब में प्रथम अंग्रेजी कंपनी की स्थापना 1633 में उड़ीसा में बालासोर में हुई और फिर हुगली, कासिम बाजार, पटना और ढाका में। 1690 के आसपास अंग्रेजी कंपनी को सुतानति, कलकत्ता एवं गोविन्दपुर नाम के तीन गाँवों के जमींदारी अधिकार प्राप्त हो गए और कंपनी के द्वारा कलकत्ता की स्थापना के साथ ही बंगाल में अंग्रेजी व्यापारिक बस्ती को बसाने की प्रक्रिया का काम पूरा हो गया। 1680 तक बंगाल में कंपनी का वार्षिक निवेश 150,000 पौंड तक पहुँच गया।

सत्रहवीं शताब्दी से ही अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल में स्वतंत्र रूप से व्यापार करने दिया गया। इसके बदले में कंपनी को मुगल सम्राट को 3000 (350 पौंड) रुपए वार्षिक अदा करने पड़ते थे। जिस समय कंपनी मुगल सम्राट को बंगाल में स्वतंत्र व्यापार के लिए एक वर्ष में 350 पौंड अदा करती थी उस समय बंगाल से कंपनी का निर्यात 50,000 पौंड मूल्य से भी अधिक प्रति वर्ष का था।

परंतु प्रांतीय सूबेदार कंपनी को दी जाने वाली इस भाँति के विशेषाधिकारों का समर्थन नहीं करते थे क्योंकि इससे उनके राजस्व को भारी नुकसान होता था। इसलिए प्रांतीय प्रशासन की ओर से अंग्रेजी कंपनी पर प्रांत में व्यापार के लिए अधिक अदायगी के लिए सदैव भारी दबाव रहता था। अंग्रेजों ने अपनी ओर से बहुत से साधनों के द्वारा व्यापार पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की। बंगाल में स्वतंत्र प्रभुत्व को स्थापित करने वाले सूबेदार मुर्शीद कुली खान कंपनी के द्वारा उपयोग किए जाने वाले विशेषाधिकारों को देने के समर्थन में नहीं था क्योंकि इसके कारणवश सरकारी कोष में नुकसान होता था। इसलिए बंगाल में अठारहवीं सदी के मध्य से पहले ही अंग्रेजों के व्यापारिक हितों एवं प्रांतीय सरकार के बीच झगड़ा पैदा हो गया।

जिस समय अंग्रेजों के उभरते व्यापारिक हित बंगाल की राजनीति के लिए एक गंभीर खतरा बनते जा रहे थे, उसी समय प्रांतीय प्रशासन में स्वयं ही कुछ कमजोरियाँ पैदा हो गई थीं। मुगल साम्राज्य के विभाजन के साथ ही बंगाल में कैसे एक स्वतंत्र प्रभुत्व का उद्‌भव हुआ।

इस प्रांतीय शक्ति का स्थायित्व निम्नलिखित कुछ निश्चित शर्तों पर निर्भर करता थाः

- नवाब का शासन स्थानीय कुलीन वर्ग के एक शक्तिशाली गुट के समर्थन पर निर्भर करता था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 34 24-03-2021 11:47:18

- उसको उन हिन्दू *मुतासेदियों* के समर्थन की आवश्यकता पड़ती थी जिनके नियंत्रण में वित्तीय प्रशासन था।
- बड़े जमींदारों का समर्थन भी अति आवश्यक था क्योंकि वे न केवल सरकारी कोष को राजस्व देते थे बल्कि आवश्यकता पड़ने पर नवाब को सैनिक सहायता भी उपलब्ध कराते थे तथा अपने-अपने क्षेत्रों में कानून एवं व्यवस्था को भी बनाए रखते थे।
- बैंकों के मालिकों एवं व्यापारिक घरानों विशेषकर जगत सेठ का घराना जो बंगाल का सबसे बड़ा वित्तीय घराना था, के समर्थन तथा सहयोग की भी नवाबों को आवश्यकता थी।

इन विभिन्न प्रकार के गुटों की नवाब से आशाएँ भिन्न-भिन्न थीं। नवाब के शासन का स्थायित्व इन बहुत से हित वाले गुटों के बीच उचित संतुलन बनाए रखने पर निर्भर करता था। शासक एवं विभिन्न हित वाले गुटों के बीच के शक्ति समीकरण में आम आदमी का कोई स्थान न था। वे जमींदारों की बढ़ती माँगों के शिकार थे परंतु प्रशासन की तरफ से कोई सुरक्षा उपलब्ध नहीं करायी जाती थी। शासकों की ओर से साम्राज्यवादी विरोधी संघर्ष में आम जनता को शामिल करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया।

3.3 बंगाल की ब्रिटिश विजय : 1757-65

1757 से 1765 तक बंगाल का इतिहास नवाब से अंग्रेजों को राजनैतिक सत्ता के क्रमिक हस्तांतरण का इतिहास है। इस संक्षिप्त 8 वर्ष के समय के दौरान बंगाल के ऊपर तीन नवाबों सिराजउद्दौला, मीर जाफर और मीर कासिम ने शासन किया। परंतु वे नवाब की प्रभुसत्ता को कायम रखने में असफल रहे और अंततः शासन का नियंत्रण अंग्रेजों के हाथों में चला गया। अब हम 1757 से 1765 तक बंगाल के राजनैतिक घटना-चक्र का विवेचन करेंगे कि अंततः किस ढंग से अंग्रेजों ने बंगाल के ऊपर अपना नियंत्रण कर लिया।

3.3.1 सिराजउद्दौला और ब्रिटिश

सिराजउद्दौला 1756 में अलवर्दी खाँ के बाद बंगाल का नवाब बना। सिराज के उत्तराधिकार का विरोध उसकी चाची घसीटी बेगम तथा पूर्णिया के सूबेदार उसके चचेरे भाई शौकत जंग ने किया। नवाब के दरबार में जगत सेठ, अमीचन्द, राज बल्लभ, राय दुर्लभ, मीर जाफर एवं कुछ अन्य लोगों का एक शक्तिशाली गुट था और उन्होंने भी सिराज के उत्तराधिकार का विरोध किया। नवाब के दरबार के इस आंतरिक असंतोष के अतिरिक्त नवाब की स्थिति को दूसरा गंभीर खतरा अंग्रेजी कंपनी की बढ़ती व्यापारिक गतिविधियों से था। नवाब एवं कंपनी के बीच व्यापारिक विशेषाधिकारों को लेकर संघर्ष कोई नया नहीं था। परंतु सिराजउद्दौला के शासन काल में कुछ अन्य निश्चित कारणों को लेकर दोनों के बीच के रिश्ते और तनावपूर्ण हो गए। वे कारण निम्नलिखित हैं:

- नवाब की आज्ञा के बिना अंग्रेजी कंपनी के द्वारा कलकत्ता की किलेबंदी,
- कंपनी को दिए गए व्यापार अधिकारों का इसके अधिकारियों के द्वारा अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए दुरुपयोग किया गया।
- कंपनी ने कलकत्ता में राज बल्लभ के पुत्र कृष्णदास को शरण दी और वह नवाब की इच्छा के विरुद्ध विशाल सरकारी धन को लेकर भाग गया।

इन कारणों से नवाब सिराजुद्दौला कंपनी के साथ नाराज था। कंपनी इस बात को लेकर सिराजुद्दौला के बारे में चिन्तित हो गई थी क्योंकि कंपनी के अधिकारियों को संदेह हुआ कि सिराज बंगाल में फ्रांसीसियों के साथ गठजोड़ करके कंपनी के अधिकारों में कटौती कर देगा। अंग्रेज के कलकत्ता किले पर सिराज के आक्रमण ने खुले संघर्ष को और तेज कर दिया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 35 24-03-2021 11:47:18

राबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में मद्रास से शक्तिशाली अंग्रेज सेना के कलकत्ता पहुँचने से बंगाल में अंग्रेजों की स्थिति और मजबूत हो गई। कंपनी का नवाब के दरबार के षड्यंत्रकारियों के साथ गठबंधन हो जाने से कंपनी की स्थिति और मजबूत हो गई। इसलिए अंग्रेजों की विजय प्लासी के लड़ाई के मैदान (जून, 1757) में होने वाले युद्ध में पूर्व ही सुनिश्चित हो गई थी। यह विजय कंपनी की सैनिक शक्ति की श्रेष्ठता के बल पर नहीं अपितु नवाब के अधिकारियों द्वारा षड्यंत्र में मदद करने के कारण प्राप्त हुई। निश्चय के साथ यह कहना बड़ा मुश्किल है कि सिराज उचित कार्यवाही करने में क्यों असफल हुआ। अंततः वह स्वयं को भी न बचा सका और मीर जाफर के पुत्र मीरान ने उसका कत्ल कर दिया।

3.3.2 मीर जाफर और अंग्रेज

प्लासी की लड़ाई से पूर्व ही क्लाइव ने मीर जाफर को नबाब का पद देने का वायदा किया था। यह सिराजुद्दौला के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता का उपहार था।

अंग्रेज अब बंगाल के राजा को बनाने वाले हो गए। मीर जाफर को अपने अंग्रेज मित्रों के द्वारा किए गए समर्थन के लिए भारी रकम को अदा करना पड़ा। परन्तु मुर्शिदाबाद के सरकारी कोष में क्लाइव और उसके अन्य साथियों की माँगों को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त धन न था। मीर जाफर ने अंग्रेजों को नजराने एवं हर्जाने के रूप में लगभग 1,750,000 रुपए अदा किए।

मीर जाफर जैसे ही सत्तासीन हुआ उसने तुरन्त निम्नलिखित गंभीर समस्याओं का सामना कियाः

- मिदनापुर के राजा राम सिन्हा, पूर्णिया के हिज़ीर अली खां जैसे जमींदारों ने उसे अपना शासक मानने से इंकार कर दिया।
- मीर जाफर के कुछ सिपाही जिनको अपना वेतन निरंतर नहीं मिल रहा था वे विद्रोही हो रहे थे।
- उसको अपने कुछ अधिकारियों विशेषकर राय दुर्लभ की वफादारी पर संदेह था। उसे विश्वास था कि राय दुर्लभ ने जमींदारों को उसके विरुद्ध विद्रोह के लिए उकसाया था। परंतु राय दुर्लभ क्लाइव की शरण में था, इसलिए वह उसको छू भी न सका।
- मुगल बादशाह के पुत्र, जो बाद में आलम शाह के नाम से जाना गया, ने बंगाल के सिंहासन पर अधिकार करने का प्रयास किया।

नवाब की वित्तीय स्थिति भी काफी कमजोर थी और इसका मुख्य कारण कंपनी की बढ़ती माँगें एवं संसाधनों के प्रबंधन की अव्यवस्था थी। इन सभी के कारण मीर जाफर की निर्भरता अंग्रेजी कंपनी पर हो गई परंतु कंपनी कुछ कारणों से नवाब के साथ नाराज थी।

- अंग्रेजी कंपनी का ऐसा विचार था कि मीर जाफर डच कंपनी के सहयोग से बंगाल में अंग्रेजों के बढ़ते प्रभाव में कटौती करने की कोशिश कर रहा था।
- अंग्रेजों की सदैव बढ़ती माँगों को पूरा करने में भी मीर जाफर असफल रहा।

इसी बीच मीर जाफर के पुत्र मीरान की मृत्यु के कारण उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर फिर एक विवाद पैदा हो गया। मीरान के पुत्र और मीर जाफर के दामाद मीर कासिम के बीच इसके लिए संघर्ष हुआ और कलकत्ता के नए गवर्नर वॉन्सिटॉर्ट ने मीर कासिम का पक्ष लिया। वॉन्सिटॉर्ट के साथ एक गुप्त समझौते के द्वारा मीर कासिम कंपनी को आवश्यक धन अदा करने के लिए सहमत हुआ इस शर्त पर कि यदि वे बंगाल के नवाब के लिए उसके दावे का समर्थन करें। मीर जाफर पहले से ही अंग्रेजों के विश्वास को खो चुका था। अपनी देय तनख्वाह के लिए सेना के विद्रोह ने मीर जाफ़र को नवाब के पद से हटाने के लिए अंग्रेजों के दबाव डालने को और सरल बना दिया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 36 24-03-2021 11:47:18

3.3.3 मीर कासिम और अंग्रेज

मीर कासिम भी बंगाल के सिंहासन पर उसी ढंग से पदासीन हुआ था जिस ढंग से मीर जाफर ने इसको प्राप्त किया था। अपने पूर्वाधिकारियों की भाँति ही, मीर कासिम को भी अंग्रेजों को भारी धन की अदायगी करनी पड़ीं इसके अतिरिक्त उसके बर्दवान, मिदनापुर तथा चिटगाँव के तीन जिलों को अंग्रेजी कंपनी को दे दिया। सत्ता को प्राप्त करने के बाद मीर कासिम ने निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण कार्यों को कियाः

- कलकत्ता में स्थित कंपनी से सुरक्षित दूरी को बनाए रखने के लिए मीर कासिम ने अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से (बिहार) मुंगेर में हस्तांतरित कर दिया, और
- अपनी पसंद के अधिकारियों के साथ उसने नौकरशाही का पुनर्गठन किया और सेना के कौशल तथा क्षमताओं को बढ़ाने के लिए उसका भी सुधार किया।

मीर कासिम के शासन के पहले कुछ महीने ठीक प्रकार से व्यतीत हुए। परंतु धीरे-धीरे अंग्रेजों के साथ रिश्तों में कड़वाहट पैदा होने लगी। इसके कारण थेः

- नवाब की बार-बार प्रार्थना करने पर भी बिहार का उप-सूबेदार राम नारायण अपने लेखा-जोखा को जमा नहीं कर रहा था। पटना स्थित अंग्रेज अधिकारियों के द्वारा राम नारायण का समर्थन किया गया था और वह कभी भी नवाब विरोधी अपनी भावनाओं को नहीं छिपाता था।
- कंपनी के दस्तक या व्यापार अधिकार-पत्र का कंपनी के अधिकारियों के द्वारा अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए दुरुपयोग किए जाने के कारण नवाब एवं अंग्रेजों के बीच तनाव और बढ़ा।
- कंपनी के कारिन्दे अपने सामान पर कोई कर नहीं अदा करते थे। जब कि स्थानीय व्यापारियों को कर अदा करना पड़ता था। जहाँ एक ओर नवाब को कर राजस्व की हानि कंपनी के अधिकारियों द्वारा कर अदा न करने पर होती थी, वहीं दूसरी ओर स्थानीय व्यापारियों को कम्पनी के व्यापारियों के साथ असमान कड़ी प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ता था। इससे भी अधिक, कंपनी के अधिकारी नवाबों के अधिकारियों की पूर्ण अवहेलना करते थे। कंपनी के अधिकारी स्थानीय लोगों को अपना सामान कम दामों पर बेचने के लिए मजबूर करते थे। मीर कासिम ने गवर्नर वॉसिंटॉर्ट से इन कार्यों की शिकायत की परन्तु इसका कोई प्रभाव न हुआ। जैसा कि मीर जाफर के केस में घटित हुआ जबकि अंग्रेजों ने यह पाया कि मीर कासिम उनकी आकांक्षा की पूर्ति करने में असफल रहा है और उन्होंने मीर कासिम को हटाने के लिए अवसर की तलाश शुरू कर दी। परंतु मीर कासिम भी अपने पूर्वाधिकारी से भिन्न इतनी आसानी के साथ आत्म समर्पण करने वाला न था। उसने मुगल सम्राट शाह आलम एवं अवध के नवाब शुजाउद्दौला की मदद से संयुक्त प्रतिरोध करने की कोशिश की। फिर भी, अंततः मीर कासिम अपने सिंहासन की रक्षा करने में असफल रहा और बक्सर की लड़ाई (1764) में पूर्वी भारत में अंग्रेजों की विजय एवं सर्वोच्चता को प्राप्त किया।

3.3.4 मीर कासिम के पश्चात्

बंगाल के सिहांसन पर मीर जाफर को वापस बैठा दिया गया। अंग्रेजों को उनकी सेना के रख-रखाव के लिए मिदनापुर, बर्दवान, और चिटगाँव के तीन जिले तथा बंगाल में कर उन्मुक्त व्यापार करने के अधिकार-पत्र (सनद) (नमक पर 2 प्रतिशत कर के अतिरिक्त) को देने के लिए मीर जाफर सहमत हो गया। परंतु मीर जाफर का स्वास्थ्य अच्छा न था और इस घटना के समय कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई। उसके छोटे से बेटे नजीमुद्दौला को नवाब नियुक्त किया गया। वास्तविक प्रशासन नायब-सूबेदार के द्वारा चलाया जाता था, जिसको अंग्रेज अधिकार नियुक्त कर सकते थे और हटा सकते थे।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 37 24-03-2021 11:47:18

1765 की गर्मियों में बंगाल के गवर्नर के रूप में क्लाइव वापस आया। क्लाइव ने स्वयं को अपूर्ण कार्य को पूरा करने अर्थात् वह अंग्रेजों को बंगाल में सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति बनाने में जुट गया। उसने मुगल सम्राट शाह आलम से संपर्क किया, शाह आलम स्वयं भी एक समझौते के अंतर्गत 1761 से अवध के नवाब शुजाउद्दौला का व्यवहारिक तौर पर बंदी था। अगस्त 1765 में शाह आलम एवं क्लाइव के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। इस समझौते के द्वारा शाह आलम को कंपनी ने इलाहाबाद तथा आसपास के क्षेत्रों को दे दिया, जबकि बादशाह ने एक फरमान के द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, एवं उड़ीसा की दीवानी प्रदान कर दी। अंग्रेजों की दीवानी के अधिकार और बंगाल के राजस्व या वित्तीय प्रशासन पर पूर्ण नियंत्रण प्रदान कर दिया गया।

सुरक्षा, कानून एवं व्यवस्था और न्याय के प्रशासन का उत्तरदायित्व नवाबों के हाथों में था। लेकिन बक्सर के युद्ध के बाद नवाबों को सैनिक शक्ति वास्तव में मृतप्रायः हो गई थी। कंपनी को दीवानी मिल जाने के बाद नवाबों की शक्ति पूर्णतः समाप्त हो गई।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 1757 से 1765 तक के राजनीतिक घटनाओं के कारण बंगाल के नवाबों से अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी को राजनैतिक सत्ता का हस्तांतरण क्रमिक रूप से हुआ। आगामी भाग में हम उन कारणों को समझने का प्रयास करेंगे जिनसे यह परिवर्तन आया।

बोध प्रश्न-1

1) बंगाल राजनीति की क्या प्रकृति थी? उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

2) बंगाल के नवाबों तथा अंग्रेजों के रिश्तों में तनाव क्यों उत्पन्न हुआ? उत्तर दें।

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित कथनों पर सही (✓) या गलत (×) के चिह्न लगाइए।

i) बंगाल में अग्रेजी कंपनी के उन्मुक्त व्यापार का बंगाल के नवाबों ने विरोध नहीं किया।

ii) बंगाल में कंपनी के बढ़ते व्यापार ने बंगाल के शासकों के वित्तीय संसाधनों में वृद्धि की।

iii) सिराजुद्दौला ने बंगाल में व्यापार के विशेषाधिकार का कंपनी के अधिकारियों द्वारा किए गए दुरुपयोग का विरोध किया।

iv) मीर जाफर की सेना ने उसके विरुद्ध इसलिए विद्रोह किया क्योंकि वह उनका वेतन देने में असफल रहा।

v) अंग्रेज मीर कासिम के आलोचक इसलिए हो गए क्योंकि वह अपना स्वतंत्र प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे।

vi) दीवानी अधिकार दिए जाने के कारण अंग्रेजी कंपनी को बंगाल के वित्तीय एवं प्रशासकीय मामलों में पूर्ण नियंत्रण कायम हो गया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 38 24-03-2021 11:47:18

3.4 राजनीतिक रूपांतरण की व्याख्या

1757 से 1765 तक की राजनीतिक घटनाओं के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि किस ढंग से अंग्रेजों ने धीरे-धीरे नवाब के आधिपत्य को कम किया और कैसे बंगाल पर अपने नियंत्रण को स्थापित किया। बंगाल में इस समय के दौरान जो कुछ घटित हुआ उसको कुछ इतिहासकारों ने ''राजनीतिक क्रांति'' का नाम दिया। इस क्रांति के क्या कारण थे, इस प्रश्न पर इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ इतिहासकारों के द्वारा क्रांति के कारणों को नवाबों की व्यक्तिगत असफलताओं में खोजने का प्रयास मान्य नहीं हैं। सिराजुद्दौला का अभिमान या मीर जाफर का विश्वासघात या मीर कासिम की व्यक्तिगत सीमाओं को बंगाल की राजनीतिक संरचना में होने वाले इस रूपांतरण का कारण नहीं माना जा सकता। अंग्रेजों तथा नवाबों के बीच के संघर्ष से जो प्रश्न जुड़े थे, वे कुछ और ही एवं अधिक महत्वपूर्ण थे।

कुछ इतिहासकारों के द्वारा यह तर्क दिया गया है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के व्यक्तिगत स्वार्थों ने नवाबों के साथ संघर्षों को पैदा किया। अधिक व्यापार विशेषाधिकारों तथा उपहारों की आकांक्षाओं और उनके द्वारा स्वयं के सौभाग्य को बनाने के प्रयासों के कारण अंग्रेज लोग व्यक्तिगत रूप से नवाबों के प्रभुत्व का उल्लंघन करने लगे। कंपनी के अधिकारियों के द्वारा अपने व्यक्तिगत व्यापार अधिकारों का दुरुपयोग नवाबों तथा ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच संघर्ष का मुख्य कारण था। मुगल सम्राट फरूखसियर ने 1717 में एक शाही फरमान के द्वारा केवल कंपनी के आयात एवं निर्यात पर मुक्त छूट प्रदान की थी न कि कंपनी कारिन्दों के व्यक्तिगत व्यापार के लिए। कंपनी के अधिकारियों के द्वारा इस व्यापारिक विशेषाधिकार का दुरुपयोग अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए किए जाने से नवाबों के कोष के लिए काफी नुकसानदायक साबित हो रहा था। सिराजुद्दौला और मीर कासिम दोनों ने कंपनी से इस दुरुपयोग की शिकायत की परंतु स्थिति में कोई परिवर्तन न आया।

यदि अंग्रेजों के व्यक्तिगत स्वार्थ नवाबों के साथ संघर्ष के लिए उत्तरदायी थे, कंपनी भी उसके लिए समान रूप से उत्तरदायी थी। कंपनी और अधिक व्यापारिक विशेषाधिकारों के लिए नवाबों पर दबाव डालती रहती थी। ब्रिटिश बंगाल से डच एवं फ्रांसीसी कंपनियों को बाहर निकाल बंगाल के व्यापार पर अपना इजारेदारी नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। अंग्रेजी कंपनी ने नवाब की इच्छा के विरुद्ध अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया और कलकत्ता की किलेबंदी की। यह नवाब के आधिपत्य को प्रत्यक्ष चुनौती थी। प्लासी लड़ाई के बाद अधिक छूटों के लिए दबाव बढ़ने लगा और इसने अपनी सेनाओं के खर्चों की पूर्ति करने के लिए नवाब से जमींदारियों की माँग करनी भी शुरू कर दी। सबसे अधिक चेतावनी तो यह थी कि कंपनी के अधिकारीगण नवाब के दरबार की राजनीति में भाग लेने लगे और वे उच्च अधिकारियों की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप करते। इस प्रकार कंपनी का बढ़ता प्रभुत्व और इसके स्थानीय राजनीति में हस्तक्षेप ने नवाबों की स्वतंत्र स्थिति को गंभीर चुनौती दी। यह समझना कोई मुश्किल नहीं है कि कंपनी और इसके अधिकारियों ने 1757 से 1765 तक बंगाल के राजनीतिक घटनाक्रम को मूर्त देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस सब के साथ-साथ कुछ स्थानीय व्यापारियों अधिकारियों एवं जमींदारों की भूमिका बंगाल में ब्रिटिश राजनीतिक सर्वोच्चता को स्थापित करने में, कम महत्वपूर्ण न थी। बंगाल का सबसे बड़ा बैकिंग घराना जगत सेठ और अमीचन्द जैसी धनी व्यापारी सिराजुद्दौला के गद्दी पर बैठने से खुश न थे। इन सेठों के संरक्षण में नवाबों का कोष था और उनका प्रशासन पर अच्छा खासा नियंत्रण था। सेठों एवं दूसरे व्यापारियों के अतिरिक्त नवाब के दरबार

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 39 24-03-2021 11:47:18

में जमींदारों एवं सैनिक कुलीनों के गुटों का भी काफी प्रभाव था। यह गुट अपने उन विशेष अधिकारों के खोने से आशंकित हो उठा, जिनको ये पहले के नवाबों से भोग रहे थे। सिराजुद्दौला ने नागरिक एवं सैनिक प्रशासन को पुनर्गठित करने के लिए पुराने अधिकारियों को हटाना शुरू कर दिया तब इनकी आशंका को बल मिलने लगा। जिस नए कुलीन गुट को नवाब का संरक्षण प्राप्त हुआ था उसका प्रतिनिधित्व मोहनलाल, मीर मदन और ख्वाजा अब्दुल हादी खान करते थे और इन्होंने पुराने अधिकारियों को नवाब से अलग कर दिया। इस अलगाव और सिराजुद्दौला को उसके ही लोगों के द्वारा हटाकर कंपनी अच्छी प्रकार से सौदेबाजी कर सकती है, इन दोनों कारणों की परिणति सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यंत्र करने में हुई। अंग्रेज जो अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सहयोगी की खोज में थे, इस असंतुष्ट गुट में उनको अपना सहयोगी प्राप्त हो गया। ब्रिटिश अधिक व्यापारिक विशेषाधिकारों को प्राप्त करना और बंगाल से संसाधनों का अधिक उपयोग करना चाहते थे। जबकि उनके भारतीय सहयोगी बंगाल में अपनी स्वयं की राजनीतिक सत्ता को स्थापित करने की इच्छा रखते थे। उनका एक समान लक्ष्य वर्तमान नवाब को हटाकर उसके स्थान पर एक समान पसंद के व्यक्ति को नवाब के पद पर बैठना था। इस प्रकार वह षड्यंत्र रचा गया जिसने अंग्रेजों के बंगाल नवाबों पर नियंत्रण को स्थापित करने के कार्य को और सरल बना दिया। सारांश में कंपनी एवं उसके अधिकारियों के आर्थिक हित, मुर्शिदाबाद के दरबार में गुटबंदी में वृद्धि तथा दरबार के विभिन्न गुटों के बीच प्रतिद्वंद्वी हित, कुछ ऐसे कारण थे जिन्होंने 1757 से 1765 के बीच बंगाल में राजनीतिक रूपांतरण किया।

3.5 अंग्रेजों की सफलता का महत्व

पहले भाग में हम देख चुके हैं कि अंग्रेजों ने प्लासी (1757) और बक्सर (1765) के दोनों युद्धों में निर्णायक विजय प्राप्त करके किस ढंग से बंगाल में अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता को स्थापित किया। कुल मिलाकर अंग्रेजों की इन दोनों लड़ाइयों में विजय के अतिरिक्त उनका अपना कुछ निश्चित महत्व था।

प्लासी की लड़ाई में अंग्रेजों की सफलता का बंगाल के इतिहास पर एक विशेष प्रभाव हुआ।

- अंग्रेजों की इस विजय से बंगाल के नवाब की स्थिति कमजोर पड़ गई भले ही यह विजय विश्वासघात या अन्य किसी साधन से प्राप्त की गई हो।
- बाह्य रूप से सरकार में कोई अधिक परिवर्तन न हुआ था और अभी भी नवाब सर्वोच्च अधिकारी था। लेकिन व्यवहारिक तौर पर कंपनी के प्रभुत्व पर निर्भर था और कंपनी ने नवाब के अधिकारियों की नियुक्ति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया।
- नवाब के प्रशासन की आंतरिक कलह स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगी और अंग्रेजों के साथ मिलकर विरोधियों के द्वारा किए गए षड्यंत्र ने अंततः प्रशासन की ताकत को कमजोर किया।
- वित्तीय उपलब्धि के अतिरिक्त अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने फ्रांसीसी और डच कंपनियों को कमजोर बनाकर बंगाल के व्यापार पर सफलतापूर्वक अपनी इजारेदारी को स्थापित कर दिया।

बक्सर की लड़ाई के द्वारा उन्होंने बंगाल के ऊपर अपना पूर्ण राजनीतिक नियंत्रण स्थापित कर लिया। वास्तव में, हस्तांतरण की इस प्रक्रिया का प्रारंभ प्लासी की लड़ाई से हुआ था और इसकी चरम परणिति बक्सर के युद्ध में हुई।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 40 24-03-2021 11:47:18

- बक्सर की लड़ाई ने बंगाल नवाब के भाग्य के सूर्य को अस्त कर दिया और अंग्रेजों का बंगाल में एक शासक शक्ति के रूप में उदय हुआ।
- मीर कासिम ने बादशाह शाह आलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध सफलतापूर्वक एक संघ का गठन किया। यह संघ अंग्रेजों के सम्मुख असफल हुआ। इस लड़ाई में अंग्रेजों की विजय ने ब्रिटिश शक्ति की सर्वोच्चता को सिद्ध कर दिया और उनके विश्वास को और मजबूत किया। यह विजय केवल अकेले मीर कासिम के विरुद्ध न थी बल्कि मुगल बादशाह एवं अवध के नवाब के विरुद्ध भी। अंग्रेजों की इस युद्ध में सफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत के अन्य भागों में ब्रिटिश शासन की स्थापना बहुत दूर न थी।

बोध प्रश्न-2

1) क्या आप यह सोचते हैं कि नवाबों की व्यक्तिगत असफलता के कारण बंगाल में राजनीतिक रूपांतरण हुआ? अपना उत्तर 100 शब्दों में दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) बक्सर की लड़ाई के महत्व पर 60 शब्द लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.6 सारांश

इस इकाई में हमने उस राजनीतिक प्रक्रिया के घटनाचक्र का विवरण किया जो बंगाल में 1757 से 1765 तक घटित हुआ। आशा करते हैं आप समझ गए होंगे कि प्रारंभिक स्तर पर अंग्रेजों की रुचि बंगाल के संसाधनों का और बंगाल की व्यापारिक क्षमताओं का उपयोग करके एशिया के व्यापार पर अपनी इजारेदारी कायम करना था। ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके अधिकारियों की बढ़ती वह व्यापारिक रुचि थी जिसके कारण नवाबों के साथ संघर्ष ने जन्म लिया। बंगाल की राजनीति में अंतर्निहित कमजोरी ने अंग्रेजों को नवाब के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त करने में बड़ी मदद की। विभिन्न गुटों के शासकों से अलगाव ने बाह्य शक्तियों के लिए व्यवस्था को तोड़ने के लिए प्रेरित किया।

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) आपका उत्तर नवाबों की बहुत से गुटों पर निर्भरता और उसकी सीमित सीमाएँ, प्रशासन में एकरूपता का अभाव आदि पर केंद्रित होना चाहिए। देखें भाग 3.2।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 41 24-03-2021 11:47:18

2) आप अपने उत्तर में अंग्रेजों एवं नवाबों के बीच हितों को लेकर टकराव, बंगाल के आंतरिक राजनीति मामलों में अंग्रेजों का बढ़ता हस्तक्षेप आदि को शामिल करें। देखें 3.3।

3) i) × ii) × iii) ✓ iv) ✓ v) ✓ vi) ×

बोध प्रश्न-2

1) भाग 3.4 में दी गई व्याख्याओं के प्रकाश में आप अपना उत्तर लिखें।

2) आप अपने उत्तर में बंगाल एवं भारत के अन्य भागों पर हुए प्रभावों, विशेषकर इसने भारत में अंग्रेजों को विजय प्राप्त करने में मदद की आदि को शामिल करें। देखें भाग 3.5।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 42 24-03-2021 11:47:18

इकाई 4 1857 तक औपनिवेशिक सत्ता का विस्तार और सुदृढ़ीकरण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 प्रारंभिक छवियाँ

4.3 वारेन हेस्टिंग्स और भारत संबंधी छवि

4.3.1 विलियम जोन्स

4.3.2 हेस्टिंग्स की नीति : व्यवहार में

4.4 संस्थानीकरण

4.5 इवैंजेलिकलिज्म और अन्य नयी प्रवृत्तियाँ

4.5.1 सुधार के प्रयत्न

4.5.2 संरक्षण और मुनरो

4.6 उपयोगितावादी

4.6.1 कानून का प्रश्न

4.6.2 भू-राजस्व का प्रश्न

4.6.3 साम्राज्य का उभरता दृष्टिकोण

4.7 सारांश

4.8 शब्दावली

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- भारत संबंधी ब्रिटिश दृष्टिकोण के पनपने की प्रक्रिया का उल्लेख कर सकेंगे,
- भारत संबंधी ब्रिटिश दृष्टिकोण के बदलते स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- भारत संबंधी दृष्टिकोण के बदलते स्वरूप के कुछ कारणों को रेखांकित कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी का एक व्यापारिक उद्यम से एक राजनीतिक सत्ता तक परिवर्तन देखा गया। डेढ़ शताब्दियों तक ईस्ट इंडिया कम्पनी एक वाणिज्यिक निकाय बनी रही। इस समय इसने अपनी राजनीतिक महत्वाकाक्षाएँ क्यों हासिल कर ली? यूरोपीय उत्पादन और व्यापार का विस्तार और यूरोप में आक्रामक राष्ट्र राज्यों का उदय 1730 के दशक से भारत में यूरोपीय कम्पनियों के विस्तार का एक प्रमुख कारण था। भारत में, मुगल सत्ता के पतन ने स्पष्ट रूप से इनके प्रभाव के विस्तार के लिए एक महान सुअवसर प्रदान किया। कराधान के द्वारा अधिक राजस्व प्राप्त करने की आवश्यकता ने कम्पनी को एक साम्राज्य स्थापित करने के लिएह्न प्रोत्साहित किया। कम्पनी को अपने व्यापार को बनाए रखने और अपनी सेना को भुगतान करने के लिए धन की

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 43 24-03-2021 11:47:18

आवश्यकता थी और इसलिए क्षेत्र का अधिग्रहण इस जरूरत को पूरा करने का सबसे अच्छा तरीका प्रतीत हो रहा था। देशी शासकों की विफलता मुख्यतया नौसैनिक हस्तक्षेप करने में असमर्थता और उनकी स्वयं की सेवाओं की अक्षमता और प्रभावकारिता की तुलना में अंग्रेजों की सुसज्जित और व्यवसायिक सेनाओं के कारण थी। देशी शासकों के बीच मौजूद प्रतिद्वंद्विता और उत्तेजक राजनीतिक स्थिति ने ब्रिटिश शासन के राजनीतिक हस्तक्षेप और विस्तार के लिए एक अनुकूल भूमि प्रदान की। ब्रिटिश लोगों ने भौगोलिक विस्तार और राजनीतिक सुदृढ़ीकरण के लिए एक लम्बा संघर्ष किया। ब्रिटिश ने स्थानीय शासकों को अपने अधीन लाने के लिए कई युद्ध लड़े। भारतीय राज्यों की आंतरिक कमजोरियों ने सत्ता के इस संघर्ष का अंतिम परिणाम तय किया। हालांकि हमारा उद्देश्य अंग्रेजों द्वारा भारत की विजय का सिलसिलेवार विस्तृत वृत्तांत प्रस्तुत करना नहीं है। इस इकाई में हमारा ध्यान एक राजनीतिक वर्णन की बजाए उभरती शाही विचार धाराओं और परम्पराओं पर होगा, जिन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन को सुदृढ़ करने और व्यवस्थित करने के प्रयास को आकार देने में मदद की। यह बहुत पहले था जब एक विस्तृत औपनिवेशिक नौकरशाही ने, विशेष रूप से 1860 के दशक से, लोगों को उनकी विशेषताओं के अनुसार वर्गीकृत करते हुए, जनगणना, सर्वेक्षण, नृवंशवैज्ञानिक वर्णनों के साथ, विनिमय और आदान-प्रदानों को दर्ज करते हुए स्थानों को चिह्नित करते हुए, दिनचर्या स्थापित करते हुए और अभ्यासों का मानकीकरण करते हुए, व्यस्त पाया।

4.2 प्रारंभिक छवियाँ

आरंभ में अंग्रेजों के दिमाग में भारत की एक तस्वीर बनी थी, यह तस्वीर उनके अपने पाश्चात्य अनुभव और खोज के लिए की गयी यात्राओं पर आधारित थी। एडवर्ड टेरी और जॉन ओविंगटन भारत की यात्रा करने वाले आरंभिक यात्रियों में से एक थे, उन्होंने 1659 के मुगल शासन को ''मुस्लिम निरंकुशता का एक अन्य उदाहरण'' के रूप में वर्णित किया है। आरंभ में आने वाले ब्रिटिश यात्री बर्नियर के लेखन से परिचित थे और उन्हें इसी के माध्यम से ऑटोमन और फारसी साम्राज्यों की जानकारी मिली थी। इस विवरण को ''आँखों देखा हाल'' समझ मुगल साम्राज्य और भारत के बारे में उन्होंने अपनी धारणा बना ली। क्सासिकल युग के विद्वान सर विलियम टेम्पल का मानना था कि लीकुरगुस और पायथागोरस ने भारतीयों से ही शिक्षा ग्रहण की थी। अंग्रेजों के बीच यह आम धारणा थी कि सत्रहवीं शताब्दी में भारत में परम्परागत शिक्षा लुप्त हो चुकी थी। टेरी का तर्क है कि प्राचीन काल में शिक्षा देने वाले ब्राह्मणों का पतन हो चुका था।

अंग्रेज इस पतन या अवनति के उदाहरण भी सामने रखते हैं। वो भारत के पश्चिमी तट के व्यक्तियों का भी उल्लेख करते हैं जहाँ रहने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में वे आए थे। उनके अनुसार, ये ''परिश्रमी, दब्बू कंजूस और कायर लोग थे उनके दृष्टिकोण और आदतें रूढ़ियों से ग्रस्त थीं'' इस रूढ़िवादिता के उदाहरणस्वरूप जाति प्रथा का बार-बार उल्लेख किया जाता था। कुल मिलाकर यह धारणा आगे भी बनी रही। हालांकि स्थाई रूप से जमने के बाद अंग्रेजों को भारत के यथार्थ का सामना करने का और भी मौका मिला।

4.3 वारेन हेस्टिंग्स और भारत संबंधी छवि

अंग्रेजों के मन में यह अवधारणा बनी हुई थी कि भारतीयों की अवनति हुई हैः अठारहवीं शताब्दी की घटनाओं से यह धारणा और भी पुष्ट हुई। इसी के साथ-साथ आरंभिक प्रशासक भारत के अतीत के गौरव की बात करते थे। उनका मानना था कि भारत के प्रशासन को सही ढंग से नियंत्रित करने के लिए भारत और इसके अतीत का पूर्ण ज्ञान जरूरी है।

वारेन हेस्टिंग्स ने इस कार्य को अपेक्षाकृत गंभीरता पूर्वक लिया। वह जानता था कि इस

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 44 24-03-2021 11:47:18

कार्य को सम्पन्न करने के लिए कुछ ऐसे प्रशासकों की जरूरत है जो अपने स्वार्थों से ऊपर उठे हुए हों। इस उद्देश्य से उसने कुछ ऐसे संगठनों की स्थापना का प्रयत्न किया, जो भारत के स्वर्णिम अतीत संबंधी ज्ञान की खोज करें, और फिर उन लोगों को इस ज्ञान से परिचित कराएं जिन्हें इस देश का प्रशासन चलाना है।

यह दृष्टिकोण प्राच्यवादियों के दृष्टिकोण के रूप में जाना जाता है और वारेन हेस्टिंग्स के अलावा और लोग भी इसके समर्थक थे।

4.3.1 विलियम जोन्स

इस उद्देश्य से एक अंग्रेज न्यायविद् विलियम जोन्स ने भारत को नए सिरे से जानना शुरू किया। विलियम जोन्स ब्रिटिश राजनीति की विंग परम्परा का अनुयायी था और उसने अंग्रेजों को भारत की तस्वीर से परिचित कराने का बीड़ा उठाया। भारत आने पर जोन्स ने महसूस किया कि भारत को जानना एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। उसने अनुभव किया कि इसके लिए एक वैज्ञानिक अध्ययन की जरूरत है, जिसमें मेहनती और विद्वान लोगों की सहायता अपेक्षित है इस उद्देश्य से प्रसिद्ध एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई। इस सोसाइटी का उद्देश्य, एशिया में रहकर और एशिया से बाहर रहकर दोनों प्रकार से हम महादेश की छिपी वास्तविकता को उजागर करना था।

जोन्स के प्रयासों और वारेन हेस्टिंग्स के दृष्किोण का मेल इस सोसाइटी में हुआ। सोसाइटी को गवर्नर जनरल का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस सोसाइटी ने भारत के सामाजिक धार्मिक, भाषायिक और राजनीतिक पक्षों की गहराई से और नजदीक से अध्ययन किया। वस्तुतः यह अध्ययन गहराई से किया गया, पहले यात्री आते थे; ऊपरी तौर पर भारत को देखकर, उसके प्रति एक धारणा बनाकर लौट जाते थे।

एशियाटिक सोसाइटी ने फारसी और संस्कृत ग्रंथों, पुराणों और कालिदास की रचनाओं को अनुवादित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। दूसरे, एशियाटिक सोसाइटी के सदस्यों ने भारतीय समाज और धर्म पर शोध किया और अनेक आलेख लिखे। इसके परिणामस्वरूप भारत और उसकी संस्कृति से सम्पूर्ण यूरोप परिचित हो सका। इसमें जोन्स का योगदान उल्लेखनीय है।

4.3.2 हेस्टिंग्स की नीति : व्यवहार में

हेस्टिंग्स ने कुछ व्यावहारिक कारणों से एशियाटिक सोसाइटी को प्रोत्साहन दिया। इस समय तक उसने क्लाइव की ''द्वैध नीति'' को छोड़ने का मन बना लिया था और वह चाहता था कि बंगाल की जिम्मेदारी ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने हाथों में ले ले। पर वह भारत में अंग्रेजी कानून और अंग्रेजी तौर तरीके लागू करने के पक्ष में नहीं था। उसका मुख्य विचार था कि ''विजितों पर उनके तरीके'' से शासन किया जाए। उसने अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन के तीव्र विकास के कारण कुछ पूर्वाग्रह उभर कर सामने आए हैं। उसके विचार में इस प्रवृत्ति पर रोक लगनी चाहिए। दूसरे वह भारतीय संस्थाओं के साथ ब्रिटिश शासन का तादात्म्य स्थापित करना चाहता था। इसके लिए इस देश के ''आचार और रीति-रिवाजों'' की गहराई से छानबीन और भारतीय साहित्य और कानून के व्यापक विश्लेषण की जरूरत थी। इस उद्देश्य से हेस्टिंग्स के एक महत्वपूर्ण सहकर्मी हैलहेड ने धार्मिक और रीति-रिवाज संबंधी कानूनों की सूची तैयार की जिसे ''जेंटू लॉ'' के नाम से जाना गया। इस सूची को तैयार करने का उद्देश्य देश की जनता से मेल-मिलाप या प्राप्त उपलब्धि को स्थिरता प्रदान करने वाली प्रक्रिया को समझना था। हैलहेड का मानना था कि इससे वाणिज्य और राज्य की स्थापना के अवसरों को और भी मजबूत बनाने में मदद मिलेगी।

4.4 संस्थानीकरण

आरंभ में समृद्ध भारतीय अतीत को खोजने का प्रयत्न किया गया। धीरे-धीरे यह प्रयत्न ब्रिटिश की व्यवहार का एक अंग बन गया। आगे आने वाले प्रशासकों को इस दिशा में

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 45 24-03-2021 11:47:18

प्रशिक्षित करने की वारेन हेस्टिंग्स की नीति का पालन वेलेज़ली ने भी किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की।

फोर्ट विलियम कॉलेज में छात्रों को विशेष रूप से भारतीय भाषाओं की जानकारी दी जाती थी, ताकि जब वे भविष्य में प्रशासक का पद संभालें तब देशी भाषाओं और बोलियों से परिचित रहें और भारत के अतीत को सटीक ढंग से समझ सकें। मसलन फारसी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना व्यावहारिक था। अधिकांश भारतीय राज्यों में सरकारी और कामकाज की भाषा फारसी थी। इस प्रकार भारत के अतीत को जानने की ललक और ब्रिटिश प्रशासन की जरूरतें एक दूसरे में घुलमिल गयीं।

तत्कालीन प्रशासकों के भारतीय अतीत संबंधी दृष्टिकोण के बारे में भावी प्रशासकों को प्रशिक्षित करने के लिए उठाए गए कदमों को कम करके नहीं आँकना चाहिए। विभिन्न अधीनस्थ भारतीय शासकों के दरबार में नियुक्त भारत रेजिडेंट फारसी भाषा की जानकारी रखने के साथ उसका उपयोग भी करते थे और दरबार के सांस्कृतिक जीवन पद्धति को भी अपनाते थे। भारतीय दरबारियों से तादात्म्य स्थापित करने के लिए वे भारतीय वस्त्र पहनते थे और दरबार के नियमों का पालन करते थे। वे अधिकांश दरबार के नियमों और कायदों का भी पालन करते थे, जबकि शासक के सभी निर्णयों में उनकी हिस्सेदारी प्रमुख होती थी। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से ब्रिटिश राज के अधीन होने के बावजूद भारतीय शासकों को एक प्रकार की सांस्कृतिक स्वतंत्रता थी।

पर अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए और एक अधिक सक्षम प्रशासनिक ढाँचा कायम करने के लिए अंग्रेजों के लिए कानून तथा भूमि संबंधी संपत्ति जैसी भारतीय संस्थाओं को जानना जरूरी था। इसी समय ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हुई और ब्रिटेन से बाहर बाजार और कच्चे माल की खोज शुरू हो गई। वहाँ के उद्योगपतियों की इन जरूरतों का भी ब्रिटेन के नीति निर्धारकों को ध्यान रखना था।

4.5 इवैंजेलिकलिज्म और अन्य नयी प्रवृत्तियाँ

अंग्रेजों की इन नई जरूरतों को ध्यान में रखकर भारतीय संस्थाओं और कानूनों पर पुनर्विचार आवश्यक हो गया। नए उत्पादों की खपत के लिए एक नया माहौल बनाना जरूरी हो गया। इस दृष्टि से, कम से कम, समाज की ऊपरी तबके के रहन-सहन और संस्कृति को बदलना जरूरी हो गया।

आरंभ में भारतीय अतीत को जानने के लिए बनी संस्थाएँ एक प्रकार के समझौते का परिणाम थी, जो कंपनी के वाणिज्य और प्रशासन के हितों को पूरा करती थीं। इनकी नीति थी ''भारतीय समाज को जानो पर इस छेड़ो मत''। श्रीरामपुर मिशनरियों ने एक तरह से इस समझौते का विरोध किया, जो भारतीय समाज की वर्तमान अवनति में ''सुधार'' लाना चाहती थी। हालांकि श्रीरामपुर मिशनरियों ने भारतीय परंपरा का सम्मान करते हुए यह काम चुपके-चुपके किया, पर चार्ल्स ग्रांट जैसे बाद के मिशनरियों ने ''भारतीय बर्बरता'' का खुल कर विरोध किया। चार्ल्स ग्रांट के इस विरोध के साथ इवैंजेलिकलिज्म की एक नई विचारधारा सामने आई जिसके पीछे भारत को ''सभ्य'' बनाने की इच्छा कार्यरत थी। उसने अपने इस प्रयत्न को ईसाई धर्म के रंग में रंग दिया और भारत को ''सभ्य'' बनाने का बीड़ा उठाया।

भारत को ''सभ्य'' बनाने का यह प्रयत्न ब्रिटिश उदारवाद की अभिव्यक्ति थी, जो यहाँ मैकाले के कार्यों के रूप में प्रकट हुई। उदारवादी ब्रिटिश प्रशासकों का उद्देश्य भारतीयों को दबाना नहीं बल्कि ''सभ्य'' बनाना था। ब्रिटेन के व्यापारी समुदाय ने ''सभ्य'' बनाने के इस प्रयास का समर्थन किया। इसके तहत जो कानून बनते उनसे उन्हें भारत में संपत्ति बनाने का अधिकार मिलता और ''मुक्त व्यापार'' के द्वारा वे भारत में ब्रिटिश माल के

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 46 24-03-2021 11:47:18

खपत की समस्या का समाधान ढूँढ सकते थे। चार्ल्स ग्रांट भौतिक समृद्धि और सभ्यता की प्रक्रिया के तालमेल को अच्छी तरह समझता था। इसी ढर्रे पर 1838 ई. में एक अन्य उदारवादी सी. ई. ट्रेवेलियन ने भारत को ''ब्रिटिश सद्भाव का गौरवशाली कीर्तिस्तम्भ'' कहकर चित्रित किया।

बोध प्रश्न-1

1) विलियम जोन्स और भारत के बारे में लिखने वाले आरंभिक यात्रियों में क्या अंतर था?

.....

.....

.....

2) वारेन हेस्टिंग्स भारत के अतीत का अध्ययन क्यों करना चाहता था?

.....

.....

.....

3) क्या श्रीरामपुर मिशनरी और चार्ल्स ग्रांट वारेन हेस्टिंग्स की भारत संबंधी नीति से सहमत थे?

.....

.....

.....

4.5.1 सुधार के प्रयत्न

समृद्धि और सभ्यता के उन्नायक की भूमिका निभाते हुए ब्रिटेन द्वारा अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ''सुधार के विचार'' को कार्यान्वित किया गया। इस उद्देश्य को सामने रखते हुए कार्नवालिस ने बंगाल के जमींदारों के साथ राजस्व संबंधी स्थाई बंदोबस्त किया। कार्नवालिस का यह अनुमान था कि कृषि आय का मुख्य स्रोत है और इस कार्यवाई से कृषि क्षेत्र का पूँजी निर्माण और बाजार के लिए उपयोग किया जा सकता है, इससे एक समृद्ध भूमिपति वर्ग तैयार होगा जो राज्य के प्रति उत्तरदाई होगा। इससे एक ऐसा उद्यमी वर्ग पैदा होगा जो भूमि संबंधी विकास के साथ-साथ व्यापार को बढ़ाने में भी सहयोग देगा। जॉन शोर ने स्थाई बंदोबस्त की इस व्यवस्था को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण अदा की। उसे देहाती इलाकों का अनुभव था और उसने कार्नवालिस के सुधार संबंधी दृष्टिकोण का समर्थन किया। उसके अनुसार यह सुधार धीरे-धीरे नए प्रयोगों के माध्यम से लाना होगा और नए परिवर्तन के लिए प्रयास करने होंगे।

4.5.2 संरक्षण और मुनरो

दक्षिण में पदस्थ मुनरो और उसके प्रसिद्ध सहकर्मी मालकौम और मेटकाफ कार्नवालिस के आलोचकों में प्रमुख थे। उनके अनुसार कार्नवालिस की व्यवस्था में भारतीय इतिहास या अनुभव के प्रति कोई सम्मान भावना नहीं थी। उन्होंने इस बात का विरोध किया कि विदेशी अंग्रेजी परम्परा के सिद्धांतों के आधार पर एक राजनीतिक समाज का निर्माण किया जा सकता है। इसी कारण से उन्होंने कार्नवालिस द्वारा लागू किए गए अंग्रेजी शासन के कानून का विरोध किया, जिसमें सरकार की न्यायिक और कार्यकारी शक्तियों का कठोर विभाजन किया गया था।

मुनरो मानता था कि राजनीति में प्रयोग भी किए जाने चाहिए और इसे व्यावहारिक भी

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 47 24-03-2021 11:47:19

होना चाहिए। उसके विचार से ब्रिटिश शासन को स्थापित हुए अभी कम समय हुआ है और इतनी जल्दी स्थाई समाधानों की प्रस्तुति प्रासंगिक नहीं है। इसी कारण से उसने रैयतवाड़ी के सावधिक संशोधन का समर्थन किया। उसका यह भी मानना था कि भारत की अक्षुण्ण परंपरा, खासकर ग्राम्य विशेषताओं को संरक्षित किया जाना चाहिए। किसी भी कानून और व्यवस्था की समस्या को सुलझाने के लिए ऐसी व्यवस्था कायम की जानी चाहिए जिसमें न्यायपालिका और कार्यकारी शक्तियाँ एक दूसरे में आबद्ध हों। उसके अनुसार इससे कृषकों के साथ न्याय हो सकेगा और साथ ही साथ ब्रिटिश शासन के उद्देश्यों की पूर्ति भी हो सकेगी।

मुनरो और उसके सह-कमियों ने भारतीय परम्परा के संरक्षण की बात की और इस उद्देश्य से भारत में केंद्रीय सत्ता लागू किए जाने का विरोध किया और भारतीय सरकार के विकेंद्रीकरण पर बल दिया।

इस संदर्भ में भारतीय मस्तिष्क को बदल पाना एक जटिल कार्य हो गया। इस प्रक्रिया में उदारवादी मैकाले ने कहा कि भारत में शिक्षा का प्रसार ब्रिटिश प्रशासन की प्रमुख जिम्मेदारी है। यह मुद्दा विवाद के घेरे में आ गया। मैकाले की शिक्षा पद्धति का विरोध प्राच्यवादियों और मुनरों जैसे व्यावहारिक आँग्ल-भारतीयों ने किया जो भारतीय संस्थाओं और संस्कृति को संरक्षित रखना चाहते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पश्चिमी या अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को लागू करने का मसला विवादास्पद हो गया।

4.6 उपयोगितावादी

उपयोगितावादी उदारवादियों के शिक्षा संबंधी उद्देश्य, मसलन भारत को सभ्य बनाना और उसका सुधार करना, से बिलकुल सहमत नहीं थे। उनका उद्देश्य यह था कि कानून और भूमि संबंधी नियमों को इस तरह बदला जाए कि बाजार निर्माण का रास्ता प्रशस्त हो। उनका विश्वास था कि प्रसिद्ध दार्शनिक जेर्मी बेंथम के निर्देशन में एक वैज्ञानिक और तर्कसंगत दृष्टिकोण विकसित हो सकता है, यह कानून और भूमि संबंधी नियमों का ऐसा समाधान प्रस्तुत कर सकता है, जिससे ''अधिकतम लोगों का अधिकतम हित'' सिद्धांत का पालन किया जा सकता है।

4.6.1 कानून का प्रश्न

उपयोगितावादी के विचारों का भारत के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण के निर्माण पर मूलभूत प्रभाव पड़ा। बेंटिक ने कानून को परिवर्तन का एक माध्यम बनाया। उसका विश्वास था कि सती और बालिका हत्या जैसे भारतीय रीति-रिवाजों को कानून द्वारा ही रोका जा सकता है। जेम्स मिल के ईस्ट कम्पनी के लंदन स्थित कार्यालय में पदस्थ होने के बाद उपयोगितावादियों ने प्राच्यवादियों (ओरियंटलिस्ट) कार्नवालिस और मुनरो की विरासत पर नपा-तुला आघात किया और उनकी नीतियों को स्थगित करने की योजना बनाई। अपने सैद्धांतिक विश्वासों के आधार पर उपयोगितावादियों ने राजनीतिक सुधार को कार्य रूप देने का निश्चय किया। बेंथम के सिद्धांतों को आधार बनाकर कई कानून और दंड संहिताएँ लागू की गयीं और एक ऐसी व्यवस्था कायम की गयी जो निचले स्तर तक जाकर लोगों को प्रभावित कर सके। इस उद्देश्य के लिए काम करने का निर्देश दिया गया।

LETTER 222

Bentinck's reply to the petition on sati

222. *Bentinck's reply to the petition on sati*

14 July 1830

The governor-general has read with allention the petition which has been presented to him: and has some satisfaction in observing that the opinions of the

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 48 24-03-2021 11:47:19

pundits consulted by the petitioners confirm the sup-position that widows are not, by the religious writings of the Hindus, commanded to destroy themselves; but that, upon the death of their husbands the choice of a life of strict and severe morality is everywhere expressly offered: that in the books usually considered of the highest authority it is commanded above every other course; and is stated to be adapted to a better state of society; such as, by the Hindus, is believed to have subsisted in former times.

Thus, none of the Hindus are placed in the distressing situation of having to disobey either the ordinances of the government or those of their religion. By a virtuous life a Hindu widow not only complies at once with the laws of the government and with the purest precepts of her own religion, but affords an example to the existing generation of that good conduct which is supposed to have distinguished the earlier and better times of the Hindu people.

The petitioners cannot require the assurance that the British government will continue to allow the most complete toleration in matters of religious belief, and that to the full extent of what it is possible to reconcile with reason and with natural justice they will be undisturbed in the observance of their established usages. But, some of these, which the governor-general is unwilling to recall into notice, his predecessors in council, for the security of human life, and the preservation of social order, have, at different times, found it necessary to prohibit. If there is any one which the common voice of all mankind would except from indulgence it is surely that by which the hand of a son is made the instrument of a terrible death to the mother who has borne him, and from whose heart he has drawn the sustenance of his helpless infancy.

The governor-general has given an attentive consideration to all that has been urged by the numerous and respectable body of petitioners: and has thought fit to make this further statement, in addition to what had been before expressed as the reasons, which, in his mind, have made it an urgent duty of the British government to prevent the usage in support of which the petition has been preferred: but if the petitioners should still be of opinion that the late regulation is not in conformity with the enactments of the imperial parliament, they have an appeal to the king in council, which the governor-general shall be most happy to forward.

सती के प्रश्न पर बेंटिक

4.6.2 भू-राजस्व का प्रश्न

मिल ने उपयोगितावादी अर्थशास्त्र के अनुरूप भू-राजस्व में बदलाव लाने की नीति का समर्थन किया। इसमें एक तरफ मुनरो के रैयतवाड़ी बंदोबस्त की तरह किसानों से सीधे सम्पर्क स्थापित करने की बात की गयी और दूसरी तरफ रिकार्डो के सिद्धांत के अनुसार, भूमिपतियों पर करारोपण का मसला सामने आया। यह करारोपण इस ढंग से किया गया था कि मात्र भूमि की मिल्कियत प्राप्त कर लेने से भूमिपतियों को उत्पाद और व्यापार के मामले में अतिरिक्त लाभ न पहुँचे। इसका अर्थ यह था कि भूमिपतियों को शुद्ध उत्पाद (Net Produce) का एक हिस्सा देना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि कुल उत्पाद में से खेती का खर्च निकालकर बची हुई राशि राज्य को देनी पड़ेगी।

राजस्व की इस नीति को प्रिंगल जैसे पदाधिकारियों ने बंबई में कार्य रूप दिया। भूमि

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 49 24-03-2021 11:47:19

के ''शुद्ध उत्पाद'' को मापने के लिए व्यापक सर्वेक्षण किए गए। इसके बाद कर की दर निर्धारित की गयी। कर का यह निर्धारण काफी ऊंची दर पर किया और किसी-किसी स्थान पर यह कुल उत्पाद के 50 से 60 प्रतिशत तक भी पहुँच गया। इस कारण से जटिल आकलन पर आधारित राजस्व निर्धारण का इरादा छोड़ दिया गया। 1849 के दशक में परम्परा से चले आ रहे कर निर्धारण की पद्धति को अपनाया गया जिसमें अनुमान और अनुभव के आधार पर कर निर्धारण किया जाता था।

पर सिद्धांततः राजस्व निर्धारण के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को नहीं छोड़ा गया। शुद्ध रूप में अनुमान और अनुभव पर आधारित होने के बावजूद राजस्व निर्धारण सिद्धांत में आकलन का महत्व दर्शाया जाता रहा। इस सिद्धांत के औचित्य निर्धारण का कोई व्यावहारिक कारण नहीं था, क्योंकि आगे आने वाले दशकों में कर दे रहे किसानों के अधिकारों और दायित्व की बात पृष्ठभूमि में चली गयी थी। इसके बावजूद उपयोगितावादियों द्वारा मुनरो के समक्ष वैज्ञानिक आकलन (भारतीय परम्परा से संबंधित) प्रस्तुत किए गए। यह एक विरोधाभास सा प्रतीत होता है।

4.6.3 साम्राज्य का उभरता दृष्टिकोण

अंग्रेजी उपयोगितावादी विचार में एक निरंकुशता की प्रवृत्ति देखने को मिलती है जो बाहर के देशों में पूर्ण विकसित तानाशाही के रूप में स्थापित हुई। उदारवादी परम्परा में जन्म लेने के बावजूद उपयोगितावादी भारत में कभी भी प्रजातांत्रिक सरकार को स्वीकार नहीं कर सके। जेम्स मिल ने तत्कालीन व्यवस्था में या भविष्य में हमेशा भारत में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना का विरोध किया।

डलहौज़ी के नेतृत्व में साम्राज्य का दृढ़ीकरण हुआ, इसमें भारत संबंधी ब्रिटिश धारणा के अंतर्विरोध स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आए। डलहौजी ने जेम्स मिल की धारणा को और आगे बढ़ाया तथा उसने देशी भारतीय राज्यों के प्रति आक्रमणकारी रुख अपनाया। इसके अतिरिक्त बेंथमवादी परम्परा का पोषण करते हुए उसने एक उच्चाधिकारी के नेतृत्व में अखिल भारतीय विभागों, मसलन डाक और तार विभाग; जन कार्य विभाग आदि की स्थापना की। इन विभागों की स्थापना करके वह एकीकृत अखिल भारतीय साम्राज्य के ढाँचे में कुशल प्रशासन की अवधारणा को अंजाम देना चाहता था। यह व्यवस्था मुनरो की भारत संबंधी धारण के बिल्कुल विपरीत थी, जिसमें क्षेत्रीय राज्यों के एक ढीले संघ की बात की गयी थी।

इसी के साथ-साथ कुल मामलों में डलहौजी ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाने की भी चेष्टा की। मसलन, उसने विधान परिषद को गैर अधिकारी विचारधारा की प्रतिनिधि संस्था के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया। उसने विधान परिषदों में भारतीय सदस्यों को शामिल किए जाने का भी समर्थन किया। उसने मैकाले की अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देने की नीति का समर्थन किया। इसके साथ-साथ उसके सहकर्मी थामसन ने व्यापक रूप में देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने का समर्थन किया।

इसके बावजूद यह धारणा धीरे-धीरे लुप्त हो गई कि भारतीय समाज को बदलने के लिए कानून, भूमि संपदा या शिक्षा को बदलना चाहिए। आचार संहिता, राजस्व प्रशासन, शिक्षा और अखिल भारतीय साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण के बाद प्रशासन की कुशलता मुख्य मुद्दा बन गया। ब्रिटिश प्रशासन में व्यावहारिकता, तर्कसंगतता और कार्यकुशलता को प्रमुखता दी जाने लगी। प्रशासन के लिए अभी भी उपयोगितावादी तर्कों का उपयोग किया जाता रहा, मैकाले के नेतृत्व में हुआ कानून संहिता संबंधी परिवर्तन इसका ज्वलंत उदाहरण है। पर, सम्पूर्ण रूप में सुधार की अवधारणा की बात कम की जाने लगी।

इस काल के बाद के ब्रिटिश प्रशासकों ने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि ब्रिटिश प्रशासन को हमेशा कानून का सहारा लेना चाहिए। इस सन्दर्भ में यह तर्क दिया गया कि कशल प्रशासक के लिए बल प्रयोग लाजिमी है और इसके लिए राजनीतिक बदलाव या

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 50 24-03-2021 11:47:19

सुधार जैसी बातों का कोई महत्व नहीं है। इस प्रकार भारत को सुधारने की व्यवहारवादी नीति का स्थान कुशल और अच्छी सरकार के सिद्धांत ने ले लिया और ब्रिटिश प्रशासन द्वारा कड़ा रुख अपनाया गया।

बोध प्रश्न-2

1) मुनरो कार्नवालिस का आलोचक क्यों था?

.....

.....

.....

2) बेंटिक भारत में सामाजिक परिवर्तन कैसे लाना चाहता था?

.....

.....

.....

3) क्या जेम्स मिल भारत में प्रजातंत्र की स्थापना का समर्थक था?

.....

.....

.....

4) उपयोगितावादियों ने भू-राजस्व की समस्या को किस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न किया?

.....

.....

.....

5) क्या डलहौज़ी देशी राज्यों को अपने गिरफ्त में लेना चाहता था?

.....

.....

.....

4.7 सारांश

प्रत्येक साम्राज्य अपना एक तर्काधार ढूँढता है। हमने इस इकाई में देखा कि अपने विस्तार के क्रम में ब्रिटेन में ''सभ्य बनाने की योजना'' का सहारा लिया। एक तरफ उसने अपने लोलुप आक्रमणकारी और लूटमार के इतिहास को गौरवान्वित करने की कोशिश की और दूसरी तरफ एक खास उद्देश्य से विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उद्देश्य सभी व्यक्तियों के लिए एक जैसा नहीं था। जैसा कि हमने देखा विलियम जैसे व्यवहारवादी, चार्ल्स ग्रांट जैसे इवैंजेलिकलिस्ट, जेम्स मिल जैसे उपयोगितावादी और मुनरो और डलहौजी के दिमाग में अलग-अलग बातें थीं। वस्तुतः भारत के निर्माण के संबंध में प्राच्यवादियों, इवैंजेलिकलिस्ट और उपयोगितावादियों के विचार अलग-अलग थे। पर कुल मिलाकर इन सभी विचारों का उद्देश्य एक था और यह उद्देश्य तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 51 24-03-2021 11:47:19

4.8 शब्दावली

ईवेंजंलिकलिज्म (Evangelicalism) : अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड में हुआ प्रोटेस्टैंट क्रिश्चियन आन्दोलन जिसने रूढ़िवादी चर्च के विपरीत व्यक्तिगत अनुभव पर बल दिया, परम्परागत चर्च के विचारों को पड़ने के बजाय गोस्पेल के विचारों के अध्ययन पर बल दिया।

विरोधाभास : अंतर्विरोधवक्तव्य, विश्वास आदि।

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उपभाग 4.3.1
2) देखें भाग 4.3, उपभाग 4.3.2
3) देखें भाग 4.5

बोध प्रश्न-2

1) देखें उपभाग 4.5.2
2) देखें उपभाग 4.6.1
3) देखें उपभाग 4.6.3
4) देखें उपभाग 4.6.2
5) देखें उपभाग 4.6.3

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 52 24-03-2021 11:47:19

इकाई 5 1857 का विद्रोह

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 1857 के कारण

- 5.2.1 कृषकों का शोषण
- 5.2.2 रियासतों का विलय
- 5.2.3 अंग्रेजी शासन का विदेशीपन
- 5.2.4 सिपाहियों पर प्रभाव
- 5.2.5 धर्म का खतरा
- 5.2.6 तत्कालिक कारण

5.3 विद्रोह का उद्‌भव

5.4 विद्रोह की प्रमुख घटनाएँ

- 5.4.1 सेना का विद्रोह
- 5.4.2 जन-विद्रोह

5.5 बगावती संस्थाएँ

5.6 विद्रोह का दमन और शमन

5.7 विद्रोह के पश्चात

- 5.7.1 भूमिपति
- 5.7.2 राजे-महाराजे
- 5.7.3 सेना
- 5.7.4 विद्रोह के बाद ब्रिटिश नीति

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

पहले की इकाइयों में आपने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त की है। आप जानते हैं कि देश पर अपने शासन काल के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय जनता को शोषित तथा उत्पीड़ित किया। यद्यपि समय-समय पर भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों ने अंग्रेजी हुकूमत का विरोध किया किंतु यह 1857 का महान् विद्रोह था जिसने अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी हुकूमत को जबरदस्त चुनौती दी, जिसे बहुधा प्रथम स्वाधीनता संग्राम कहा जाता है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- 1857 के विद्रोह के कारणों का सुराग पा सकते हैं,
- विभिन्न घटनाओं तथा संघर्षों तथा विभिन्न वर्गों और उनके नेताओं की भूमिका के विषय में जान सकते हैं,
- उन क्षेत्रों का पता लगा सकते हैं जहाँ 1857 कि विद्रोह में अंग्रेजी प्रभुसत्ता को सबसे गंभीर चुनौती मिली,

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 53 24-03-2021 11:47:19

- उन कारणों का पता लगा सकते हैं जिनसे यह विद्रोह विफल रहा,
- इसके प्रभाव को समझ सकते हैं और विद्रोह की प्रकृति के बारे में राय बना सकते हैं,
- मई और जून 57 और उसके बाद के महीनों में विद्रोह की प्रगति पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- सितम्बर 1857 में दिल्ली के आत्मसमर्पण के बावजूद विद्रोह के प्रबलता को रेखांकित कर सकेंगे,
- विद्रोह के दौरान बनी संस्थाओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- इन्हें दबाने के प्रयत्नों का वर्णन कर सकेंगे,
- 1857 के बाद के वर्षों में कृषीय संबंधों के पुनर्गठन पर विचार कर सकेंगे, और
- राजाओं और मुसलमानों के प्रति औपनिवेशिक नीति के बारे में बता सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

1857 का विद्रोह ब्रिटिश शासन से भारतीय जनता की मुक्ति के संघर्ष के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण अध्यायों में से एक है। इसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी और कई बार तो ऐसा लगने लगा कि भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य का अंत हो जाएगा। यद्यपि यह एक महज सिपाही विद्रोह के रूप में शुरू हुआ था किंतु शीघ्र ही इसने उत्तर भारत के विस्तृत क्षेत्र की जनता एवं कृषक वर्ग को भी शामिल कर लिया। इस विद्रोह ने इतना व्यापक रूप लिया कि उस समय के कुछ पर्यवेक्षकों ने इसे राष्ट्रीय विद्रोह की संज्ञा दी। फिरंगियों के प्रति घृणा का भाव इतना तीव्र एवं तीखा था। मई और जून 1857 के बीच उत्तर भारत के प्रमुख ब्रिटिश केंद्रों आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद और बनारस की घेराबंदी कर दी गई थी। इस समय तक यह विद्रोह अवध, रोहिलखंड, बुंदेलखंड, बिहार और मध्य भारत के कई क्षेत्रों में फैल गया था।

इस इकाई में विद्रोह की प्रक्रिया, उस दौरान घटने वाली घटनाओं, औपनिवेशिक शक्ति के प्रतीकों पर होने वाले प्रहार और नए विद्रोही संस्थाओं के उदय का जिक्र किया गया है।

5.2 1857 के कारण

यह विद्रोह कैसे भड़का? इसके कारण क्या थे? इसका मुख्य कारण अंग्रेजों द्वारा भारतीय जनता का अमानवीय शोषण था। ब्रिटिश शासन जिसका प्रारंभ विधिवत् रूप से 1757 में प्लासी युद्ध के बंगाल में हुआ था, भारतीयों का शोषण कर ईस्ट इंडिया कंपनी का खजाना भरता रहा। ईस्ट इंडिया कंपनी सौदागरों और व्यापारियों द्वारा शासित थी जो स्वयं को समृद्ध करने के लिए किसी भी हद तक जा सकते थे।

5.2.1 कृषकों का शोषण

यद्यपि व्यापार क्षेत्र में एकाधिकार से ईस्ट इंडिया कंपनी समृद्ध हो गयी तथापि उसकी आय का मुख्य स्रोत भूमि ही था। बंगाल में स्वयं को स्थापित करने के पश्चात इसने भारतवर्ष में अपनी शक्ति, युद्ध तथा संधियों के जरिए बढ़ायी। पैसा उगाहने के लिए जहाँ तक संभव हुआ भूमि व्यवस्था के नए उपाय निकाले – स्थाई, रैयतवारी, और महलवारी एक से बढ़कर एक दमनकारी। स्थायी भूमि व्यवस्था में जो बंगाल प्रेसीडेंसी तथा उत्तर भारत के बड़े हिस्से में लागू थी, कृषकों को भूमि पर वंशानुगत स्वामित्व अधिकार नहीं दिया गया जो उन्हें पहले प्राप्त था। राजभक्त जमींदार तथा राजस्व संग्रहकर्ता को अब भूमि का स्वामित्व अधिकार दे दिया गया। कृषकों की हैसियत घटकर एक सामान्य काश्तकार की सी हो गयी। परन्तु नए भू-स्वामियों को भी पूर्ण अधिकार नहीं दिया गया। उनकी स्थिति को जानबूझकर अधर में लटकाए रखा गया। कृषकों से प्राप्त लगान में से 10/11वाँ हिस्सा उन्हें कंपनी को देना पड़ता था ऐसा नहीं कर पाने पर उनकी सम्पत्ति को दूसरों के हाथ बेच दिया जाता था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 54 24-03-2021 11:47:19

अन्य भूमि व्यवस्था भी कोई बेहतर नहीं थी। हर स्थिति में इन कृषकों को अपनी हैसियत से ज्यादा लगान भरना पड़ता था और अगर कभी कोई प्राकृतिक विपदा जैसे – सूखा व बाढ़ हुई तो उन्हें बाध्य होकर महाजनों से कर्ज लेना पड़ता था जो उनसे अत्यधिक सूद लेते थे। इससे खेतिहर कर्ज के बोझ से इतना ज्यादा दब जाते थे कि उन्हें बाध्य होकर अपनी भूमि इन महाजनों के हाथ बेच देनी पड़ती थी। यही कारण है कि ग्रामीण समाज में ये महाजन बहुत अधिक घृणा से देखे जाते थे। प्रशासन के निम्नस्तरीय अधिकारी भी कृषकों पर अत्याचार करते थे और छोटे से छोटा बहाना बनाकर इनसे पैसा ऐंठ लेते थे। अगर ये खेतिहर न्याय की भिक्षा माँगने के लिए न्यायालय का दरवाजा खटखटाते थे तो उनकी पूर्ण बरबादी अवश्यम्भावी थी। जब फसल अच्छी होती थी तो खेतिहरों को पुराना कर्च चुकाना होता था, और जब खराब होती तो कर्च का बोझ दुगना हो जाता था। अधीनस्थ कर्मचारियों, न्यायालयों तथा महाजनों के बीच इस गठबंधन से ऐसी स्थिति पैदा हो गयी जिससे कृषक व्यग्र हो उठे और सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए किसी भी अवसर का स्वागत करने को तैयार हो गए।

5.2.2 रियासतों का विलय

ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने सहयोगियों को भी नहीं बख्शा। 1856 में नवाब वाजिद अली शाह के कुप्रशासन के बहाने अवध का देशी राज्य भी डलहौजी ने अंग्रेजी शासन में मिला लिया। इसके पहले 1848 में सतारा और 1854 में नागपुर तथा झांसी को इस बहाने मिला लिया था कि उनका कोई वंशानुगत अधिकारी नहीं था। इस विलय से इन राज्यों के शासक इतने क्षुब्ध हो उठे कि झांसी की रानी और अवध की बेगम अंग्रेजों के कट्टर दुश्मन बन गए। स्थिति और बदतर हो गयी जब अंग्रेजों ने नाना साहेब को, जो पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र थे, पेंशन देने से इंकार कर दिया। अवध के विलय से सिपाहियों में भी रोष था क्योंकि अधिकांश सिपाही अवध के ही निवासी थे। इस कार्रवाई से उनके देश प्रेम और गौरव को ठेस पहुँची। इसके अतिरिक्त चूँकि उनके रिश्तेदारों को अब भूमि-कर ज्यादा देना पड़ता था इससे सिपाहियों की आमदनी पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।

5.2.3 अंग्रेजी शासन का विदेशीपन

ब्रिटिश शासन की अलोकप्रियता का दूसरा कारण था उनका परायापन। वे भारतीयों से कभी भी मेल-जोल नहीं बढ़ाते थे, यहाँ तक कि उच्च वर्ग के भारतीयों का भी वे तिरस्कार करते थे। वे भारतवर्ष में बसने नहीं आए थे बल्कि सिर्फ यहाँ से पैसा घर ले जाने आए थे। इस कारण भारतीय कभी भी उनके प्रति घनिष्ठता नहीं बढ़ा पाए।

5.2.4 सिपाहियों पर प्रभाव

1857 की शुरुआत सिपाही विद्रोह से हुई थी। ये सिपाही मुख्यतः उत्तर और उत्तर-पश्चिम भारत के कृषक वर्ग से आए थे। जैसा कि हमने देखा है, ईस्ट इंडिया कंपनी की शोषक नीतियों से कृषक वर्ग गरीबी तथा बरबादी की ओर अग्रसर हो रहा था। इसका प्रभाव सिपाहियों पर भी पड़ा। वस्तुतः इनमें से अधिकांश कृषि से प्राप्त आय की कमी को दूर करने के लिए सेना में भरती हुए थे जैसे-जैसे समय बीतता गया उन्होंने अनुभव किया कि ऐसा कर पाना उनके वश में नहीं है। उनको 7 से 8 रुपए का मासिक वेतन प्राप्त होता था जिसमें से उन्हें अपने भोजन, वर्दी तथा व्यक्तिगत समानों के वहन के लिए भी चुकाना पड़ता था। एक भारतीय सिपाही का निर्वाह व्यय भारत में ब्रिटिश सिपाही पर आने वाले व्यय से एक तिहाई था। उसके अलावा भारतीय सिपाहियों के साथ ब्रिटिश अधिकारी अभद्र व्यवहार करते थे। उन्हें हमेशा गाली दी जाती थी और अपमानित किया जाता था। भारतीय जवान अपनी बहादुरी और महान् युद्ध सामर्थ्य के बावजूद सूबेदार के पद से ऊपर नहीं जा पाते थे जबकि इंग्लैंड का एक नव-नियुक्त सैनिक सीधा पदोन्नति पा जाता था।

5.2.5 धर्म का खतरा

सेवा सुविधाओं में आई गिरावट के अतिरिक्त एक और कारण भी था जिससे सिपाही बगावत पर उतर आए। उनको ऐसा लगने लगा कि ब्रिटिश शासन द्वारा उनके धर्म पर हमला

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 55 24-03-2021 11:47:19

हो रहा हैं। ऐसा संदेह आम जनता में भी पैदा हो रहा था। मिशनरियों के धर्मपरिवर्तन के रवैये तथा कुछ ब्रिटिश अधिकारियों ने लोगों के मन में यह डर पैदा कर दिया कि उनका धर्म खतरे में हैं। कई स्थानों से ईसाई धर्म में परिवर्तन के समाचार मिले। सरकार चर्च को अपने खर्च से चलाती थी और कई जगह मिशनरियों को पुलिस सुरक्षा भी प्रदान करती थी। इसके बाद सिपाहियों को अपनी जाति चिह्न (तिलक आदि) लगाने पर पाबंदी लगा दी गयी और 1856 में एक ऐक्ट पास हुआ जिसके तहत नए भर्ती होने वाले जवानों को आवश्यकता पड़ने पर विदेश में भी सेवा करने की शपथ लेनी पड़ती थी। इन सबसे सिपाहियों की रूढ़िवादी मान्यताएँ हिल उठीं और उन्होंने कई बार इन नीतियों के विरुद्ध जोरदार प्रतिक्रिया व्यक्त की। जैसे उदाहरण के लिए 1824 में जवानों के 40वें रेजिमेंट ने जो बैंरकपुर में था, समुद्री रास्ते से बर्मा जाने से इंकार कर दिया क्योंकि उनका धर्म उन्हें समुद्र को पार करने की अनुमति नहीं देता था। उसके जवाब में अंग्रेजों ने काफी बेरहमी दिखाई, रेजिमेंट को विघटित कर दिया तथा कुछ नेताओं को मौत के घाट उतार दिया।

1844 में सात बटालियनों ने वेतन और भत्ते के प्रश्न पर विद्रोह कर दिया। यहाँ तक कि 1837-1842 के अफगान युद्ध के समय सैनिक एकदम विद्रोह पर उतर आए थे।

सिपाहियों की तरह भारत की आम जनता भी अंग्रेजों के दमनकारी शासन के विरुद्ध विद्रोह पर उतर आई। इनमें से कच्छ (1816-32), कोल (1831) तथा संथालियों (1855-56) के विद्रोह प्रमुख हैं। परन्तु 1857 के विद्रोह की विशेषता यह थी कि यह सैनिक तथा आम जनता का मिला-जुला विद्रोह था। दोनों के परस्पर सहयोग ने इस विद्रोह को अत्यंत शक्तिशाली बना दिया।

5.2.6 तात्कालिक कारण

वातावरण इतना उत्तेजनापूर्ण था कि छोटी सी वजह भी विद्रोह का कारण बन सकती थी। ग्रीज लगे कारतूस का प्रसंग अपने आप में इतना गंभीर कारण था कि यह कारण अकेला ही विद्रोह की शुरुआत कर सकता था। यह सूखी लकड़ियों के ढेर के समान था, जिसे आग लगाने के लिए चिंगारी की आवश्यकता थी। नए एनफिल्ड राइफल की कारतूसें जिन्हें सेना में तुरंत लाया गया था उनको ढकने के लिए ग्रीज लगा पेपर होता था जिसे रायफल में भरने से पहले दाँत से काटना पड़ता था। कई बार ग्रीज गाय व सूअर की चर्बी से बना होता था। इससे हिन्दू और मुस्लिम सिपाही क्रुद्ध हो उठे और उन्हें विश्वास हो गया कि सरकार जानबूझकर उनके धर्म को नष्ट करना चाहती है। यही इस विद्रोह का तात्कालिक कारण बना।

5.3 विद्रोह का उद्‌भव

27 मार्च 1857 को बैरकपुर में तैनात एक युवा सैनिक मंगल पांडे ने अकेले ही ब्रिटिश अधिकारियों पर हमला करके बगावत कर दी। उसे फाँसी पर लटका दिया गया और इस घटना पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु इससे सिपाहियों में फैले अंसतोष तथा क्रोध का पता चल गया। इस घटना के एक महीने के अंदर 24 अप्रैल को मेरठ में तैनात देशी घुड़सवार सेना के नब्बे लोगों ने चर्बी लगे कारतूसों को इस्तेमाल करने से इंकार कर दिया। उनमें से 85 को बर्खास्त कर दिया गया तथा 9 मई को 10 साल के लिए जेल की सजा दे दी गई। इस पर शेष भारतीय सिपाहियों में जोरदार प्रतिक्रिया हुई और अगले दिन 10 मई को मेरठ में तैनात पूरी भारतीय फौज ने विद्रोह कर दिया। अपने साथियों को मुक्त कराकर तथा ब्रिटिश अधिकारियों को मारकर उन्होंने दिल्ली की ओर कूच करने का निर्णय लिया। इससे पता चलता है कि उनके दिमाग में ब्रिटिश शासन का कोई न कोई विकल्प था।

दूसरी बात जिससे यह साफ पता चलता है कि यह एक महज सिपाही विद्रोह ही नहीं था वह यह कि लोगों ने जैसे ही सिपाहियों के अधिकारियों पर गोली चलाने की आवाज सुनी, आसपास के सैन्य बाजारों को लूटना शुरू कर दिया और अंग्रेजों के बंगलों पर आक्रमण कर उन्हें जला डाला। आसपास के गाँवों के गुर्जर शहर में घुस आए और विद्रोह

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 56 24-03-2021 11:47:19

में शामिल हो गए। दूरसंचार के तार काट दिए गए तथा घुड़सवारों को जो संदेश लेकर दिल्ली जाते थे, रोक दिया गया। जैसे ही मेरठ के सैनिक दिल्ली पहुँचे वहाँ भी भारतीय सेना ने बगावत कर दी और विद्रोहियों में शामिल हो गए। उन्होंने वृद्ध बहादुर शाह ज़फर को भारत का सम्राट घोषित कर दिया। इस प्रकार 24 घंटे के अंदर एक मामूली विद्रोह से शुरू होकर यह पूरे तौर पर राजनीति बगावत में परिवर्तित हो गया।

अगले एक महीने में बंगाल की पूरी फौज ने बगावत कर दी। सारा उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम भारत शस्त्र लेकर अंग्रेजों के विरुद्ध खड़ा हो गया। अलीगढ़, मैनपुरी, बुलंदशहर, इटावा, मथुरा, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, शाहाबाद, दानापुर तथा पूर्वी पंजाब जहाँ भी भारतीय सैनिक थे, उन्होंने विद्रोह कर दिया। सेना के विद्रोह करने से पुलिस तथा स्थानीय प्रशासन भी तितर-बितर हो गया। इसके तुरंत बाद शहर तथा गाँवों में विद्रोह शुरू हो गए। लेकिन कई स्थान ऐसे भी थे, जहाँ के लोग सेना के विद्रोह से पहले से बगावत कर चुके थे। जहाँ भी विद्रोह भड़का सरकारी खजाने को लूट लिया गया, गोले बारूद जब्त कर लिए गए, बैरकों और न्यायालयों को जला डाला गया और कारागार के दरवाजे खोल दिए गए। गाँवों में कृषकों तथा बेदखल किए गए जमींदारों ने महाजनों तथा नए जमींदारों पर जिन्होंने उन्हें बेदखल किया था, हमला कर दिया। उन्होंने सरकारी दस्तावेजों तथा महाजनों के बही खातों को नष्ट कर दिया। उन्होंने अंग्रेजों के बनाए न्यायालयों, राजस्व कार्यालयों, राजस्व दस्तावेजों तथा थानों को नष्ट कर दिया। इस तरह विद्रोहियों ने उपनिवेशवादी शासन के सभी चिह्नों को मिटाने का प्रयास किया।

जिन क्षेत्रों के लोगों ने बगावत में सक्रिय भाग नहीं लिया उन लोगों ने भी अपनी सहानुभूति विद्रोहियों को दी और उनकी सहायता की। ये कहा जाता था कि विद्रोही सिपाहियों को अपने साथ भोजन नहीं ढोना पड़ता था क्योंकि गाँव वाले उन्हें भोजन खिलाते थे। दूसरी तरफ ब्रिटिश फौजों के प्रति जनता का विद्वेष भी स्पष्ट था। उन्होंने उन्हें किसी भी तरह की सहायता अथवा सूचना देने से इंकार किया और कई अवसर पर उन्होंने ब्रिटिश फौजों को गलत सूचना देकर गुमराह भी किया।

मध्य भारत में भी जहाँ कि शासक ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार थे, फौजों ने विद्रोह कर दिया। हजारों की संख्या में इंदौर सैन्यदल, इंदौर में विद्रोही सिपाहियों के साथ हो गए। इसी प्रकार से 20,000 से भी ज्यादा ग्वालियर की सैन्यदल तात्या टोपे तथा झाँसी की रानी के साथ चले गए। सारे उत्तर और मध्य भारत में ब्रिटिश शक्ति सिर्फ आगरा तथा लखनऊ तक ही सीमित हो गयी थी। अन्य जगह अंग्रेजी फौज तथा अंग्रेजी शासन ताश के पत्तों की तरह बिखर गए।

विद्रोह की सबसे ध्यान देने वाली बात हिन्दू-मुस्लिम एकता थी। मेरठ व दिल्ली के हिन्दू सिपाहियों ने एकमत होकर बहादुर शाह को सम्राट घोषित किया। सभी हिन्दू और मुस्लिम सिपाहियों ने सम्राट का आधिपत्य स्वीकार किया और विद्रोह के बाद ''दिल्ली चलो'' का आह्वान किया। हिन्दू और मुस्लिम ने साथ मिलकर लड़ाई लड़ी और साथ ही मरे। जहाँ सिपाही पहुँचते हिन्दू भावनाओं के प्रति आदर करते हुए गोहत्या पर प्रतिबंध लगा दिया जाता था।

बोध प्रश्न-1

1) कृषकों का शोषण कैसे और किस वर्ग द्वारा किया जाता था? उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

2) नीचे लिखे वक्तव्यों को पढ़ें और सही (✓) या गलत (×) का चिह्न लगाएँ।

क) जमींदारों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ लड़ाई में कृषकों का साथ दिया।

ख) सिपाहियों ने ब्रिटिश शासन में अपने धर्म पर खतरे को अनुभव किया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 57 24-03-2021 11:47:19

ग) मध्य व उच्च वर्गीय भारतीय, ब्रिटिश शासन से लाभान्वित थे।

घ) बहुत लम्बे समय से भारतीयों के अधिकतर वर्ग शोषित थे लेकिन ग्रीज लगे कारतूसों की घटना विद्रोह छिड़ने की तात्कालिक कारण बनी।

3) करीब पाँच पंक्तियों में लिखें कि बगावत कब, कहाँ और कैसे शुरू हुई?

.....

.....

.....

.....

.....

5.4 विद्रोह की प्रमुख घटनाएँ

1857 में भारत की नियमित सेना में लगभग 45,000 यूरोपीय और 232,000 भारतीय थे। इस समय अधिकांश यूरोपीय इकाइयाँ कब्जे में लिए गए नए क्षेत्र फैलाव में केंद्रित थी। अतः इस समय कलकत्ता और दिल्ली के बीच मात्र पाँच यूरोपीय रैजिमैंट ही उपस्थित थे।

मेरठ की विद्रोही सेना 11 मई को दिल्ली पहुँच गई। और पेंशन पर जी रहे मुगल बादशाह बहादुर शाह-II को विद्रोह का नेतृत्व संभालने को कहा तथा उन्हें शहंशाह-हिंदुस्तान के ओहदे से अलंकृत किया।

जून के प्रथम सप्ताह तक विद्रोह की आग अलीगढ़, मैनपुरी, बुलंदशहर, इटावा, मथुरा, लखनऊ, बरेली, कानपुर, झाँसी, निमच, मुरादाबाद, सहारनपुर आदि तक फैल गई थी।

मध्य जून और सितम्बर, 1857 के बीच यह आग ग्वालियर, भोहो तथा स्यालकोट तथा बिहार में दानापुर, हजारीबाग, रांची और भागलपुर तथा मध्य भारत में नागोडे और जबलपुर में फैल गई थी।

सितम्बर-अक्तूबर, तक यह स्पष्ट हो चुका था कि विद्रोह की आग नर्मदा को नहीं पार करेगी। नर्मदा के उत्तर में विद्रोह दिल्ली और पटना के बीच गंगा नदी से ग्रैंड ट्रंक रोड तक फैला हुआ था।

5.4.1 सेना का विद्रोह

विद्रोह की घटनाओं के क्रम को देखने से ही उसके फैलने की प्रवृत्ति और तरीके का पता लग जाता है।

विद्रोह की आग मेरठ और दिल्ली से गंगा तट पर नीचे की ओर फैली, जैसे-जैसे विद्रोह की खबर फैली, वैसे-वैसे उतने ही अंतराल से, विद्रोह भी फैला।

एक अफवाह यह भी थी कि 30 मई, 1857 का दिन उत्तर भारत से अंग्रेजों को पूर्ण रूप से निष्कासित करने के लिए मुकर्रर किया गया था।

जिस प्रकार दिल्ली पर कब्जा होने की खबर से सेना और जनता ने विद्रोह कर दिया, उसी प्रकार मई के अंत में लखनऊ, का पतन होने पर अवध के आसपास के इलाके में विद्रोह भड़क उठा।

इस बात के कुछ प्रमाण मिलते हैं कि विद्रोह कर रही रेजिमेंटों के बीच थोड़ा-बहुत तालमेल और संचार कायम था और उनके कार्यकलापों में एक प्रकार की समानता थी। पर जिन्होंने यह तालमेल बैठाने की कोशिश की उन्होंने अपने नाम को गुप्त रखा।

सेना में एक ही क्षेत्र अवध से ज्यादातर सिपाही भर्ती किए गए थे, अतः विद्रोह तथा ब्रिटिश कार्यवाई की खबर तेजी से फैली। धर्म से संबंद्ध अफवाहों ने विद्रोह की आग को फैलाने में घी का काम किया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 58 24-03-2021 11:47:19

इस विद्रोह में ब्रिटिश अधिकारियों के घर नष्ट किए गए और सरकारी खजानों और जेलों को तोड़ा गया।

अवध के सिपाहियों ने घोषणा की कि तेलिंग राज (सिपाही राज शब्दावली देखें) का आगमन हो गया है।

5.4.2 जन-विद्रोह

1856-57 के जाड़े में एक गाँव से दूसरे गाँव चपातियाँ वितरित होती रही, विभिन्न व्यक्तियों के लिए इसका अलग-अलग अर्थ था। वस्तुतः यह विद्रोह का बिगुल था और जहाँ-जहाँ ये चपातियाँ पहुँचीं वहाँ-वहाँ विद्रोह की आग फैली। चर्बी लगे कारतूस, आटे में हड्डी चूर्ण की मिलावट और जबरदस्ती ईसाई धर्म में परिवर्तित करने की अफवाहों ने अंग्रेजों के खिलाफ जनता के असंतोष को विद्रोह में परिवर्तित कर दिया।

कई स्थानों पर लोग इकट्ठे होते थे, बात-विचार करते थे, योजनाएँ बनाते थे और सरकारी तथा बनिया समुदाय की संपत्ति पर आक्रमण कर देते थे। पड़ोसी गाँव के एक जाति और नातेदारी के संबंधों से जुड़े लोग इकट्ठा होते थे और एक साथ मिलकर आक्रमण करते थे। अमूमन 30 से 60 गाँवों के लोग एक साथ मिलकर सदा मुख्यालय पर आक्रमण करते थे। सभी जगह आक्रमण का तरीका एक जैसा था। कर वसूलने वाले अधिकारियों, न्यायालय में काम करने वाले पदाधिकारियों, पुलिस और बनिया पर आक्रमण किया जाता था। कोष लूटे जाते थे, कैदियों को रिहा कराया जाता था और मकानों में आग लगाई जाती थी।

निश्चित रूप से विद्रोही राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करते थे और आर्थिक स्रोतों को नष्ट करने में बिल्कुल नहीं हिचकते थे। मसलन, कोटा की कोयले की खान नष्ट की गई, नहरों को तोड़ा गया ताकि नाव द्वारा ब्रिटिश सेना बुलदंशहर न पहुँच सके। इसी प्रकार रेलवे पर आक्रमण किया गया। संयुक्त प्रांत में उन कारखानों पर भी आक्रमण किया गया जिनपर गरीब मजदूर के जीने के साधन के रूप में निर्भर थे। विद्रोह को दबाने के क्रम में अंग्रेजों को विद्रोहियों के बीच की एकता और बंधन को देखकर हैरानी हुई। बड़ा से बड़ा प्रलोभन भी उन्हें न डिगा सका, इस विद्रोह में अंग्रेज, हिंदू और मुसलमानों को एक दूसरे के खिलाफ लड़ा नहीं सके।

बोध प्रश्न-2

1) 1857 के व्रिदोह के भौगोलिक विस्तार पर संक्षेप में टिप्पणी करें। उत्तर दें।

.....

.....

.....

2) भारत के मानचित्र पर मुख्य विद्रोह केंद्रों को चिह्नित करें।

.....

.....

.....

5.5 बगावती संस्थाएँ

1857 के विद्रोह में केवल अंग्रेजों को उखाड़ फेंका ही नहीं गया, बल्कि नए प्रशासन के लिए विद्रोहियों द्वारा संगठनात्मक प्रयास किए गए –

- दिल्ली पर कब्जा करने के बाद पड़ोसी राज्यों (आधुनिक राजस्थान) से पत्र द्वारा सहयोग माँगा गया,
- दिल्ली में प्रशासकों को एक निकाय स्थापित की गई। इसके 10 में से 6 सदस्य

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 59 24-03-2021 11:47:19

सेना से लिए गए थे और चार अन्य दूसरे विभागों से। निर्णय बहुमत से किया जाता था।

अन्य केंद्रों में भी इस प्रकार के संगठनात्मक प्रयास किए गए। अवध में विरजिस कादर (एक अल्प वयस्क) को सर्वसम्मत्ति से बादशाह घोषित किया गया। यह घोषणा 30 जून, 1857 को चिनहट के युद्ध में अंग्रेजों को हार के तुंरत बाद की गई। विद्रोहियों ने निम्नलिखित शर्तों का पालन करने का आदेश दिया –

- दिल्ली के आदेश का पालन किया जाएगा।
- वजीर का चुनाव सेना करेगी।
- सेना की सम्मति के बाद ही सेना के अधिकारियों की नियुक्ति की जाएगी।

अवध को व्रिदोही कार्यकारी परिषद में दो निर्णय लेने वाली इकाइयाँ थी–

- संगठन और भुगतान को देखने के लिए प्रशासकों और दरबार के अधिकारियों से मिलकर बनी इकाई।
- विद्रोही सिपाहियों और कुछ दरबारी अधिकारियों से मिलकर बना 'मिलिट्री सेल'।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जुलाई 57 के आसपास जब विद्रोह की शुरुआत ही हुई थी, किसी भी निर्णायक संस्था में ताल्लुकदार शामिल नहीं थे। वस्तुतः ताल्लुकदारों और जमींदारों को विद्रोह में शामिल होने और अंग्रेजों के खिलाफ बगावत करने के लिए आदेश जारी किए गए थे और उनके भूमि और भू-राजस्व का अधिकार सही सलामत रहने देने का आश्वासन दिया गया।

कभी-कभी विद्रोहियों के बीच मतभेद भी हुआ करते थे, मसलन अवध में बिरजिस कादर और मौलवी अमादुल्लाह के अनुयायियों का मतभेद। पर गौर करने की बात है कि एक संगठन का आभास बनाए रखने का प्रयास उल्लेखनीय था।

सिपाहियों और कमांडरों की कार्यवाइयों के लिए दिशा-निर्देश जारी किए गए। विद्रोही सेना के नियमित भुगतान का भरपूर प्रयास किया गया। इसके लिए गहनों को सिक्कों में ढाला गया था। ताल्लुकदारों को भू-राजस्व की छूट देकर उन्हें सैनिकों को भुगतान करने का आदेश दिया गया।

5.6 विद्रोह का दमन और शमन

जिन-जिन स्थानों पर विद्रोह संगठित रूप में नहीं उभरा उन्हें आसानी से दबा दिया गया। पेशावर, सिंगापुर, कोल्हापुर, चिटागाँव और मद्रास जैसे दूर-दराज के इलाकों में विद्रोह एक-एक करके हुए और मुख्यधारा से न जुड़कर अलग-थलग पड़े रहे। इससे इन विद्रोहों को दबाने में आसानी हुई। जुलाई के आरंभ तक विद्रोह अपनी शक्ल अख्यितार कर चुका था और अंग्रेज इसे दबाने की और प्रवृत्त होने लगे थे। भारत की अंग्रेजी सरकार के आग्रह पर इस विद्रोह को दबाने के लिए 39,000 ट्रुप लंदन से रवाना किया गया। नवंबर 57 तक यह सेना हुगली तट पर पहुँच गई।

अगस्त के मध्य तक विद्रोहियों को आरा, गया और हजारीबाग (सभी बिहार में) से निकाल फेंका गया। भयंकर मार-काट के बाद 21 सितम्बर को दिल्ली भी अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। इसके बाद विद्रोहियों ने लखनऊ को अपना केंद्र बना लिया। अवध प्रांत में लखनऊ युद्ध का प्रमुख केन्द्र था। सभी जिलों से यहाँ गोला-बारूद्ध भेजा जाता था और फैजाबाद में भारी बंदूकों की मरम्मत करने का कारखाना खोला गया। कई ताल्लुकदार व्यक्तिगत तौर पर लड़े। एक आँकड़े के अनुसार अवध में डेढ़ लाख लोग मरे, इसमें गैर सैनिकों (नागरिकों) की संख्या एक लाख थी। मार्च 1858 में लखनऊ के हारे के बाद विद्रोही देहातों में फैल गए और लखनऊ के दक्षिण-पूर्व तथा पश्चिम और उत्तर-पश्चिम से विद्रोह को जीवित रखने का प्रयास करने लगे। सितम्बर-अक्तूबर 1858 तक विद्रोहियों को यह विश्वास था कि एक संगठित और योजनाबद्ध आक्रमण से अभी भी अंग्रेजों को अवध से

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 60 24-03-2021 11:47:19

भगाया जा सकता है और वे इस दिशा में प्रयत्न करने लगे।

इस विद्रोह के प्रमुख नेताओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

- झाँसी की रानी, जो जून 1858 में लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हुई।
- अंतिम पेशवा, बाजीराव-II के दत्तक पुत्र नाना साहब पेशवा ने कानपुर में विद्रोह का नेतृत्व किया और 1859 के आरंभ में नेपाल में जाकर छिप गए।
- आरा के कुंअरसिंह, जिन्होंने आजमगढ़ और गाजीपुर को अपना रण क्षेत्र बनाया, मई 1858 में अंग्रेजों से लड़ते हुए मारे गए।
- बेगम हजरत महल, जो बाद में नेपाल भाग गयीं।
- अवध की सीमाओं और रोहिलखंड में विद्रोह का नेतृत्व मौलवी अहमदुल्लाह ने किया और अंतिम दम तक उसने लड़ाई की। उसकी मृत्यु जून 1858 में हुई।
- तांत्याटोपे अपने मूल स्थान (जमुना तट पर बसा काल्पी) में हारकर जून 1858 में ग्वालियर पहुँचे और अक्तूबर में नर्मदा पार किया। 1859 में उन्हें बंदी बनाकर मृत्युदंड दे दिया गया।

सीमित हथियार और गोला बारूद्ध तथा कमजोर संचार व्यवस्था के बावजूद विद्रोही एक साल से ज्यादा समय तक लड़ते रहे। कई सिपाही ब्रिटिश संसाधनों को देखते हुए हैरान थे और वे यह संभावना भी देख रहे थे कि कहीं उन्हें दबाने के लिए अंग्रेज फ्रांसिसियों की सहायता न लें। दूसरी तरफ अंग्रेजों ने अवध को घेर लिया, दिल्ली और जमुना के इलाके की गर्दन दबोच ली और फिर अवध की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया।

बोध प्रश्न-3

1) संक्षेप में बगावती संस्थाओं के दो उदाहरण के बारे में बताइए।

.....

.....

.....

2) लखनऊ की सुरक्षा किस हद तक विद्रोह की तीव्रता को दर्शाती है?

.....

.....

.....

5.7 विद्रोह के पश्चात

नयी सैन्य रणनीति और ताल्लुकदारों के आत्मसमर्पण के कारण 1857 के विद्रोह को दबाने में मदद मिली। अंग्रेजों ने पुनः भारत पर अपना नियंत्रण जमाया और भारतीय राजाओं ने उन्हें इस आधार पर सहयोग दिया कि वे उत्तराधिकार के प्रश्न पर कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

5.7.1 भूमिपति

उत्तरी पश्चिमी प्रांतों में अंग्रेजों ने बहुतायत में भूमि जब्त की और उन्हें पुनर्वितरित किया। कुछ अधूरे आँकड़ों से पता चलता है कि 17 लाख मूल्य वाली भूमि को जब्त कर लिया गया और 9 लाख मूल्य वाली भूमि को पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया गया। पुरस्कार देने में बड़े जोतदारों को ज्यादा चुना गया।

लखनऊ के पतन के बाद एक अधिघोषणा द्वारा छह खास इलाकों को छोड़कर पूरे अवध में संपत्ति का अधिकार जब्त कर लिया गया। ताल्लुकदारों को उनकी वफादारी और आत्म-समर्पण करने के एवज में और अंग्रेजों को सूचना एकत्र करने और देने के लिए

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 61 24-03-2021 11:47:19

इलाके प्रदान किए गए। 25,543 गाँवों में से 22,658 गाँवों का पुनर्वितरण किया गया।

अवध में संपत्तिगत अधिकार ''इच्छा आधारित काश्तकार'' सिद्धांत पर आधारित किया गया। 1859-60 में अवध के कई जिलों में इस ताल्लुकदारी बंदोबस्त का जमकर विरोध हुआ। ग्रामीण असंतोष को देखते हुए सरकार ने ताल्लुकदारों की माँग पर अंकुश लगाया और कम उपज वाली जमीन की अधिकतम दर निर्धारित कर दी गयी (1866)। यह भी तय किया गया कि 12 साल तक 'इच्छा पर आधारित काश्तकारों (Tenant-at-will) या अल्प संपत्तिगत अधिकारों की रक्षा की जाएगी।

5.7.2 राजे-महाराजे

आपको याद होगा कि राज्यों को हस्तगत करने की ब्रिटिश नीति के कारण बहुत से भारतीय राजाओं ने विद्रोह का नेतृत्व किया, इनमें झाँसी की रानी, नाना साहेब और बेगम हजरत महल उल्लेखनीय हैं।

विद्रोह के दौरान कैनिंग ने यह गौर किया कि ग्वालियर, हैदराबाद, पटियाला, रामपुर और रीवा जैसे राजाओं का साथ न मिला होता तो 1857 की आँधी में ब्रिटिश सत्ता का विनाश अवश्यभावी था।

अतः 1858 की उद्घोषणा में रानी ने यह घोषणा की कि अपना राज्य फैलाने की अंग्रेजों की कोई मंशा नहीं है। रजवाड़ों को प्रसन्न करने के लिए कैनिंग ने ''समाप्ति का सिद्धांत'' (डाक्ट्रीन ऑफ लैप्स) समाप्त कर दिया और सभी शासकों को उत्तराधिकारी घोषित करने/गोद लेने का अधिकार दे दिया।

ग्वालियर, रामपुर, पटियाला और जिंद जैसे वफादार रजवाड़ों को भू-क्षेत्र और पैसे के रूप में इनाम दिया गया।

1861 में एक विशेष नाइटहुड सम्मान ''भारत का सितारा'' की घोषणा हुई। यह सम्मान बड़ौदा, भोपाल, ग्वालियर, पटियाला और रामपुर के राजाओं को प्राप्त हुआ।

हालांकि राजाओं को इस चिंता से मुक्त कर दिया गया कि अंग्रेज उनके राज्य पर दखल जमा लेंगे, पर यह बात उन्हें साफ तौर पर बता दी गई कि ''कुप्रशासन'' और ''अराजकता'' की दशा में ब्रिटिश सरकार अस्थाई तौर पर रजवाड़ों की बागडोर अपने हाथ में ले लेगी।

5.7.3 सेना

1861 में भारत के मामलों का सेक्रेट्री ऑफ स्टेट चार्ल्स वुड ने कैनिंग को पत्र लिखा, जिसमें विद्रोह के बाद सेना के प्रति ब्रिटिश नीति का खुलासा मिलता है। ''अगर किसी एक रेजीमेंट ने विद्रोह किया तो मैं चाहूँगा कि दूसरी रेजिमेंट उससे इतनी अलग-थलग हो कि उसे विद्रोही रेजिमेंट पर गोली चलाने में जरा भी हिचक न हो''।

अवध, बिहार और मध्य भारत के सैनिकों को सेना के लिए गैर-यौद्धा जाति (non-martial) के रूप में घोषित किया गया और उनकी भर्ती में तेजी से कटौती की गयी।

सिख, गोरखा और पठान युद्ध के लिए योद्धा (martial) जाति के रूप में प्रतिष्ठित किए गए और सेना में उनकी खूब भर्ती की गयी। इन लोगों ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की सहायता की थी।

संक्षेप में, समुदाय, जाति, जनजाति और प्रांतीय वफादारी को बढ़ावा दिया गया ताकि 1857 में अवध के सिपाहियों के बीच जो एकजुटता स्पष्ट हुई थी उसके निर्माण में बाधा डाली जा सके।

5.7.4 विद्रोह के बाद ब्रिटिश नीति

1857 के विद्रोह के बाद 1858 में एक भारत सरकार अधिनियम द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को समाप्त कर दिया गया। अब इंग्लैंड की रानी के नाम पर सीधा शासन होना था। 1858 की राजकीय उद्घोषणा इस प्रकार है :

- 2 जनवरी, 1859 तक जिन लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया है, उन्हें माफ कर दिया

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 62 24-03-2021 11:47:19

जाएगा, केवल उन लोगों को छोड़कर जिस पर किसी अंग्रेज की हत्या में सीधा शामिल होने का आरोप हो।

- सरकारी नौकरी सबके लिए उपलब्ध होगी।
- भारत की प्राचीन परंपराओं और रीति-रिवाजों को सम्मान दिया जाएगा।

अंग्रेजों ने अनुसार बहादुरशाह-II को विद्रोह की बागडोर संभालने का आह्वान एक बार फिर से दिल्ली में मुगल सत्ता की स्थापना का प्रयत्न था। अधिकारियों के बीच इसी प्रकार की धारणा फैली हुई थी। जो विद्रोह के बाद के दिनों में उस समुदाय के प्रति उनके व्यवहार में भी प्रतिबिंबित हुई।

मुसलमान विरोधी यह रवैया इतना मजबूत था कि सैयद अहमद खाँ ने 'कौन थे वफादार मुसलमान?' शीर्षक से एक पर्चा लिखना जरूरी समझा। इस पर्चे में उन्होंने अंग्रेजों के प्रति मुसलमानों की वफादारी के कई प्रमाण प्रस्तुत किए।

बोध प्रश्न-4

1) भूमिपतियों के विद्रोह को अंग्रेजों ने कैसे संभाला? उत्तर दें।

.....

.....

.....

2) विद्रोह के बाद भारतीय राजाओं के प्रति ब्रिटिश नीति में आए परिवर्तन पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

3) विद्रोह के बाद मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश रवैये का उल्लेख करें। उत्तर दें।

.....

.....

.....

5.8 सारांश

इस इकाई में निम्नलिखित मुद्दों पर विचार किया गया है:

- विद्रोह का मुख्य क्षेत्र नर्मदा के उत्तर में था,
- गंगा के किनारे-किनारे व्रिदोह की आग नीचे तक फैली, इस फैलने की पद्धति एक-सी थी,
- सेना और जनता ने मिलकर व्रिदोह किया,
- जब विद्रोहियों ने कमाने अपने हाथ में ले ली तो सब कुछ अव्यवस्थित नहीं था, तथा
- विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों को एक साल लग गया।

1857 की घटनाएँ जिसकी कि हमने इस इकाई में चर्चा की है कि वह सिर्फ इसलिए महत्वपूर्ण नहीं हैं कि उसने विदेशी शासन के विरुद्ध जन भावना के निश्चित रूप को प्रदर्शित किया बल्कि इसलिए भी कि इसने अन्य कई परिवर्तनों की भी शुरुआत की। ये परिवर्तन सिर्फ नीति निर्धारण और राजनैतिक संरचना से ही संबंधित नहीं थे बल्कि जन विश्वासों, भावनाओं और ब्रिटिश शासन के प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण से भी संबंधित थे। ब्रिटिश शासन की अपराजेयता हमेशा के लिए चकनाचूर हो गयी और विदेशी शासन के

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 63 24-03-2021 11:47:19

खिलाफ एक लंबे और संगठित संघर्ष के लिए तैयारी हो गयी। यहीं से राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत हुई जो कि अंततः 1947 में विदेशी शासन को समाप्त कर देश में आजादी ला सका। 1858 के बाद अंग्रेजों को एक प्रकार के स्थायित्व का आभास हुआ। विद्रोह पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने आत्मविश्वास के साथ शासन का कार्य आरंभ किया।

5.9 शब्दावली

बनिया : महाजन।

इलाका : भू-क्षेत्र।

पट्टीदार : गाँव की सामूहिक मिल्कियत।

ताल्लुकदार : ताल्लुक का मालिक (एक ताल्लुक में कई गाँव होते थे, जिसके राजस्व की वसूली का भार ताल्लुकदार पर होता था)।

तेलिंग राज : सिपाहियों को तेलिंग कहने का रिवाज चल गया था, क्योंकि क्लाइव 1756-57 में अपने साथ मद्रास से तेलुगुभाषी सिपाही ले आया था।

5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) उपभाग 5.2.1 देखें

2) क) × ख) ✓ ग) × घ) ✓

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 5.4

2) भारत के मानचित्र पर जगहों को चिह्नित करें।

बोध प्रश्न-3

1) भाग 5.5 देखें।

2) भाग 5.6 देखें।

बोध प्रश्न-4

1) देखें उपभाग 5.7.1

2) देखें उपभाग 5.7.2

3) देखें उपभाग 5.7.4

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 64 24-03-2021 11:47:19

इकाई 6 औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था : कृषि

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 अंग्रेजों के अधीन वाणिज्यीकरण

6.2.1 कृषि पर निर्यात व्यापार का प्रभाव

6.2.2 वाणिज्यिक फसलों का चुनाव

6.3 वाणिज्यीकरण के प्रभाव

6.3.1 दरिद्रता

6.3.2 अस्थायित्व

6.3.3 सामाजिक संरचना पर प्रभाव

6.4 भू-राजस्व प्रबंधन के आरंभिक प्रयोग

6.5 बंगाल में स्थायी बंदोवस्त

6.5.1 जमींदारों के साथ बंदोबस्त

6.5.2 खेतिहरों की स्थिति

6.5.3 स्थाई बंदोवस्त के प्रभाव

6.6 वैकल्पिक व्यवस्थाओं का उदय

6.6.1 रैयतवाड़ी के तहत कर निर्धारण

6.6.2 मद्रास में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करना

6.6.3 रैयतवाड़ी : सिद्धांत और व्यवहार

6.6.4 बंबई में रैयतवाड़ी बंदोबस्त

6.6.5 मद्रास और बम्बई में रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रभाव

6.7 अन्य वैकल्पिक बंदोबस्त : महलवाड़ी व्यवस्था

6.7.1 महलवाड़ी : सिद्धांत और व्यवहार

6.7.2 महलवाड़ी बंदोबस्त के प्रभाव

6.8 सारांश

6.9 शब्दावली

6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

ब्रिटिश शासन के प्रथम चरण या उन्नीसवीं सदी के मध्य तक के दौरान भारत में कृषि के वाणिज्यीकरण का विश्लेषण इस इकाई में किया गया है। अंग्रेजों के अधीन वाणिज्यीकरण की जिस प्रक्रिया का प्रारंभ हुआ था उसके भारतीय जीवन पर दूरगामी परिणाम हुए, तब जो बहुत सी समस्याएँ उत्पन्न हुई थी वे आज भी हमारे साथ हैं। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको ज्ञान हो जाएगा :

- ''वाणिज्यीकरण'' शब्द के अर्थ का,
- उन विभिन्न तरीकों के विषय में जिनके अंतर्गत वाणिज्यिक कृषि को संगठित किया गया, और

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 65 24-03-2021 11:47:19

- भारतीय अर्थव्यवस्था पर और भारतीय किसानों पर इस प्रक्रिया के प्रभावों के बारे में।

इस इकाई में हम 1857 तक भारत के विभिन्न भागों में अंग्रेजों द्वारा किए गए भू-राजस्व बंदोबस्तों का भी अध्ययन करेंगे?

इस इकाई को पढ़ने बाद आपः

- ''राजस्व बंदोबस्त'' का अर्थ बता सकेंगे,
- विभिन्न ''बंदोबस्तों'' को लागू करने के पीछे अंग्रेजों के निहित उद्देश्यों का वर्णन कर सकेंगे,
- बंदोबस्त के तीन प्रमुख प्रकारों की महत्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- इनमें से प्रत्येक महत्वपूर्ण ग्रामीण अर्थव्यवस्था और देहातों में विभिन्न वर्गों में संबंध पर पड़ने वाले प्रभावों को रेखांकित कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

बाजार हम सबके लिए एक परिचित संस्था हैं। आप प्रतिदिन बाजार से कुछ खरीदने के लिए जाते होंगे और कभी-कभी कुछ बेचने के लिए भी। ऐसा इसलिए है क्योंकि हम एक व्यवसायिक अर्थव्यवस्था में रहते हैं। लोग कार्य करते हैं और पैसा कमाते हैं या उत्पादन करते हैं और बेचते हैं क्योंकि वे धन प्राप्त करते हैं और इस धन से वे बाजार से उन वस्तुओं को खरीद सकते हैं जिनको वे प्राप्त करना चाहते हैं। सभी प्रकार की वस्तुओं को बाजार में लाया जा सकता है – ये बहुत छोटी वस्तुओं जैसे कि सिगरेट चीनी से लेकर बहुत महंगी चीजें जैसे कि घर या जमीन हो सकती है। यहाँ तक कि श्रम के लिए भी बाजार है, लेकिन व्यक्तिगत श्रम बाजार भी उपलब्ध है, निश्चित रूप से आप उन जगहों के विषय में सोच रहे होंगे जहाँ से आप अपने लिए एक बढ़ई या कुली को काम करने के लिए किराए पर ला सकते हैं।

एक व्यवसायिक या एक बाजार अर्थव्यवस्था के अंतर्गत आर्थिक गतिविधियों का निर्धारण बाजार के द्वारा किया जाता है। इस कथन का क्या तात्पर्य है? इसका एक यह तात्पर्य कि लोग जैसी इच्छा करते हैं वैसी ही वस्तुओं के सस्ती खरीदने और महँगी बेचने के लिए प्रयास कर सकते हैं। इसका यह भी अर्थ है कि यदि दाम अधिक हैं तब वे अधिक उत्पादन करेंगे और यदि दाम कम हैं तब वे कम उत्पादन करेंगे। मजदूर उन स्थानों को छोड़ने का प्रयास करेंगे जहाँ पर उनको कम मजदूरी प्राप्त होती है और उन स्थानों पर जायेंगे जहाँ पर उनको अधिक मजदूरी प्राप्त होगी। लोग नगर में उन स्थानों की तलाश करते हैं जहाँ पर वे सस्ता घर खरीद सकते हैं या जहाँ उनको कम किराया देना पड़े। इन सभी तरीकों में, आर्थिक गतिविधियों का निर्देशन बाजार के दामों द्वारा किया गया है। इस इकाई में हम आपका परिचय अंग्रेजी शासन के अधीन भारतीय कृषि के वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया और भारतीय अर्थव्यवस्था तथा समाज पर इसके प्रभावों से करायेंगे।

जिस समय कृषि का वाणिज्यीकरण किया जाता है तब बहुत से भिन्न-भिन्न बाजार भिन्न समयों पर सक्रिय हो सकते हैं। हम इन बाज़ारों की निम्नलिखित अनुमानित सूची बनाने का प्रयास करेंगे :

1) **उत्पाद बाजार** : इस प्रकार के बाजारों में गेहूँ या चावल या ऊन या घी जैसे बहुत से कृषि उत्पादनों को बेचा जाने लगा।

2) **अंतर्गामी बाजार** : कृषि में उत्पादन करने वाली वस्तुएँ जैसे औजार, बीज, रासायनिक खाद, बैल इत्यादि की बिक्री शुरू हो गई।

3) **श्रम बाजार** : इस तरह के वे बाजार होते हैं जहाँ पर मजदूर स्वयं को पैसे के लिए मजदूरी पर उपलब्ध कराते हैं।

4) **भूमि बाजार** : इस तरह के बाजारों में किसान भूमि को बेचते या खरीदते हैं, या पैसे के लिए इसको किराये पर देते हैं।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 66 24-03-2021 11:47:19

5) **स्वयं धन के लिए बाजार :** जैसे-जैसे वाणिज्यीकरण का विकास होता है, किसान को अक्सर धन की आवश्यकता होती है। यह धन करों या किरायों की नकद अदायगी में बीज या बैलों की खरीद में या यहाँ तक कि स्वयं एवं अपने परिवारों के पोषण में काम आ सकता है। इसी प्रक्रिया के कारण ऋण बाजार का विकास होता है और ऋण बाजार का आधार निश्चय ही उस पर ब्याज के रूप में होने वाली आमदनी होती है।

ब्रिटिश सरकार ने भारत के कई हिस्सों पर अधिकार जमाया और कृषि पर भारी कर लगाए। इन करों के निर्धारण और वसूली के लिए उन्होंने कई प्रकार के भू-राजस्व बंदोबस्त कायम किए।

इस प्रकार की व्यवस्था के लिए दो काम करने पड़ते हैं, पहले कर का निर्धारण किया जाता है और आकलन द्वारा यह निर्धारित किया जा सकता है कि कितनी राशि किस रूप में प्राप्त की जाएगी और उसके बाद यह तय किया जाता है कि इस कर की अदायगी कौन करेगा। इसके लिए ऐसे व्यक्ति का चुनाव किया जाता है, जिसका भूमि पर नियंत्रण हो और वह इससे जुड़ा हो, अन्यथा वह कुछ अदा करने में असमर्थ होगा। अतः जब सरकार कर अदायगी का भार किसी व्यक्ति पर सौंपती है, तो वह यह निश्चित कर लेती है कि इस व्यक्ति का भूमि पर किसी न किसी प्रकार अधिकार है, वह जिससे आय अर्जित करता है, जिसमें से वह कर की अदायगी कर सकता है। अगर वह भूमि से कुछ आय नहीं प्राप्त कर सकेगा तो वह स्पष्टतः सरकार को भी कुछ नहीं दे पाएगा। सरकार जब यह तय कर लेती है कि कैसे भू-कर (या भू-राजस्व) का निर्धारण किया जाएगा और कौन इसकी अदायगी करेगा और कर के रूप में किस चीज का भुगतान होगा, तब भू-राजस्व बंदोबस्त का महत्वपूर्ण काम समाप्त हो जाता है। इस इकाई में हमने भारत में ब्रिटिशों द्वारा स्थापित विभिन्न भू-राजस्व के बंदोबस्त, उनकी विशेषताओं और भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज पर पड़ने वाले उनके प्रभावों की चर्चा की है।

6.2 अंग्रेजों के अधीन वाणिज्यीकरण

मुगल साम्राज्य के पतन का जिन नयी शक्तियों ने लाभ उठाया उनमें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी भी थी। इसने दक्षिण भारत के क्षेत्रों और पूरब में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के संपन्न प्रदेशों को प्राप्त कर लिया। ये क्षेत्र कृषि में संपन्न होते हुए व्यापार एवं दस्तकारी में काफी विकसित थे। कंपनी के साथ-साथ इसके सेवकों एवं कर्मचारियों ने इस विजय के माध्यम से स्वयं को संपन्न बनाने की योजना बनायी। इन्होंने जो तरीके अपनाए उन्हीं के कारण उनके अधीन अपने विशेष गुणों के साथ वाणिज्यीकरण हुआ।

6.2.1 कृषि पर निर्यात व्यापार का प्रभाव

कंपनी ने महसूस किया कि उसको भारत से निर्यात करने के अन्य प्रकार के सामानों को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता होगी, कृषि उत्पादनों का निर्यात सुरक्षित तरीका था। इन उत्पादनों की अंग्रेजी माल के साथ कोई प्रतियोगिता न होगी तथा ये अंग्रेजी उद्योग-धंधों के लिए कच्चे माल का काम भी करेंगे। इस सामरिक नीति का अनुसरण रेशम के मामले में 1770 के दशक से किया गया। लेकिन ब्रिटेन में तेजी के साथ होते औद्योगीकरण से कंपनी को निर्यात करना और भी कठिन हो गया। फिर भी, नजराने के स्वरूप में ब्रिटेन जाने वाली भारतीय धनराशि को 1880 के दशक से चीन के माध्यम से भेजना जाने लगा। ब्रिटेन चीन से काफी बड़ी तादाद में चाय का आयात करता था और उसको चाँदी (बुलियन) में इसकी अदायगी करनी होती थी, क्योंकि चीनी पश्चिमी सामान को खरीदना नहीं चाहते थे। परंतु चीनी भारतीय हाथी दाँत की चीजें, कच्ची रुई तथा बाद में अफीम को खरीदते थे। अगर अंग्रेज इस व्यापार पर नियंत्रण कर लें, तब उनको चीन को चाँदी भेजने की आवश्यकता नहीं होगी। चीन द्वारा चाय को भारतीय उत्पादकों के विनिमय के द्वारा खरीदा जा सकता था और इन भारतीय उत्पादकों को अंग्रेज प्राप्त कर ही रहे थे। इस व्यवस्था को ''त्रिकोणीय व्यापार'' के नाम से जाना जाता था तथा यह तीन केंद्रों कलकत्ता, कैंटन एवं लंदन से जुड़ा था। संपत्ति प्रथम केंद्रों से परिभ्रमण करती हुई कंपनी के खजाने में तीसरे केंद्र लंदन जाकर जमा हो जाती थी।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 67 24-03-2021 11:47:19

इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कंपनी की रुचि कृषि के एक नियंत्रित वाणिज्यीकरण में थी। जिससे कि चीनी या पश्चिमी बाजार के लिए उपभोग वस्तुओं को उपलब्ध कराया जा सके।

6.2.2 वाणिज्यिक फसलों का चुनाव

कंपनी ने जिन फसलों पर अपना विशेष ध्यान केंद्रित किया उनमें नील, कच्ची रेशम, कपास, अफीम, काली मिर्च और उन्नीसवीं सदी में चाय तथा चीनी थी। इनमें से कच्ची रेशम का उपयोग ब्रिटेन के बुनकरों द्वारा किया जाता था क्योंकि वहाँ पर रेशम का उत्पादन नहीं किया जा सकता था। यही बात कपास के लिए भी सत्य थी और इसको चीन को भी बेचा जा सकता था। अफीम की निश्चय ही चीन को तस्करी होती क्योंकि चीन में इसके आयात पर प्रतिबंध लगा हुआ था। पश्चिम में सूती कपड़ों की रंगाई के लिए नील की आवश्यकता थी। 1840 के दशक से चाय की खेती का प्रारंभ असम में किया गया जिससे कि ब्रिटेन इसकी आपूर्ति को नियंत्रित कर सके और उसको चाय के लिए चीन पर निर्भर न रहना पड़े। इनमें से किसी भी वस्तु की ब्रिटेन के उत्पादन के साथ कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं थी। इन सभी वस्तुओं की एक और विशेषता थी। ये अपने वजन की तुलना में काफी मूल्यवान थी। कहने का तात्पर्य यह है कि वजन के हिसाब अर्थात् प्रति किलोग्राम इनका मूल्य काफी अधिक था।

हमें यहाँ पर एक अन्य बात को याद रखना चाहिए कि इस सभी सामान की ढुलाई गाड़ियों से होती थी जिनको बैल या घोड़े खींचते थे तथा समुद्र में जहाजों के द्वारा इन्हें भेजा जाता था। भारत से यूरोप तक पहुँचने में एक जहाज लगभग चार माह का समय लेता था। उन दिनों के जहाज आधुनिक समुद्री जहाजों की अपेक्षा काफी कम भार को ले जाते थे। इसलिए ढुलाई पर काफी खर्च आता था। अगर किसी सस्ती तथा काफी वजन की वस्तु को उन दिनों समुद्री जहाजों से ले जाना पड़ता था तब निश्चय ही जहाज का भाड़ा अदा करने के बाद वस्तु काफी महँगी हो जाती थी। इससे कंपनी को उनका व्यापार करने में नुकसान होता। इसलिए उत्पादों को उनके वजन के संदर्भ में लाभदायक बनाना आवश्यक था जिससे कि लाभांश ढुलाई पर आने वाले खर्च में ही समाप्त न हो जाए।

6.3 वाणिज्यीकरण के प्रभाव

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार से व्यवसायिक फसलों का उत्पादन हुआ और किस ढंग से उनका विक्रय किया गया। यह स्पष्ट हो चुका होगा कि प्रत्येक फसल दूसरी से किसी न किसी रूप में भिन्न थी। इसी प्रकार से वाणिज्यीकरण के प्रभाव एक समय से दूसरे समय में, एक स्थान से दूसरे स्थान पर और एक फसल से दूसरी फसल पर निश्चय ही भिन्न-भिन्न होंगे। हम यह आशा नहीं कर सकते हैं कि वे सभी जगहों पर बिल्कुल एक समान होंगे फिर भी, कुछ निश्चित समान विशेषताएँ और कुछ समान निश्चित प्रभाव विद्यमान होते ही हैं। इसी आधार पर इस भाग में विवेचन किया जाएगा।

6.3.1 दरिद्रता

हम अपना प्रारंभ भारत की संपूर्ण अर्थव्यवस्था से करेंगे। आपको याद होगा कि अंग्रेजों का उद्देश्य यूरोप को निर्यात करने वाली वस्तुओं को उत्पादन करना था। ऐसा करने से लंदन स्थित कंपनी के खजाने में धन एकत्रित किया जा सकता था। व्यक्तिगत अंग्रेज व्यापारी भी धन को वापस लंदन भेजना चाहते थे जिससे कि अंततः रिटायर्ड होने पर अपना जीवन आराम से ब्रिटेन में व्यतीत कर सकें। इसलिए निर्यात ने अनिवार्यतः भारतीय स्रोतों को धन रूप में भारत से बाहर भेजने का कार्य किया। यही वह उपाय था जिसने भारतीय ''नज़राने'' को ब्रिटेन को हस्तांतरित किया। इन निर्यातों के बदले में भारत को कोई आयात प्राप्त नहीं होता था। स्पष्टतः इस हस्तांतरण ने भारत को दरिद्र बनाया। इस प्रकार व्यवसायिक फसलों की वृद्धि एवं निर्यात ने भारत को धनी करने के स्थान पर दरिद्र ही किया।

6.3.2 अस्थायित्व

भारतीय कृषि पर बहुत से संकट आते रहे। सूखा, बाढ़ और अन्य प्राकृतिक आपदाओं ने फसलों को नष्ट एवं किसानों को बरबाद किया। लेकिन व्यवसायिक कृषि ने नए प्रकार के

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 68 24-03-2021 11:47:19

खतरों को उजागर किया। अब फसलों की आपूर्ति दूर के बाजारों को हो रही थी। यदि पश्चिम भारतीय गन्ने के अच्छे दाम थे पर वे कलकता में कम हो सकते थे तथा आजमगढ़ में चीनी फैक्ट्रियाँ उन दामों से भी कम दे सकती थी जिसका उन्होंने वायदा किया। अगर शिकायत की जाती तो वे किसानों के साथ दुराचार करते।

इसी भाँति 1816 के बाद से मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग बुंदेलखंड क्षेत्र में चीन के बाजार के लिए कपास का उत्पादन होने लगा था। अंग्रेज अधिकारियों ने दावा किया कि अब यह क्षेत्र संपन्न होने लगा है अतः इस क्षेत्र में भूमि करों में वृद्धि की जाए। लेकिन 1830 के दशक में निर्यात घटने लगा तथा कपास के दामों में गिरावट आयी परंतु भूमि कर पहले के बराबर जारी रहा। फलस्वरूप जमींदार एवं किसान दोनों दरिद्र होने लगे, भूमि पर खेतीबाड़ी बंद हो गई और अंततः इस क्षेत्र के किसानों ने 1842 का विद्रोह कर दिया जिसको बुंदेला विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

1830 के वर्षों में इसी प्रकार की समस्या का सामना उत्तर प्रदेश ने भी किया। कपास और नील के दामों में गिरावट आयी। इतिहासकार प्रो. सिद्दीकी ने इसका विवरण करते हुए लिखा है ''किसान अपनी जमीनों को त्याग रहे थे, जमींदारों को नुकसान हो रहा था। महाजन बरबाद हो गए थे क्योंकि उन्होंने जो ऋण दिए थे उनको अदा न किया जा सका, उनमें बहुतों ने अब किसानों को ऋण देने से इंकार कर दिया। भूमि का अवमूल्यन हुआ। सरकार को ऐसे बहुत से मामलों की सूचना दी गई जिनके अनुसार जमीन को बेचने का प्रयास किया गया किंतु कोई खरीदने के लिए तैयार नहीं हुआ''। इसी समय बंगाल के ग्रामीण अंचलों की भी यही स्थिति थी।

सिक्के का एक दूसरा पहलू भी था। 1830 एवं 1833 के बीच में वे सभी कंपनियाँ जो निर्यात व्यापार से जुड़ी थी तथा जो बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में व्यवसायिक कृषि को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराती थी, दिवालिया हो गई। कारण यह था कि दाम गिर जाने के बावजूद भी वे नील को ब्रिटेन भेज रही थी, क्योंकि वे अपने धन को भारत से बाहर निकालना चाहती थी। सरकार ने चाँदी के सिक्कों को ब्रिटेन भेजकर स्थिति को और भी गंभीर बना दिया और भारत में धन के अभाव का संकट पैदा हो गया। जिन व्यापारियों ने निर्यात फसलों के उत्पादन हेतु उधार लिया था, वे ऋणों की अदायगी न कर सके और दिवालिया हो गए। अंत में निश्चय ही इस संकट का भयंकर शिकार किसान हुए क्योंकि इन किसानों को ताकत के बल पर तथा दबाव में व्यवसायिक फसलों को उगाने के लिए बाध्य किया गया था। लंदन में मूल्यों में गिरावट भारतीय कृषकों के लिए बरबादी का पैगाम लेकर आयी। कहने का तात्पर्य यह है कि कृषि के वाणिज्यीकरण ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अस्थिरता के एक नए तत्व को जोड़ दिया।

6.3.3 सामाजिक संरचना पर प्रभाव

कभी-कभी ऐसा विश्वास किया जाता है कि वाणिज्यीकरण के अंतर्गत किसानों में निश्चित रूप से असमानता बढ़ती है। कुछ किसान संपन्न हो सकते हैं और वे नकद मजदूरी पर मजदूरों को रखेंगे, कुछ को विवश होकर अपनी जमीनों को छोड़कर मजदूर बनना पड़ेगा। ऐसा तभी हो सकता है जब बाजार को स्वतंत्र रूप से विकसित होने दिया जाए और स्वतंत्र रूप से कार्य करने दिया जाए। विशेषरूप से यदि भूमि बाजार इस प्रकार के कार्य करते तब यह अच्छा ही होता। लेकिन जिस वाणिज्यीकरण का हम अध्ययन कर रहे हैं उसके विषय में यह घटित न हो सका। अनवरत रूप से किए जाने वाले दमन एवं राज्य शक्ति ने बाजारों के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध और पूर्ण श्रम बाजार को पैदा होने से रोका। इस सबके बावजूद व्यवसायिक फसलों के उत्पादन ने छोटे किसानों की उत्पादन व्यवस्था को तेजी से धराशायी कर उनको दरिद्र बना दिया। अपने छोटे-छोटे खेतों में इन किसानों के द्वारा अपने परिवारजनों की सहायता से उत्पादन किया जाता था। परन्तु नील की खेती कराने वाले मालिकों और अफीम के एजेंटों ने इनको अपने इन छोटे खेतों पर व्यवसायिक फसलों को उगाने के लिए बाध्य किया जिससे उनको बहुत कम आमदनी होती थी या बिल्कुल ही नहीं। किसान को दरिद्र बना दिया गया था। लेकिन न तो उत्पादन के तरीकों और न ही उत्पादन के संगठन को बदला गया। यूरोपीय व्यापारियों को इन छोटे किसानों

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 69 24-03-2021 11:47:19

के द्वारा इन व्यवसायिक फसलों को पैदा कराके अधिक मुनाफा हुआ और इसलिए उन्होंने इस कार्य के लिए नकद मजदूरी पर मजदूरों को नहीं रखा।

बोध प्रश्न-1

1) क्या बाजार हमेशा रहे हैं?

.....

.....

.....

2) ब्रिटिश ने भारतीय कृषि के वाणिज्यीकरण की योजना क्यों बनाई? 60 शब्दों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

3) क्या वाणिज्यीकरण किसानों के लिए लाभदायक था? 60 शब्दों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

6.4 भू-राजस्व प्रबंधन के आरंभिक प्रयोग

1757 में बंगाल पर अधिकार जमाने के बाद अंग्रेजों ने बंगाल के नवाबों द्वारा स्थापित प्रशासन को बरकरार रखा, बस इसका उपयोग उन्होंने अपने लिए अधिक से अधिक धन उगाहने के लिए किया। कपंनी के कर्मचारियों की लोलुपता और भ्रष्टाचार और प्रशासन में उनके लगातार हस्तक्षेप के कारण मामला बिल्कुल अव्यवस्थित हो गया और यह 1769-70 के अकाल का एक महत्वपूर्ण कारण बना। इसमें बंगाल की एक तिहाई जनता अकाल का ग्रास बन गयी।

अतः 1772 से ''राजस्व के ठेके''(फार्मिंग सिस्टम) के नाम से एक नयी व्यवस्था लागू की गयी। इस व्यवस्था के तहत सरकार ठेके पर भू-राजस्व का जिम्मा किसी व्यक्ति को सौंप देती थी। जो ठेकदार सबसे ज्यादा बोली लगाता था, उसे एक जिले या प्रखंड से कुछ समय के लिए राजस्व वसूलने का अधिकार दे दिया जाता था। निश्चित रूप से ये ठेकेदार (उन दिनों इन्हें ''फार्मर'' कहा जाता था) अपने ठेके की अवधि में अधिक से अधिक लगान वसूलने की कोशिश करते थे, इस बात से उन्हें कोई सरोकार नहीं था कि लोग इससे कंगाल हो जायेंगे और अगले साल इसका असर उत्पादन पर पड़ेगा। उन्हें केवल मुनाफा कमाने से मतलब था। इस व्यवस्था के कारण शोषण और अत्याचार बढ़ा। बाद में कुछ ठेकेदारों ने यह महसूस किया कि उन्होंने बोली ज्यादा बढ़ाकर लगा दी है और इस शोषण और अत्याचार के बावजूद वे इतनी बड़ी रकम नहीं जुटा सकते हैं। अंततः इस व्यवस्था की परिणति भ्रष्टाचार में हुई। जैसा कि आज भी सरकारी ठेकों में होता है, सरकारी कर्मचारी अपने दोस्तों और चहेतों को आसान दर पर ठेका दिलवाया करते थे और कर्मचारी अपने नाम से ''बेनामी'' ठेका ले लेते थे, इससे सरकार को घाटा होता था। 1786 में लार्ड कार्नवालिस को प्रशासन को भ्रष्टाचार से मुक्त करने और पुनर्संगठित करने के लिए भारत भेजा गया।

6.5 बंगाल में स्थाई बंदोस्त

कार्नवालिस ने भारत आकर महसूस किया कि वर्तमान व्यवस्था देश को दरिद्र बना रही थी और यहाँ कृषि पतनोन्मुख थी, इसके अलावा इसका उत्पादन इतना कम था कि यह कंपनी की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकती थी। कंपनी कृषि से बृहद् और नियमित

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 70 24-03-2021 11:47:19

अधिशेष की आशा करती थी। कार्लवानिस ने यह भी महसूस किया कि कंपनी भारत से जिन वस्तुओं को यूरोप में बाजारों में बेचने के लिए ले जाना चाहती थी, उनके उत्पादन में भी कमी आयी, मसलन रेशम, सूत आदि क्योंकि ये भी कृषि पर ही आधारित थे। जब कृषि पतनोन्मुख हो, तो हस्तशिल्प उद्योग कभी भी पनप नहीं सकता। लंदन में बैठे अधिकारियों ओर कार्नवालिस ने यह महसूस किया कि कराधान की अनियमितता और अव्यवस्था के कारण ही भ्रष्टाचार भी है और शोषण भी।

अतः अब भू-कर को स्थाई तौर पर निर्धारित करने का निर्णय लिया गया, सरकार ने आश्वासन दिया कि वह भविष्य में कभी कर नहीं बढ़ाएगी। इस आश्वासन से कई प्रकार के परिणामों की आशा की गयी। यह भ्रष्टाचार को कम करेगा और पदाधिकारियों द्वारा मनमाने ढंग से करारोपण पर रोक लगाएगा। इसके अलावा उत्पादन में वृद्धि के बावजूद राज्य अतिरिक्त माँग नहीं करेगा, इससे भू-स्वामी पर भूमि की उपज बढ़ाने के लिए धन निवेशित करेंगे, क्योंकि मुनाफे का पूरा हिस्सा उनका होगा। इससे उत्पादन और व्यापार में वृद्धि होगी और सरकार को भी नियमित रूप से कर मिलता रहेगा। अंततः कार्नवालिस का यह मानना था कि भूमि कर स्थाई होने के बावजूद, सरकार अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए व्यापार और वाणिज्य पर कभी भी कर बढ़ा सकती थी, वस्तुतः भूमि कर का निर्धारण भी काफी अधिक दर पर किया गया था। भूमि कर की कुल रकम 2 करोड़ 65 लाख रुपए तय की गयी थी।

6.5.1 जमींदारों के साथ बंदोबस्त

इस प्रकार हमने देखा कि भू-राजस्व स्थाई तौर पर निर्धारित कर दिया गया। पर सवाल यह था कि यह किसके माध्यम से वसूला जाए? बंगाल के नवाब जमींदारों के मार्फत कर वसूला करते थे। इन जमींदारों के अधिकार में काफी बड़ा इलाका होता था, कभी-कभी पूरा जिला इनके नियंत्रण में होता था। उनके पास अपनी सेनाएँ होती थीं और उन्हें राजा कहा जाता था। पर कुछ ऐसे छोटे इलाके भी थे, जहाँ से लगान की वसूली सीधे या किसी बड़े जमींदार के माध्यम से की जाती थी। खेती का काम किसान करते थे और वे प्रत्येक उपमंडल (या परगना) में निर्धारित स्थाई प्रथागत दर से कर का भुगतान जमींदार को करते थे। शोषक जमींदार नियमित भू-राजस्व दरों के अतिरिक्त भी कर लगा देते थे। इस प्रकार के कर को ''अबवाब'' कहा जाता था।

1790 तक ब्रिटिश शासन ने इस व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। कुछ जमींदारों बरकरार रखा गया और कुछ का स्थान ठेकेदारों या पदाधिकारियों ने ले लिया। पुरानी प्रथागत दरों को नजरअंदाज किया गया और राजस्व बढ़ाने के लिए सभी तरह के गैर कानूनी कार्य किए गए। कार्नवालिस के आगमन के पूर्व पूर्णतः अव्यवस्था का माहौल था। नया गवर्नर जनरल ब्रिटेन के भूमिपति कुलीन वर्ग का सदस्य था। अतः वह जमींदारों को जमीन की मिल्कियत देने के पक्ष में था। उसके दिमाग में अंग्रेज भूमिपतियों का चित्र था, जिन्होंने खेतों को विकसित किया था। इसके अतिरिक्त राजस्व निर्धारण के लिए सरकार के पास अन्य किसी वर्ग के साथ बंदोबस्त करना कठिन था।

इस स्थिति को समझने के लिए आपको यह जानना जरूरी है कि उस समय बिहार, बंगाल और उड़ीशा को मिलाकर कुल चालीस से पचाल लाख किसान परिवार खेती में कार्यरत थे। उनसे सीधे तौर पर कर वसूली के लिए उनके खेतों का पूरा ब्यौरा तैयार करना पड़ता और उस आधार पर कर का निर्धारण करना पड़ता था। इसके लिए कई वर्ष लगाने पड़ते और काफी संख्या में कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ती। इससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता। स्पष्ट रूप से कुछ बड़े जमींदारों से राजस्व वसूलना ज्यादा सरल था और बिहार तथा बंगाल में यही व्यवस्था 1793 में स्थायी बंदोबस्त के तहत की गयी। सभी खेतिहर इलाके विभिन्न जमींदारियों में बंट गए। जमींदार को एक निर्धारित कर की अदायगी करनी होती थी, जब तक वह अपना कार्य-कुशलता से संपन्न करता रहता था तब तक वह अपनी जमींदारी का मालिक होता था। वह इसे बेच सकता था, गिरवी रख सकता था या इसे हस्तांतरित कर सकता था। काल-क्रम में उसके वंशज जमींदारी उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करते थे। पर, अगर जमींदार निर्धारित कर अदा करने में असफल रहता था, तो सरकार उसकी जमींदारी को दखल कर लेती थी और उसे नीलाम कर देती थी। इस प्रकार सभी अधिकार नए मालिक को मिल जाते थे।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 71 24-03-2021 11:47:20

6.5.2 खेतिहरों की स्थिति

खेती का काम लाखों किसान किया करते थे, जो अब जमींदार के काश्तकार मात्र रह गए थे। कार्नवालिस ने यह निर्णय भी जारी किया था कि जमींदार किसानों से लिखित समझौता (पट्टा) करेंगे और इसमें किसानों द्वारा दिए जाने वाले राजस्व का हवाला होगा। उसका विश्वास था कि इससे किसानों पर होने वाले शोषण में कमी आएगी। व्यावहारिक तौर पर, वस्तुतः किसी किसान को पट्टा नहीं दिया गया और किसान पूर्वतः जमींदारों की दया पर आश्रित थे।

यह स्थिति आकस्मिक नहीं थी। जैसा कि हमने पहले भी जिक्र किया है कि स्थाई बंदोबस्त में कर-निर्धारण बहुत ज्यादा दर पर किया गया था। यह निर्धारण बहुत ज्यादा था और इससे शोषण को बढ़ावा मिला। एक जानकार पदाधिकारी जौन शोर के अनुसार, यदि किसी भूमि से 100 रुपए का अनाज पैदा होता था, तो उसमें से 45 रुपए सरकारी खजाने में और 15 रुपए जमींदार के पास चले जाते थे। किसान के पास मात्र 40 रुपए बचते थे। इस प्रकार की भारी रकम दमनात्मक तरीके से ही वसूली जा सकती थी। अगर जमींदारों को किसानों का शोषण करने का अधिकार न दिया जाता तो वे सरकार की माँग की पूर्ति नहीं कर पाते। 1793, 1799 और 1812 में बने नियमों के तहत किसानों द्वारा रकम भुगतान न किए जाने की स्थिति में जमींदार किसान की जमीन जब्त कर सकता था। ऐसा करने के लिए उसे किसी न्यायालय की शरण में जाने की जरूरत नहीं थी। यह दमन का एक वैध तरीका था। इसके अतिरिक्त जमींदार किसानों द्वारा भुगतान न किए जाने पर अनेक अवैध तरीके भी अपनाते थे मसलन किसानों को ताले में बंद कर देना, उन्हें पीटना आदि। अतः स्थाई व्यवस्था का तात्कालिक प्रभाव किसानों को दयनीय स्थिति के रूप में सामने आया। उनकी स्थिति पहले से भी खराब हो गयी। दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार और जमींदारों को इस व्यवस्था से खूब फायदा हुआ।

6.5.3 स्थाई बंदोबस्त के प्रभाव

ऊपर से देखने में यह लगता है कि यह व्यवस्था जमींदारों के हक में काफी मजबूत थी। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अब उन्हें प्रत्येक वर्ष एक निश्चित तारीख तक एक निश्चित रकम सरकारी खजाने में जमा करवा देनी पड़ती थी और इसमें चूकने पर जमींदारी की नीलामी हो जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ जमींदारियों की दर इतनी ज्यादा निर्धारित कर दी गयी थी कि बाढ़, सूखे तथा अन्य विपत्ति के कारण उनके पास कुछ भी नहीं बच पाता था। अतः परिणामस्वरूप स्थाई बंदोबस्त के तुरंत बाद अनेक जमींदारों की जमींदारी छीन ली गयी और ये जमींदारियाँ कई दशकों तक बिकती रहीं। अकेले बंगाल में 1794 और 1819 के बीच जमींदारों की भूमि का 68 प्रतिशत बेचा गया। व्यापारियों, सरकारी पदाधिकारियों और अन्य जमींदारों ने ये जमीनें खरीदी। नए खरीददारों ने मुनाफा कमाने के लिए किसानों से अधिक रकम वसूलनी शुरू की। राजा राममोहन राय ने टिप्पणी की हैः

''1793 से स्थाई बंदोबस्त के तहत भूमिपतियों ने लगान बढ़ाने की हर संभव कोशिश की है और इसके लिए अपनी संपूर्ण शक्ति का उपयोग किया है।'' इसके बावजूद कई जमींदार ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित रकम को अदा करने में दिक्कत महसूस करते थे। एक ऐसे ही जमींदार, बर्दवान के राजा ने अपनी जमींदारी को कई टुकड़ों में बाँट दिया था, इन्हें पटनी ताल्लुक कहते थे। इन सभी इलाकों को एक पटनीदार के हवाले किया गया, जो एक नियत राशि देने का वचन देता था। अगर वह रकम अदा करने में असफल रहता था, तो उसकी पटनी जब्त कर बेच दी जाती थी। अन्य जमींदारों ने भी यह प्रथा अपनाई – इस प्रकार सामंती व्यवस्था के कई स्तर कायम होने की प्रक्रिया शुरू हुई।

धीरे-धीरे बंगाल की जनसंख्या में वृद्धि हुई। उपेक्षित जमींनों और जंगलों को भी खेतों में परिणत किया गया। दूसरी तरफ सरकार को दी जाने वाली रकम स्थिर थी। अतः जमींदारों की स्थिति में सुधार आया और अपने काश्तकारों के खर्चे पर वे शानो-शौकत की जिंदगी बसर करने लगे। 1859 में जाकर सरकार ने काश्तकारों के अधिकारों के संरक्षण का कुछ प्रयास किया। एक कानून पारित किया गया, जिससे पुराने काश्तकारों को सीमित संरक्षण प्राप्त हुआ। इन्हें दखल काश्तकार (Occupancy Tenants) कहा गया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 72 24-03-2021 11:47:20

बोध प्रश्न-2

1) बंगाल में स्थाई बंदोबस्त लागू करने के पीछे क्या मंशा थी? किसानों की स्थिति पर इसका क्या प्रभाव पड़ा? उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

2) राजस्व के ठेके की व्यवस्था पर लघु टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

6.6 वैकल्पिक व्यवस्थाओं का उदय

ब्रिटिश पदाधिकारियों ने भू-कर के निर्धारण और वसूली के अन्य तरीकों की खोज शुरू कर दी। मुनरों और रीड नामक दो पदाधिकारियों को 1792 में मद्रास क्षेत्र के नए जीते गए इलाकों में प्रशासन संभालने के लिए भेजा गया। जमींदारों से लगान वसूलने के बजाय वे सीधे गाँवों से भू-राजस्व वसूलने लगे। उन्होंने प्रत्येक गाँव के लिए एक राशि निर्धारित कर दी। उन्होंने सभी किसानों या रैयतों का अलग-अलग ब्यौरा प्राप्त करना शुरू किया और इस प्रकार रैयतवाड़ी व्यवस्था का जम्म हुआ। इस आरंभिक रैयतवाड़ी व्यवस्था में खेतों का आकलन किया जाता था और प्रत्येक खेत की एक राशि निर्धारित की जाती थी। जो किसान इस खेत पर खेती करना चाहता था, उसे निर्धारित राशि अदा करनी पड़ती थी। निर्धारित राशि न अदा करने की स्थिति में वह उस भूमि पर खेती नहीं कर सकता था। अगर उस भूमि पर खेती करने के लिए कोई किसान आगे नहीं आता हो, वह भूमि परती रह जाती थी, उस पर कोई खेती नहीं होती थी।

6.6.1 रैयतवाड़ी के तहत कर निर्धारण

आपने देखा कि कर निर्धारण या राजस्व तय करना अधिकारियों के लिए एक मुश्किल कार्य था। उसे प्रत्येक जिले और परगने के हजारों खेतों पर राजस्व निर्धारण करना पड़ता था। उसे यह सावधानी रखनी पड़ती थी कि सभी खेतों पर एक समान कर निर्धारण हो। अगर किसी खेत पर कम और किसी खेत पर ज्यादा राजस्व लगाया जाता, तो किसान महँगे खेतों को छोड़ सस्ते खेतों पर ही खेती करते और महँगे खेत परती हो जाते। उन पर कोई खेती नहीं करता।

किसी खेत के कर निर्धारण के लिए राजस्व पदाधिकारी को दो बातें ध्यान में रखनी होती थीं, पहली बात यह कि मिट्टी की उर्वरता कितनी होती है। यह पथरीली जमीन है या उपजाऊ, सिंचाई उपलब्ध है या नहीं आदि। दूसरे उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता था कि खेत किस जगह स्थित है। इससे पता चलता है कि यह व्यवस्था सर्वेक्षण और वर्गीकरण पर आधारित थी। अतः सभी गाँवों में स्थित उर्वरक भूमि का राजस्व एक-सा था, इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि खेत इस गाँव में है या उस गाँव में है। पर यह राशि कैसे निर्धारित की गयी?

मुनरो अक्सर खेत में हुए उपज का आकलन करते हुए कर का निर्धारण करता था। मसलन एक एकड़ में 2600 मन धान होता है। उसने कुल उपज का एक तिहाई या 2–5 वाँ हिस्सा सरकार के खाते में डाल दिया और इसका मूल्य निर्धारित कर दिया। इतनी ही राशि एक किसान सरकार को देता था। यह रैयतवाड़ी का सैद्धांतिक पक्ष है। व्यवहार में राजस्व का आकलन अनुमान पर आधारित होता था और इतनी ज्यादा राशि माँगी जाती थी कि किसान बहुत मुश्किल से वह राशि अदा कर पाता था और कभी-कभी तो इस राशि की वसूली मुश्किल हो जाती थी।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 73 24-03-2021 11:47:20

6.6.2 मद्रास में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करना

भू-राजस्व संबंधी आरंभिक प्रयोगों के बाद मद्रास में 1820 तक रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू कर दी गयी और इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए मुनरों को मद्रास का गवर्नर नियुक्त किया गया। मुनरो ने इस व्यवस्था के पक्ष में कई तर्क दिए। उसने दावा किया कि यह मूलतः भारतीय भू-व्यवस्था है और भारतीय परिवेश के लिए उपयुक्त है। इसे लागू करने से अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक कर की प्राप्ति हो सकती है। इसका कारण यह है कि राजस्व निर्धारण और वसूली में सरकार और किसान के बीच सीधा संबंध होगा। इसमें कोई जमींदार या बिचौलिया नहीं होगा। अतः किसान से प्राप्त पूरी राशि सरकारी खजाने में चली जाएगी। मद्रास सरकार की वित्तीय स्थिति कमजोर थी और उसके लिए यह व्यवस्था अनुकूल साबित होगी। अतः स्थाई बंदोबस्त की खामियों का लाभ उठाते हुए उसने अस्थाई रैयतवाड़ी बंदोबस्त लागू किया।

6.6.3 रैयतवाड़ी : सिद्धांत और व्यवहार

हमने मुनरो द्वारा विकसित रैयतवाड़ी व्यवस्था की रूपरेखा पर विचार किया। मुनरो ने इस व्यवस्था को अपने नियंत्राधीन जिलों में लागू किया था। हालांकि 1820 के बाद जो रैयतवाड़ी व्यवस्था मद्रास प्रेसिडेंसी के अधिकांश भागों में लागू की गयी, वह मुनरों की व्यवस्था से थोड़ा भिन्न थी। आपको याद होगा कि उसकी रैयतवाड़ी खेतों के आकलन पर आधारित थी और कोई भी किसान किसी भी खेत पर खेती करने के लिए स्वतंत्र था। और जैसा कि हमने देखा है कि इस व्यवस्था का कार्यान्वयन खेतों की माप और आकलन पर निर्भर था। यह माप और आकलन सरकार किया करती थी। लेकिन 1820 के बाद यह व्यवस्था उन इलाकों में भी स्थापित की गई जहाँ कोई सर्वेक्षण नहीं किया गया था। कोई यह नहीं जानता था कि एक किसान के पास कितनी जमीन है और उसमें क्या उपजाया जाता है। करों का निर्धारण मनमाने ढंग से, पहले से अदा किए जा रहे करों के आधार पर किया जाने लगा। इसे पूर्व उत्पादन पर आधारित (Put Out) आकलन कहा गया। इसमें भी सिद्धांततः रैयत को अपने चुनाव पर किसी खेत पर खेती करने की स्वतंत्रता दी गयी। लेकिन बहुत जल्द ही यह महसूस किया जाने लगा कि अगर यह स्वतंत्रता दी गयी, तो सरकार के राजस्व में कमी आ जाएगी। अतः सरकारी पदाधिकारी किसानों को उन खेतों पर काम करने के लिए दबाव डालने लगे, जिन पर वे काम नहीं करना चाहते थे, और उन्हें इसका राजस्व भी अदा करना पड़ता था। अब किसी खेत पर खेती करना किसानों की इच्छा पर निर्भर नहीं था, क्योंकि इससे राजस्व वसूल करने में असुविधा होती थी। अतः किसी किसान को खास खेती में काम करने के लिए मजबूर किया जाने लगा और राजस्व वसूली के लिए उन पर तरह-तरह के अत्याचार भी किए जाने लगे। इन अत्याचारों का 1854 में स्थापित मद्रास यातना आयोग ने फर्दाफाश किया। इसके बाद इस व्यवस्था में कुछ सुधार लाया गया। भूमि का वैज्ञानिक सर्वेक्षण किया गया। इससे कर का वास्तविक भार कम हुआ और राजस्व वसूली में अब किसी प्रकार के अत्याचार की जरूरत नहीं थी। हालांकि यह बदलाव 1860 के बाद आया।

6.6.4 बंबई में रैयतवाड़ी बंदोबस्त

बंबई प्रेसिडेंसी के अंतर्गत गुजरात में रैयतवाड़ी व्यवस्था की शुरुआत हुई। ब्रिटिश सरकार ने पहले वंशानुगत पदाधिकारियों (देसाई) और मुखिया (पटेल) के जरिए राजस्व वसूलना शुरू किया। इस तरीके से उन्हें मनचाही रकम नहीं प्राप्त हो रही थीं, अतः अंग्रेज 1813-14 से खुद सीधे किसानों से राजस्व वसूल करने लगे। अंग्रेजों ने 1818 में पेशवा राज्य को हस्तगत कर लिया। इसके बाद मुनरो के शिष्य एलफिस्टन के नेतृत्व में मद्रास में लागू रैयतवाड़ी व्यवस्था को यहाँ भी कार्यान्वित किया गया। मद्रास रैयतवाड़ी के दुर्गुण यहाँ भी जल्द ही प्रकट होने लगे। राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारियों के बीच अधिक से अधिक राजस्व बटोरने की होड़ मच गयी।

प्रिंगल नामक पदाधिकारी के निरीक्षण में भूमि का सर्वेक्षण और वर्गीकरण किया गया। यह सर्वेक्षण अंग्रेज अर्थशास्त्री रिकार्डो के ''लगान के सिद्धांत'' को आधार बनाकर किया जाना था। यह सिद्धांत भारतीय परिस्थिति से बिल्कुल मेल नहीं खाता था और प्रिंगल की गणना

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 74 24-03-2021 11:47:20

खामियों से भरा थी, परिणामतः आकलन बहुत अधिक था। जब सरकार ने पुणे जिले में प्रिंगल द्वारा लगाए गए राजस्व वसूल करने की कोशिश की, तो अधिकांश किसानों ने अपनी जमीन छोड़ दी और हैदराबाद के निजाम के राज्य में चले गए। कुछ समय बाद इस आकलन को छोड़ दिया गया।

विंगेट और गोल्डस्मिथ नामक दो पदाधिकारियों ने एक नयी व्यवस्था सामने रखी। उन्होंने अपनी व्यवस्था में किसी सिद्धांत का समावेश नहीं किया, बल्कि कर निर्धारण उस दर पर करने की कोशिश की, जिसे नियमित रूप से अदा किया जा सके। खेत की मिट्टी और स्थान के आधार पर खेत का आकलन निर्धारण किया जाना था। इस व्यवस्था की शुरुआत 1836 में हुई और 1865 तक यह संपूर्ण दक्कन में छा गई। कृषि पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा और नए कर निर्धारण के साथ खेतिहर इलाकों में भी वृद्धि हुई।

6.6.5 मद्रास और बंबई में रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रभाव

हमने देखा कि किस प्रकार स्थाई बंदोबस्त में पूरे किसान वर्ग पर कुछ मुट्ठी भर जमींदारों का वर्चस्व स्थापित हो गया। रैयतवाड़ी व्यवस्था में सामाजिक प्रभाव का एक दूसरा रुख सामने आया। कई इलाकों में वास्तविक खेती करने वाले किसानों को दखलदार (occupants) या रैयत का दर्जा दिया गया और उनका अपनी जमीन पर दखल कायम हुआ। जैसा कि हमने पहले देखा कि राजस्व की दर ऊँची होने के कारण बहुत से किसान खुशी-खुशी अपनी जमीन छोड़ देते, उन्हें ऐसा करने से रोकना था। इसमें यह भी संभव था कि वास्तव में खेती न करने वाले लोग किसी जमीन के दखलदार या मालिक बन जाएँ:, और इस खेत पर उनके काश्तकार, नौकर यहाँ तक कि बंधुआ मजदूर खेती करें। ऐसी स्थिति खासकर तमिलनाडु के तंजौर जिले में थी जहाँ कई रैयतों के पास हजार-हजार एकड़ जमीन थी। रैयत जितनी जमीन चाहे अपने पास रख सकता था, जमीन रखने की कोई सीमा निर्धारित नहीं थी। अतः विभिन्न रैयतों की आर्थिक स्थिति और स्तर में काफी फर्क था। महाजन और अन्य गैर खेतिहर वर्ग जमीन हासिल करने के इच्छुक नहीं थे, क्योंकि राजस्व दर बहुत ऊँची थी। हालांकि राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारी किसानों को परेशान किया करते थे, पर किसानों को यह भय नहीं था कि महाजन या भूमिपति उसकी जमीन हड़प लेंगे। बंबई में 1836 के बाद और मद्रास में 1858 के बाद सुधरी रैयतवाड़ी व्यवस्था में भू-राजस्व का भार कुछ हल्का हुआ और जमीन की खरीद-फरोख्त शुरू हो गयी। अब खरीददार खेती से लाभ कमाने की सोच सकता था; क्योंकि अब राज्य सारा उत्पादन नहीं ले लेता था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि महाजन अपने ऋणी किसानों की जमीनें हड़पने लगे, उनसे जमीनें छीनने लगे या उन्हें किसान से मजदूर बना दिया। इस प्रक्रिया में सामाजिक दबाव बढ़ा और 1875 में बंबई दक्कन में बड़ा ग्रामीण विद्रोह हुआ।

6.7 अन्य वैकल्पिक बंदोबस्त : महलवाड़ी व्यवस्था

1801 और 1806 के बीच लार्ड वेलेस्ली की विस्तारवादी नीति के कारण उत्तर भारत के अनेक हिस्से ब्रिटिश राज्य में मिला लिए गए। यह इलाका उत्तर-पश्चिमी प्रांत के रूप में जाना गया। आरंभ में अंग्रेजों ने बंगाल के नमूने पर यहाँ भी बंदोबस्त करने की योजना बनाई। वेलेस्ली ने अपने स्थानीय पदाधिकारियों को ऐसे जमींदारों की खोज करने के लिए कहा, जो काफी ऊँची दर पर राजस्व दे सकें। अगर कोई जमींदार न मिले तो गाँव-गाँव जाकर बंदोबस्त किया जा सकता था, और राजस्व अदायगी का काम मुकद्दम, प्रधान या गाँव के किसी प्रतिष्ठित रैयत को सौंपा जा सकता था। अंततः बंगाल की तरह स्थाई बंदोबस्त कायम करने की योजना थी।

इसके साथ-साथ राजस्व वसूली को बढ़ाने के हर संभव उपाय किए गए। 1803-04 में 188 लाख रुपए की माँग की गयी, यह माँग 1817-18 में बढ़कर 297 लाख रुपए हो गयी।

इस प्रकार की बढ़ोतरी का अधिकांश बड़े जमींदारों और राजाओं ने कड़ा विरोध किया। ये जमींदार और राजा पहले ही अपनी स्वतंत्रता लगभग खो चुके थे। अतः नए प्रशासन ने उनकी जमीनें छीन ली। पुराने जमींदार अंग्रेजों द्वारा माँगी गयी रकम का भुगतान न

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 75 24-03-2021 11:47:20

कर सके और सरकार द्वारा उनकी संपदा बेच दी गयी। अतः अब सीधे गाँव के प्रधान और मुक्कदम के माध्यम से राजस्व वसूली अनिवार्य हो गयी। राजस्व संबंधी खातों में एक वित्तीय इकाई के लिए ''महल'' शब्द का उपयोग किया गया है, अतः गाँव आधारित कर निर्धारण को महलवाड़ी बंदोबस्त के रूप में जाना जाने लगा। इस व्यवस्था में एक व्यक्ति कई गाँवों का जिम्मा ले सकता था, इस प्रकार बड़े जमींदारों का उदय होने लगा। बंगाल के समान राजस्व वसूली में यहाँ भी अव्यवस्था आई। आरंम्भिक वर्षों में सरकारी पदाधिकारी अवैध तरीके से जमीनें अपने पास रख लेते थे। इसी समय सरकार को यह महसूस हुआ कि राजस्व वसूली में आमदनी से अधिक खर्च हो रहा है । इसके बाद स्थाई बंदोबस्त को समाप्त कर दिया गया।

6.7.1 महलवाड़ी : सिद्धांत और व्यवहार

1819 में एक अंग्रेज पदाधिकारी हॉल्ट मैकेंजी ने एक सिद्धांत सामने रखा कि ताल्लुकदार और जमींदार मूलतः राज्य द्वारा नियुक्त थे और वे उस गाँव के या उस ग्रामीण समुदाय के मालिक थे, जहाँ वे रहते थे। उसने तर्क दिया कि सर्वेक्षण में उनके अधिकारों और भुगतान की राशि का उल्लेख होना चाहिए। उसके ये विचार 1822 के अधिनियम-VII के रूप में संग्रहित हैं। इसके अनुसार यह जरूरी हो गया कि सरकारी पदाधिकारी जमींदारों, खेतिहरों आदि के अधिकारों को उल्लेख सर्वेक्षण में करें, साथ ही साथ इस बात का भी जिक्र करें कि किस खेत के लिए कितनी रकम निश्चित की गयी हैं। गवर्नर जनरल का आदेश इस प्रकार है : प्रत्येक गाँव में लगान की दरों, भुगतान के तरीके, प्रत्येक खेत की रकम का विस्तार से उल्लेख होना चाहिए, इसके अभाव में बंदोबस्त अपूर्ण माना जाएगा।

व्यावहारिक तौर पर इसे लागू करना असंभव सिद्ध हुआ। आकलन अपर्याप्त सिद्ध हुए और राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारियों ने सरकार के खजाने को भरने के लिए मनमाने ढ़ंग से अख्यितार किए। महलवाड़ी व्यवस्था ग्रामीण समुदाय का भला तो नहीं कर सकी, उसने असंभव कर निर्धारण द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था को खोखला बना दिया। 1833 में यह निर्णय लिया गया कि सभी अधिकारों और भुगतान को विस्तारपूर्वक दर्ज करने की नीति छोड़ी जाए और गाँवों द्वारा दी जाने वाली रकम का मोटा खाका बनाया जाए। बाद के वर्षों में काश्तकारों द्वारा जमीन के मालिकों को दी जाने वाली रकम के आधार पर राजस्व की राशि तय की गयी। इस रकम के आधार पर बंदोबस्त पदाधिकारी को पूरे गाँव या महल की जमीन से प्राप्त होने वाले राजस्व को निर्धारित करना था, इस राशि का कुछ हिस्सा अर्थात् 50 प्रतिशत सरकार को अदा करना था। ये सारे आकलन अनुमान पर आधारित थे और इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस अनुमान के आधार पर दरें ऊँची रखी गयी ताकि सरकार को अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त हो सके।

6.7.2 महलवाड़ी बंदोबस्त के प्रभाव

इस व्यवस्था का आरंभिक प्रभाव यह हुआ कि बड़े ताल्लुकदारों की संख्या में कमी आई। ब्रिटिश पदाधिकारियों ने जहाँ तक संभव हुआ, ग्रामीण जमींदारों से सीधा बंदोबस्त किया और अगर किसी ताल्लुकदार ने न्यायालय की शरण ली तो इन पदाधिकारियों ने वहाँ भी ग्रामीण जमींदारों का समर्थन किया। तथाकथित ग्रामीण जमींदारों का समर्थन इसलिए किया गया ताकि उनसे अधिक से अधिक राजस्व वसूला जा सके। वे ताल्लुकदारों से तो मुक्त हो गए पर सरकार के भारी कर के जाल में बुरी तरह फँस गए।

इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण जमींदार उजड़ गए। एक पदाधिकारी ने अलीगढ़ की स्थिति का विवरण देते हुए लिखा है :

''जमा (भू-राजस्व) की दर काफी ऊँची है, ऐसे में मालगुजार राजस्वदाता अपनी स्थिति सुधारने की आशा छोड़ चुके हैं और भार को सहने में सक्षम नहीं है वे बुरी तरह ऋण के बोझ तले दबे हुए है, और बकाया राशि अदा करने की हालत में नहीं हैं।'' इसके परिणामस्वरूप खेत महाजनों और व्यापारियों के हाथ में जाने लगे, जिन्होंने खेत के पुराने मालिकों को किसान से मजदूर बना दिया। ऐसा ज्यादातर वाणिज्य प्रधान जिलों में हुआ, जहाँ राजस्व का निर्धारण काफी ऊँची दर पर किया गया था और जहाँ के भूमिपतियों को 1833 की मंदी के कारण काफी नुकसान उठाना पड़ा था। 1833 के बाद व्यापार ढह गया

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 76 24-03-2021 11:47:20

था और निर्यात बिल्कुल मंदा हो गया था। 1840 के दशक में कई बार ऐसी स्थिति आती थी कि बकाया राशि वसूलने के लिए जमीन बेची जा रही होती थी और कोई खरीदार नहीं मिलता था। मद्रास प्रेसिडेंसी के समान इन इलाकों का कर भी इतना ऊँचा था कि कोई खरीददार मुनाफे की आशा नहीं कर सकता था। अतः महलवाड़ी व्यवस्था के कारण 1830 और 1840 के दशकों में उत्तर भारत में गरीबी और तबाही आयी और इसका प्रस्फुटन 1857 के लोकप्रिय विद्रोह के रूप में हुआ। इस वर्ष के दौरान पूरे उत्तर भारत में ग्रामीणों और ताल्लुकदारों ने सरकारी पदाधिकारियों को मार भगाया, न्यायालय, सरकारी आँकड़े और कागजात नष्ट कर दिए तथा नए खरीददारों को गाँवों से बाहर निकाल दिया।

बोध प्रश्न-3

1) रैयतवाड़ी व्यवस्था और स्थाई बंदोबस्त में क्या अंतर है? किन्हीं तीन का उल्लेख करें।

.....

.....

.....

2) रैयतवाड़ी व्यवस्था महलवाड़ी व्यवस्था से किन बातों में अलग है? उत्तर दें।

.....

.....

.....

3) ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर महलवाड़ी बंदोबस्त का क्या प्रभाव पड़ा? उत्तर दें।

.....

.....

.....

6.8 सारांश

इस प्रकार हमने इस इकाई में देखा कि भारत में वाणिज्यीकरण कोई नयी चीज न थी। लेकिन प्रारंभिक अंग्रेज शासन के दौरान इसने जो स्वरूप ग्रहण किया वह निश्चय ही पहले के शासकों के शासन काल में विद्यमान स्वरूप से महत्वपूर्ण ढंग से भिन्न था, यह वाणिज्यीकरण एक व्यापारिक कंपनी के अधीन हुआ। इस कंपनी का मुख्यालय इंग्लैंड में स्थित था और उसके अधिकतर कर्मचारी भी वहीं से आते थे।

- इसलिए भारत से धन को भेजना या रूपांतरित करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था।
- पश्चिम के बाजारों में जिन वस्तुओं की माँग थी उनके ही उत्पादन को संगठित करने का कार्य किया गया।
- कंपनी भारतीय वस्तुओं को कम से कम मूल्य पर खरीदना चाहती थी इसीलिए भारतीय उत्पादनकर्ताओं के दमन के साथ-साथ उनके विरुद्ध हिंसात्मक साधनों का प्रयोग भी किया। ऐसा ही करने की अनुमति बागानों के मालिकों एवं दूसरों को दी गई, जिससे कि भारतीय किसानों से कम से कम कीमत पर उत्पादन कराया जा सके।
- किसानों को अर्ध-गुलाम बनाकर इन फसलों का उत्पादन कराया गया जिससे कि उनको अधिक से अधिक मुनाफा हो। इस काम के लिए नकद मजदूरी पर मजदूरों को नहीं रखा गया।
- जहाँ एक ओर उत्पादन बाजारों का वाणिज्यीकरण हुआ वहीं दूसरी ओर भूमि बाजार एवं श्रम बाजार विकसित न हो सके।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 77 24-03-2021 11:47:20

इस प्रकार इस इकाई में हमने ब्रिटिश काल के दौरान उभरने वाली तीन प्रमुख भू-व्यवस्थाओं की जानकारी प्राप्त की। नए विजित इलाकों में अंग्रेजों ने महलवाड़ी या रैयतवाड़ी व्यवस्था कायम की। पंजाब में महलबाड़ी व्यवस्था लागू की गयी और केंद्रीय भारत में कुछ बदले हुए रूप में मालगुजारी व्यवस्था। 1857 के विद्रोह के बाद अवध के ताल्लुकदारों को जमीन का मालिक बना दिया गया ताकि भविष्य में होने वाले विद्रोहों में वे अंग्रेजों का साथ दे सकें। यहाँ भी महलवाड़ी बंदोबस्त कायम किया गया।

हमारे विचार-विमर्श से एक बात स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई कि अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक राजस्व वसूलना था। कभी-कभी इससे भूमि का बाजार निर्मित होता था, और भूमि वो खरीद-फरोख्त होती थी। पर साथ ही साथ राज्य द्वारा स्थापित ऊँची दर के कारण खरीददार भी मुश्किल से मिल पाते थे। भारत सरकार का खर्च बढ़ गया था और उसे लंदन भी राशि भेजनी होती थी, अतः ज्यादा से ज्यादा राजस्व वसूलने का प्रयत्न किया गया।

6.9 शब्दावली

निर्यात : वह व्यापारिक गतिविधि जिसमें एक देश की वस्तुएँ दूसरे देश में बेची जाती है।

कृषि में अस्थायीत्व : परम्परागत रूप से कृषि सूखे और बाढ़ जैसे खतरों से प्रभावित रहती है। कृषि बाजार के सूदूर बाजारों से संबंधित किए जाने से यह उस देश के मूल्यों के उतार-चढ़ाव से भी प्रभावित होने लगी। यदि किसी ओर देश में कपास के मूल्य गिरे तो भारत में भी कपास के मूल्य प्रभावित हुए। इससे कृषि बाजार में अस्थायीत्व आया।

6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) भाग 6.1 देखें।
2) भाग 6.2 देखें।
3) भाग 6.3 देखें।

बोध प्रश्न-2

1) इस उत्तर में आप स्थाई बंदोबस्त लागू करने के पीछे अंग्रेजों के आर्थिक हितों का उल्लेख करें। उत्तर के दूसरे भाग में जमींदारों पर किसानों की बढ़ती निर्भरता और किसानों की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डालें। उपभाग 6.5.1, 6.5.2 और 6.5.3 देखें।
2) भाग 6.4 देखें।

बोध प्रश्न-3

1) एक जमींदार के साथ, दूसरे में रैयतों के साथ बंदोबस्त किया गया। देखें भाग 6.5 और 6.6
2) देखें भाग 6.6 और 6.7
3) ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महाजनों और व्यापारियों का बढ़ता प्रभाव और किसानों की तबाही आदि। देखें, उपभाग 6.7.2

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 78 24-03-2021 11:47:20

इकाई 7 औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था : व्यापार और उद्योग

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का ढाँचा

7.3 ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार

7.4 एकाधिकार बनाम मुक्त व्यापार

7.5 कंपनी के व्यापार की प्रकृति

7.6 वाणिज्यिक व्यवसाय और राजनीतिक शक्ति

7.7 औद्योगिक पूँजीवाद का उदय एवं कंपनी की वाणिज्यिक नीतियाँ

7.8 अनौद्योगिकरण : देशी उद्योगों पर प्रभाव

7.9 सारांश

7.10 शब्दावली

7.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे:

- बहुत से निवेशकों की सामूहिक पूँजी उद्यम के रूप में किस प्रकार से ईस्ट इंडिया कंपनी की संरचना की गई,
- ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से विख्यात इन पूँजीवादी उद्यमों को किस प्रकार तथा क्यों उनके क्रमशः अपने-अपने देशों की सरकारों के द्वारा व्यापार के विशेषाधिकारों पर एकाधिपत्य प्रदान किया गया,
- ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार व्यापार एवं अंग्रेजी मुक्त व्यापारियों के बीच संघर्ष कैसा था जिसके कारण व्यापार के विशेषाधिकारों पर एकाधिपत्य को वापस लिया गया,
- भारत में सामूहिक एकाधिकार के रूप में ब्रिटिश कंपनी के व्यापार एवं कंपनी के नौकरों के व्यक्तिगत व्यापार की प्रकृति,
- उन कारणों के विषय में जिनसे कि पूँजीवादी उद्यमी क्षेत्रों तथा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुए, और
- औद्योगिक पूँजीवाद के उदय ने किस प्रकार से भारतीय ब्रिटिश आर्थिक संबंधों की प्रकृति को परिवर्तित किया और इसके फलस्वरूप कंपनी की वाणिज्य नीतियों में कैसे परिवर्तन हुए।

7.1 प्रस्तावना

आप पहले ही उन परिस्थितियों को जान चुके हैं जिनके कारण ईस्ट कंपनी अस्तित्व में आयी। यह यूरोप में व्यापारिक पूँजीवाद के लम्बे विकास का परिणाम थी। आप यूरोपीय ईस्ट इंडिया कंपनियों विशेषकर ब्रिटिश कंपनी के द्वारा अदा की गई उस भूमिका के विषय में भी जानते हैं जो उन्होंने अठारहवीं सदी के अन्तिम दशकों तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में भारत के राजनीतिक इतिहास में निभायी। इस इकाई में भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार एवं इसके पास एकाधिकार की संरचना एवं प्रवृत्ति से आपका

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 79 24-03-2021 11:47:20

परिचय कराया जाएगा। कंपनी के द्वारा क्षेत्रों तथा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के पीछे उद्देश्यों, इंग्लैंड में औद्योगिक पूँजीवादी का उद्भव और कम्पनी की वाणिज्य नीतियों में इसका प्रभाव, इन सबका इस इकाई में विवेचन किया गया है।

7.2 ईस्ट इंडिया कंपनी का ढाँचा

आपको यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि आजकल व्यावसायिक उद्यमों में उन कंपनियों का प्रभुत्व है, जो स्टॉकों एवं शेयर्स की बिक्री इसलिए करती हैं जिसमें कि व्यवसाय में जरूरत पड़ने वाली पूँजी को एकत्रित कर सकें। ये संयुक्त स्टॉक कम्पनियाँ उनसे भिन्न हैं, जिनमें व्यवसाय पर एक स्वामी या हिस्सेदारी में कुछ स्वामियों का अधिकार होता था। यूरोप की ईस्ट इंडिया कंपनियाँ विश्व में प्रारंभिक संयुक्त स्टॉक कंपनियों में से कुछ एक थीं।

इन कंपनियों की क्या विशेषता थी और इन्होंने अपने संयुक्त स्टॉक संगठन स्वरूप से कैसे लाभ प्राप्त किया? संयुक्त स्टॉक संरचना के विषय में ऐसा कहा जाता है कि इसके अनुसार विभिन्न स्रोतों या शेयर धारकों से पूँजी को एकत्रित किया जाता है। ये कंपनियाँ फिर इस योग्य हो जाती हैं कि ये काफी बड़ी मात्रा में पूँजी को इकट्ठा कर सकती थी। किसी एक मालिक या कुछ को हिस्सेदारी के लिए सम्भव नहीं था, जो इन सबसे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ये संयुक्त स्ट्राक कंपनियाँ व्यावसायिक गतिविधियों और नीतियों को काफी लंबे समय तक, कभी-कभी सदियों तक अनवरत रूप से चलाने को सुनिश्चित कर सकती हैं जबकि एक मालिक के अधीन व्यवसाय का जीवन काफी कम होता था। इसको भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि संयुक्त स्टॉक कंपनी में पूँजी की गतिशीलता बनाए रखने की पर्याप्त संभावना होती है, दूसरे शब्दों में कंपनी के शेयर धारकों के रूप में निवेश किए गए धन को शेयर का मालिक वापस ले सकता है (अपने शेयर को दूसरे को बेचकर)। दूसरी कंपनी में निवेश करने सहित वह उसको कहीं अन्य उपयोग में लगा सकता है इस प्रकार से पूँजी किसी एक ही उद्यम में बंधी नहीं रहती बल्कि वह अधिक लाभ देने वाले उद्यमों की ओर गतिशील होती रहती है। इस प्रकार पूँजी का अच्छी प्रकार से उपयोग सुनिश्चित होता जाता है।

इन सभी कारणों से ईस्ट इंडिया व्यापार के लिए संयुक्त स्टॉक कंपनियों का स्वरूप पहले अन्य स्वरूपों की अपेक्षा अधिक सक्षम एवं उच्चतर था। विशेषकर भारत के साथ व्यापार के लिए यूरोपीय देशों को इस प्रकार संगठन के नए स्वरूप की आवश्यकता थी क्योंकि निवेश करने के लिए काफी बड़ी पूँजी की जरूरत पड़ती थी। ऐसा इस कारण से था कि व्यापार की अनिश्चिता बनी रहती थी (जहाज डूबने, युद्ध आदि के कारण) और पूँजी निवेश करने तथा लाभांश प्राप्त होने के बीच भी काफी लंबे समय की प्रतीक्षा करनी होती थी। क्योंकि व्यापारिक जहाजों को भारत तक आने के लिए संपूर्ण अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाना पड़ता था। इन्हीं कारणों से प्रारंभिक दिनों में अंग्रेज सौदागरों को अपना धन सामूहिक रूप से इकट्ठा करके भारत की यात्रा पर जाने के लिए, जहाजों को खरीदने, किराए पर लेने और सुसज्जित करने पर लगाना पड़ता था। इसकी तर्कपूर्ण परिणति संयुक्त स्टॉक उद्यम के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना में हुई (1600)। प्रारंभ में लंदन के कुछ बहुत धनी सौदागर ईस्ट इंडिया कंपनी के शेयर धारक थे। लेकिन अठारहवीं सदी के दौरान तुलनात्मक रूप से कुछ छोटे शेयर धारकों ने इसमें भाग लेना शुरू किया और नयी यूनाइटेड कंपनी ऑफ दि मर्चेंट ऑफ ट्रेडिंग टु दी ईस्ट इंडिज (1708 में स्थापित) के मालिक बन गए। इसको उसी पुराने नाम ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से पुकारा जाता था।

7.3 ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार

ईस्ट इंडिया कंपनी की दूसरी संरचनात्मक विशेषता यह थी कि इंग्लैंड की सरकार के द्वारा इसको एकाधिकार प्रदान किया गया था। इस एकाधिकार का क्या तात्पर्य था और इसको क्यों प्रदान किया गया था? सामान्यतः एकाधिकार से तात्पर्य यह है कि भारत तथा हिंद महासागर के अन्य देशों और इससे आगे पूरब की ओर चीन के साथ होने वाले व्यापार पर

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 80 24-03-2021 11:47:20

पूर्ण रूपेण नियंत्रण को कायम करना। इसके फलस्वरूप उपरोक्त बताए गए देशों के साथ केवल ईस्ट इंडिया कंपनी (किसी अन्य व्यक्ति या व्यावसायिक फर्म की तुलना में) वैधानिक रूप से व्यापार करने के लिए अधिकृत थी। यह कंपनी का वैध अधिकार था जिसको प्रथम बार महारानी ऐलिजाबेथ ने प्रदान किया और बाद में अन्य सम्राट प्रदान करते रहे। सत्रहवीं एवं अठारहवीं सदी में सम्राटों या सरकारों ने ऐसा क्यों किया? उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी को इस अधिकार को इसलिए प्रदान किया क्योंकि वाणिज्यवादियों के विचारों के प्रभाव के अंतर्गत सामान्यतः यह विश्वास किया जाता था कि विदेशी व्यापार से धन देश के अंदर लाने के लिए राज्य को बाह्य व्यापार को प्रोत्साहन देना चाहिए। इससे दूरस्थ देशों के साथ व्यापार में जोखिम होने से विशेषकर एकाधिकार व्यवस्था को अनिवार्य माना जाने लगा जिससे कि निवेशकर्ताओं के एकाधिकार लाभों को सुनिश्चित किया जा सके और इस प्रकार इस तरह के निवेश को प्रोत्साहित भी किया गया। दूसरे, भारतीय व्यापार में अपेक्षाकृत धनी सौदागर ब्रिटिश राजा के दरबार एवं सरकार में काफी प्रभावशाली भी थे।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड की सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी को व्यापार का एकाधिकार प्रदान कर दिया। यह कंपनी को एक चार्टर के द्वारा दिया गया। दूसरे शब्दों में, एकाधिकार के अधिकार को एक लिखित अनुदान के रूप में दिया गया और समय-समय पर इसका सरकार के द्वारा नवीनीकरण किया जाता था। जिस एक्ट के अंतर्गत कंपनी को यह अधिकार प्रदान किया गया था उसको अठारहवीं सदी के अंत तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटिश संसद द्वारा पारित 'चार्टर एक्ट' के नाम से जाना गया। (फ्रांसीसी तथा डच ईस्ट इंडिया कंपनियों को भी एकाधिकार प्राप्त थे और इनको उनकी सरकारों के द्वारा प्रदान किया गया था)।

सरकार द्वारा अनुदानित एकाधिकार की घोषणा एक बात है और वास्तव में एकाधिकार (अर्थात् दूसरों को पूर्णरूपेण अलग कर देना) को प्रभावी बनाना बिल्कुल एक दूसरी बात है। वास्तविक कार्य रूप में इस वैध एकाधिकार का क्या तात्पर्य था?

7.4 एकाधिकार बनाम मुक्त व्यापार

ईस्ट इंडिया कंपनी के सर्वोच्च प्रबंधकों को निर्देशक मंडल (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) कहा जाता था और उनको अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से 1813 तक कंपनी को एकाधिकार अधिकार को प्रभावी बनाने के लिए अर्थात् दूसरों को व्यापार में प्रवेश करने से रोकने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ा। यह कोई आसान कार्य न था। एक अन्य बात यह है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी के अपने अधिकारिक व्यवसाय अर्थात् कंपनी के व्यवसाय के साथ-साथ अपना व्यक्तिगत व्यवसाय स्थापित कर सकते थे, लेकिन उनका यह व्यवसाय कंपनी के हितों से ऊपर नहीं होता था। एक अन्य तथ्य यह भी था कि वहाँ पर सदैव ऐसे सौदागर एवं साहसी लोग थे जो व्यापार के लिए भारत आते तथा अपनी स्वयं की व्यवसाय फर्मों को स्थापित करने में सफल हो जाते, इनको ''मुक्त'' सौदागर (interlopers) या ''बिना अधिकार के व्यापार करने वाले'', (अर्थात् बिना अधिकार के प्रवेश करने वाले अनाधिकृत व्यवसाय में व्यस्त) कहा जाता था। इन दोनों प्रकार की गतिविधियों ने कंपनी के एकाधिकार के रास्ते में अवरोध पैदा किए।

ईस्ट इंडिया कंपनी के सेवकों या कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यवसाय के विषय में समस्या यह थी कि भारत में स्थित सर्वोच्च अधिकारियों सहित कंपनी के कर्मचारियों के स्वयं के हित इस बात की आज्ञा प्रदान नहीं करते थे कि कंपनी के निदेशकों द्वारा व्यक्तिगत व्यापार को रोकने के लिए दिए गए निर्देशों को कठोरता से लागू किया जाए। कंपनी के कर्मचारियों का वेतन उन्नीसवीं सदी तक काफी कम था तथा व्यक्तिगत व्यापार के लाभ से वेतन में वृद्धि करने की परंपरा का व्यापक प्रचलन था। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह थी कि कंपनी के सेवक आदतन अपने व्यक्तिगत व्यापार की वस्तुओं को कंपनी नियति की वस्तुओं के साथ रख देते थे जिससे कि बंगाल में आतंरिक करों से उनको छूट मिल जाती थी। इसको दस्तक (कर मुक्त व्यापार के लिए लाइसेंस) का दुरुपयोग कहा जाता था और यह बंगाल के नवाब एवं अंग्रेजों के बीच विवाद और

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 81 24-03-2021 11:47:20

संघर्ष के कारणों का मुख्य विषय हो गया था। वास्तव में अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कंपनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापारिक हित और कंपनी का अधिकारिक व्यापार व्यवहारिक तौर पर एक दूसरे के लिए अविभाज्य हो गए थे।

जहाँ तक ''मुक्त सौदागरों'' का प्रश्न है, उनका उद्देश्य अपने व्यापार का प्रसार कंपनी के व्यापार के कीमत पर करना था। यद्यपि उनको इसलिए सहन किया गया क्योंकि कंपनी के कर्मचारियों के लिए वे काफी उपयोगी होते जा रहे थे जिससे कंपनी के कर्मचारी अपने संचित धन और बेइमानी से मिली लूट का निवेश उनके व्यापार में कर देते थे। धन को मुक्त सौदागरों के माध्यम से इंग्लैंड भेजने की सुविधा भी थी। कंपनी के निर्देशकों एवं लॉर्ड कार्नवालिस जैसे विवेकशील गवर्नरों ने कंपनी के कर्मचारियों पर व्यक्तिगत व्यापार छोड़ने के लिए दबाव डाला, इस कारण से ''मुक्त सौदागरों''को कंपनी के कर्मचारियों से अधिक पूँजी प्राप्त हुई। वे ऐसे कार्य करते कि उनको कंपनी के कर्मचारियों का एजेंट कहा जाता। इसी के साथ उन एजेंसी संगठनों का विकास हुआ जिनको उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रबंधक एजेंसीज (मैनेजिंग एजेंसीज) के नाम से पुकारा जाने लगा।

इसी बीच इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी के विशेषाधिकार पर एकाधिपत्य की आलोचना होने लगी। मुक्त व्यापार का सिद्धांत जिसको कि एडम स्मिथ (वेल्थ ऑफ नेशंस, 1976) ने प्रचारित किया था, वह एकाधिकारवाद के विरोधी थे। भारतीय व्यापार से ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अलग किए गए पूँजीपतियों ने स्वाभाविक रूप से मुक्त व्यापार के अभियान का समर्थन किया। इंग्लैंड में पूँजी संचयन निवेश पर लगे प्रतिबंधों से स्वतंत्रता चाहते थे। इससे भी अधिक औद्योगिक क्रांति के जारी रहने से अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक पूँजीपतियों के हित और भी महत्वपूर्ण हो गए। इंग्लैंड की संसद में एक ऐसी शक्तिशाली लॉबी थी जो कंपनी के एकाधिकार को समाप्त करने के लिए दबाव बनाए हुए थी। इन परिस्थितियों में 1813 में चार्टर अधिनियम को पारित कर दिया गया जिससे कि भारतीय व्यापार में एकाधिकार समाप्त हो गया। 1833 के दूसरे चार्टर अधिनियम ने चीन के व्यापार में कंपनी के शेष विशेषाधिकार पर एकाधिपत्य को भी समाप्त कर दिया। इस प्रकार, दो सौ वर्षों से भी अधिक के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी को प्रदान किए गए एकाधिपत्य को सरकार ने वापस ले लिया।

बोध प्रश्न-1

1) संयुक्त स्टॉक कंपनियों के क्या लाभ हैं? उत्तर दें।

.....

.....

.....

2) ''व्यापार के एकाधिपत्य'' से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

3) भारतीय व्यापार पर अपने एकाधिपत्य को कायम रखने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने किन-किन चुनौतियों का सामना किया? उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 82 24-03-2021 11:47:20

7.5 कंपनी के व्यापार की प्रकृति

हमने अभी तक अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रदान किए वैध एकाधिपत्य का विवेचन किया। वास्तव में एकाधिपत्य काफी मजबूत स्थिति में था, जैसा कि हमने ऊपर देखा। फिर भी, भारत के कुछ भागों में कंपनी और व्यक्तिगत अंग्रेज व्यापारियों को सामूहिक रूप से वास्तव में एकाधिपत्य प्राप्त था। अठारहवीं सदी के अंतिम दशक से यह बंगाल के बारे में पूर्णरूपेण सत्य था।

जबकि वाणिज्य पूँजीवादी व्यवसाय का सार सस्ता खरीदना एवं महँगा बेचना है, तब प्रतिस्पर्धा को कम करना व्यापार का स्वाभाविक लक्ष्य होगा। यदि आपका लक्ष्य सस्ता खरीदना है, तब बाजार में खरीदारों को कम होना आपके लिए लाभदायक सिद्ध होगा। निश्चय ही यह सस्ता खरीदने में सहायता करता है। इसी प्रकार आप अपने सामान को तभी महँगा बेच पायेंगे जब कम से कम विक्रेता हों। लेकिन वास्तविक जीवन में, पुस्तकों में दी गई एकाधिकारवाद की परिभाषा कि बाजार में एकमात्र खरीददार हो, कार्यरूप में कदाचित् ही सत्य होती हो। अतः परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए शक्ति का प्रयोग, वैधानिकता या प्रतियोगियों को हटाने के लिए युद्ध जैसे साधनों को अपनाया जाता है। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी ने इन सभी साधनों का भरपूर उपयोग किया।

जैसा कि आप पहले से ही जानते हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य व्यवसाय मसालों, नील, सूती कपड़ों आदि उपभोग की वस्तुओं का उपार्जन करना एवं उनका यूरोप को निर्यात करना था। प्रारंभ में इन वस्तुओं का भारत में उपार्जन काफी प्रतियोगी परिस्थितियों के अंतर्गत किया गया। सत्रहवीं सदी की एक फैक्ट्री की सामान्यतः प्रतियोगिता स्थानीय या देशी सौदागरों और दूसरी यूरोपीय ईस्ट इंडिया कंपनियों सहित विदेशी व्यापारियों के साथ होती थी। अठारहवीं सदी के दौरान अंग्रेजों ने लगातार लाभ की स्थिति को प्राप्त किया। इसके कुछ कारण थे :

i) दूसरी यूरोपीय ईस्ट इंडिया कंपनियों की शक्ति को कम कर दिया गया, अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी ने ऐसा दूसरी कंपनियों पर सैन्य एवं राजनैतिक विजय प्राप्त करके किया।

ii) मुगल साम्राज्य के पतन के बाद के उत्तराधिकारी राज्यों एवं रियासतों की कमजोरी ने ईस्ट इंडिया कंपनी को ऐसा अवसर प्रदान किया जिससे रिश्वत तथा बल प्रयोग द्वारा स्थानीय राज्यों से यूरोपीय व्यापारियों के लिए विशेष व्यापार विशेषाधिकारों को लिया जा सके।

iii) कारीगरों (जुलाहों) तथा किसानों (नील उत्पादकों) का सस्ते दाम पर सामान का उत्पादन कराने के लिए अठारहवीं सदी के अंतिम दशक से ही शोषण किया गया और कंपनी के लिए सामान का उत्पादन करने के लिए उनको बाध्य किया गया। अठारहवीं सदी के अंत में ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों ने व्यक्तिगत व्यापार में जिस स्थिति को प्राप्त कर लिया था उसको, यूरोप को निर्यात की जाने वाली मुख्य वस्तुओं के प्रति सामूहिक एकाधिकार की स्थिति के रूप में वर्णित किया जा सकता है।

7.6 वाणिज्यिक व्यवसाय और राजनैतिक शक्ति

अभी तक हमने वाणिज्य पूँजीवादी गतिविधियों की उन विशेषताओं का विवेचन किया है जिनका संकेत ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा दिया गया था, लेकिन हमने इस प्रश्न के विषय में कुछ नहीं कहा कि ईस्ट इंडिया कंपनी के सौदागरों को क्षेत्रीय प्रसार प्रारंभ करने के लिए किन कारणों ने प्रेरित किया और प्रारंभ में इस प्रसार का राजनीति के साथ क्या संबंध था? व्यापारियों द्वारा भारत के साथ यूरोपीय व्यापार के प्रारंभ में समय-समय पर एक या अधिक जहाजों से समुद्री यात्राएँ करनी पड़ती थीं। फिर, जब कभी कोई ''जहाजी बेड़ा'' भारतीय बंदरगाह पर पहुँचता तब संक्षिप्त समय में भारत के अंदर सामान की एक बड़ी

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 83 24-03-2021 11:47:20

मात्रा का उपार्जन करना कोई सरल कार्य न था। इसलिए उत्पादन केंद्रों के बड़े समुद्रीय बंदरगाहों के पास फैक्ट्रियों को स्थापित करना आवश्यक हो गया। आपको यह समझ लेना चाहिए कि ये आज की उन फैक्ट्रियों की भाँति नहीं थी जहाँ पर वास्तविक उत्पादन किया जाता है, सत्रहवीं एवं अठारहवीं सदियों में अंग्रेजी में फैक्ट्री शब्द का अर्थ था कि किसी विदेशी कंपनी द्वारा विदेशी व्यापार के केन्द्रों की स्थापना करना। जिन अधिकारियों की यहाँ पर नियुक्ति की जाती थी उनको ''फैक्टर्स'' कहा जाता था और ये अनिवार्य रूप से वेतनभोगी एजेंट थे जो ईस्ट कंपनी की ओर से निर्यात के लिए सामान की खरीददारी करते थे। अब, अन्य ईस्ट इंडिया कंपनियों के साथ-साथ अंग्रेजी कंपनी भी इन फैक्ट्रियों के चारों ओर किलों का निर्माण कर इनको सुरक्षित करना चाहती थी। मुगल साम्राज्य के पतन के कारण कुछ क्षेत्रों में इस प्रकार की किलेबंदी करना संभवतः आवश्यक हो गया था और कुछ स्थानीय सरकारों ने मूक रूप से या स्पष्ट तौर पर ईस्ट इंडिया कंपनी को भूमि प्राप्त करने तथा किलों के निर्माण करने की अनुमति प्रदान कर दी। लेकिन कंपनियों ने आत्म-रक्षा की वैधानिकता की सीमाओं का उल्लघंन करना शुरू कर दिया और अपने व्यापारिक केंद्रों की किलेबंदी एवं सैन्यकरण इस ढंग से किया कि वे स्थानीय सरकारों को चुनौती देने वाले सैन्य केंद्र बन गए। कलकत्ता का फोर्ट विलियम तथा मद्रास का फोर्ट सैंट जॉर्ज इस के प्रमुख उदाहरण थे। इस प्रकार किलों ने विदेशी सौदागरों को एक ऐसा केंद्र उपलब्ध करा दिया जहाँ से उनको पड़ोसी क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण फैलाने का अवसर प्राप्त हो गया। कभी-कभी कंपनी के क्षेत्रीय दावों का आधार वैध होता था (जैसे कि बंगाल में कंपनी को जमींदारी अधिकारों को प्रदान किया गया)। लेकिन अपवाद को छोड़कर अठारहवीं सदी के अंतिम दशकों में क्षेत्रीय दावों का वास्तविक आधार कंपनी की सैन्य शक्ति था। आप पहले से जानते हैं कि अठारहवीं सदी के मध्य से यूरोपीय कंपनियों ने कैसे क्षेत्रीय शक्तियों के रूप में कार्य किया।

अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार का विकास चरणों में हुआ। जहाजी जल यात्रा की व्यवस्था से ''फैक्ट्री व्यवस्था'', फिर उसके बाद किलेबंदी की व्यवस्था और वहाँ से एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में विकसित होकर कंपनी ने अपने व्यापार में अत्यधिक वृद्धि की। यह महज एक बेख्याली और व्यापारियों के उचित कार्य से विचलन ही नहीं था जिसके कारण कंपनी को राजनीतिक अधिपत्य के विस्तार की यह प्रक्रिया विकसित हुई थी और जो ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य बना। उदाहरणस्वरूप, सैन्य शक्ति का रखना कंपनी की राजनीतिक अनिवार्यता थी। सस्ती कीमतों पर सामान का उत्पादन कराने के लिए कारीगरों (अर्थात बंगाल के जुलाहों) का दमन करने में इस सैन्य शक्ति ने मदद की, स्थानीय व्यापारियों को कंपनी के एजेंटों और व्यक्तिगत व्यापारियों का बिचौलिया बनाने में तथा अन्य विदेशी सौदागरों को (विशेषकर फ्रांसीसियों एवं डचों को) अंग्रेज व्यापारियों के साथ प्रतियोगिता से अलग करने में भी इस सैन्य शक्ति की उपयोगिता रही। इसके अलावा, एक सैन्य तथा क्षेत्रीय शक्ति स्थानीय रियासतों से रिश्वत तथा धन वसूल कर सकती थी तथा युद्धों में लूट के द्वारा भी धन अर्जित किया जा सकता था। अंततः राजनीतिक शक्ति पर नियंत्रण से राजस्व पर भी नियंत्रण स्थापित हो गया। इसका उत्तम उदाहरण 1765 में बंगाल की दीवानी को प्राप्त हो जाना था। बंगाल के भू-राजस्व में कंपनी की हिस्सेदारी हो जाने से इंग्लैंड से भेजी जाने वाली सोने-चाँदी की मात्रा को वर्षों तक कम कराने में कंपनी सफल हो गई। कंपनी द्वारा निर्यात करने के लिए भारत में सामान को खरीदने में चाँदी की आवश्यकता होती थी। निश्चय ही कंपनी की यह इच्छा थी कि इंग्लैंड से निर्यात होने वाली चाँदी को कम किया जाए तथा यह तभी संभव था जबकि भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं की अदायगी नकद पैसे के द्वारा की जाए। कंपनी की राजनैतिक अभिलाषाओं में बहुत से आर्थिक हित निहित थे और यही अंग्रेजों के हितों के लक्ष्य थे। इससे आप समझ सकते हैं कि अठारहवीं सदी में भारत के राजनीतिक इतिहास में कंपनी ने कैसे एक प्रबल भूमिका अदा की और उनीसवीं सदी के प्रारंभ में उसका उद्‌भव सबसे शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में हुआ।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 84 24-03-2021 11:47:20

7.7 औद्योगिक पूँजीवाद का उदय और कंपनी की वाणिज्यिक नीतियाँ

1750 में इंग्लैंड में राष्ट्रीय आय का लगभग 40 से 50 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में पैदा किया जाता था, 1851 तक कृषि का भाग 20 प्रतिशत तक कम हो गया और 1881 तक यह राशि 10 प्रतिशत तक आ गई। इंग्लैंड की राष्ट्रीय आय में विदेश व्यापार का योगदान 1790 में 14 प्रतिशत था, 1880 में यह 36 प्रतिशत तक बढ़ गया। यह इंग्लैंड में औद्योगीकरण की तेज गति का सूचक है। इसने इंग्लैंड को अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में पूरी तरह से रूपांतरित कर दिया। इसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पाद तथा इस उत्पाद में विदेश व्यापार ने इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था में प्रमुखता प्राप्त कर ली। विशेषकर अंग्रेजी सूती कपड़ा उद्योग के विकास का स्पष्टतः अर्थ था कि इंग्लैंड में भारतीय सूती कपड़ों की माँग का अन्त। उसी के साथ-साथ इंग्लैंड अब भारत तथा अन्य देशों में अपने सूती कपड़ों के लिए बाजार की तलाश कर रहा था।

औद्योगिक सामान को तैयार करने के लिए अब इंग्लैंड को पहले से अधिक कच्चे माल की आवश्यकता थी, उदाहरण के रूप में, औद्योगीकरण के बाद इंग्लैंड भारत एवं अन्य देशों से कपास का आयात करने लगा। इस प्रकार अंग्रेजी औद्योगिक क्रांति से पूर्व अर्थात् वाणिज्य पूँजीवाद के युग में भारत और इंग्लैंड के बीच आर्थिक रिश्तों का जो आधार था उसकी तुलना में औद्योगिक क्रांति के बाद इन रिश्तों का संपूर्ण आधार भिन्न हो गया था।

संक्षेप में, इंग्लैंड के प्रथम औद्योगिक पूँजीवादी देश में रूपांतरण हो जाने से व्यापारी कंपनी द्वारा अधिकृत भारतीय साम्राज्य की भूमिका में भी बदलाव आया। सौदागरों की कंपनी तथा उनका साम्राज्य इन नयी परिस्थितियों में एक नवीन भूमिका की ओर अग्रसर हो रहा था। इस अध्याय में जिस काल अर्थात् 1887 तक के समय का आप अध्ययन कर रहे हैं, उसमें नए साम्राज्यवाद के प्रारंभ को देखा जा सकता है। इस समय में भारतीय उत्पादित सामान के इंग्लैंड को होने वाले निर्यात में कमी आई। भारत से इंग्लैंड को निर्यात होने वाले कपड़ों का मूल्य 1815 में 13 लाख पौण्ड था, लेकिन यह निर्यात कम होकर मात्र एक लाख पौण्ड मूल्य का रह गया। ठीक इसी के दौरान इंग्लैंड से भारत को आयात होने वाले सूती कपड़ों में 15 गुणा वृद्धि हुई। इससे पूर्व शताब्दी में कंपनी की वाणिज्य नीति की प्रधानता निर्यात के लिए भारत में सूती वस्त्रों को खरीदना थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में उपार्जन या खरीदारी को स्वाभाविक रूप में बंद कर दिया गया। कंपनी के व्यापारिक जीवन के अंतिम दिनों में अर्थात् 1820 के दशक में इसके द्वारा इंग्लैंड को कपास से निर्मित किसी भी उत्पाद का निर्यात नहीं किया गया। जिन वस्तुओं का निर्यात किया गया उसमें केवल कच्ची रेशम, शोरा या बारूद के लिए कच्चा माल, कृषि उत्पाद के रूप में नील, और (एक मात्र उत्पादित वस्तु) रेशम के वस्त्रों का बहुत कम मात्रा निर्यात किया जाता था। जहाँ तक इंग्लैंड में आयात का प्रश्न है, कंपनी ने 1824 से इसको पूर्णतः बन्द कर दिया, वह केवल सैन्य सामान का आयात करती थी और इसका वह स्वयं ही उपयोग करती। भारत और यूरोप के मध्य व्यापार कंपनी के हाथों से निकलकर व्यक्तिगत व्यापारियों के हाथों में चला गया, जैसा कि आप 1813 के चार्टर अधिनियम से जानते हैं कि भारतीय व्यापार को पूर्णतः नीजि व्यापारियों के लिए खोल दिया गया।

कंपनी की नीतियों एवं वित्त में एक दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशकों में हुआ। यह कंपनी की गैर-व्यापारिक आमदनी में वृद्धि होना था, अर्थात् इसको क्षेत्रीय राजस्व कहा जाता था और इसको भू-राजस्व तथा कंपनी द्वारा विजित क्षेत्रों से दूसरे कर वसूल करके प्राप्त किया जाता था। उसी समय व्यापारिक आमदनी में गिरावट आयी क्योंकि, जैसा कि आप पहले से ही जानते है, इन वर्षों में कंपनी के व्यापार में समापन बिन्दु तक कमी आई। इस तरह से 1820 से कंपनी क्षेत्रीय राजस्व पर निर्भर करने लगी जबकि 1765 तक उसकी आमदनी केवल व्यापारिक लाभ से आती थी। 1765 से कंपनी के द्वारा बंगाल की दीवानी प्राप्त हो जाने पर, क्षेत्रीय राजस्व में वृद्धि होने लगी तथा इसी के साथ व्यापारिक आमदनी में कमी आयी। इस प्रकार कंपनी का वित्त एक व्यापारिक कार्पोरेशन का एक क्षेत्रीय शक्ति में हुए रूपांतरण को प्रतिबम्बित करता था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 85 24-03-2021 11:47:20

अंत में यह समझा जा सकता है कि कंपनी के द्वारा एकत्रित किए गए राजस्व को व्यापारिक उद्देश्यों की ओर मोड़ना उसकी एक सोची-समझी नीति थी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1765 से कंपनी बंगाल सरकार का भी एक हिस्सा थी और ठीक उसी समय वह एक व्यापारिक कंपनी भी थी। बंगाल के राजस्व के एक पर्याप्त भाग का उपयोग इंग्लैंड को निर्यात करने वाले सामान के खरीदने पर किया जाता और इसको भी ''निवेश'' (investment) का नाम दिया जाता था, जैसा कि 1783 में इसके विषय में हाउस ऑफ कॉमन्स ही एक समिति ने कहा भी, ''इस तरह का निवेश'' बंगाल में लाई गई व्यापारिक पूँजी को वास्तविक रूप में खर्च करना न था, अपितु यह ''एक नजराने की अदायगी'' का साधन मात्र था। यह भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा कहे जाने वाले ''आर्थिक निकास'' का एक विशेष उदाहरण था। इस क्षेत्रीय राजस्व के बल पर कंपनी को उधार में धन की प्राप्ति हो जाती थी (इसको क्षेत्रीय ऋण (territorial debt) कहा जाता था) और इसकी अदायगी उस सैन्य कार्रवाई के लिए की जाती जो आगे क्षेत्रीय प्रसार के लिए होती थी।

7.8 अनौद्योगिकरण : देशी उद्योगों पर प्रभाव

आरंभिक राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री आर.सी. दत्त और बाद में मदनमोहन मालवीय (भारतीय औद्योगिक आयोग की बैठक में प्रकट किया गया विरोध मत) ने यह तथ्य सामने रखा कि भारत का अनौद्योगिकरण हो गया है, उन्होंने प्रमाण स्वरूप उत्पादक वस्तुओं, खासकर मैंचेस्टर में तैयार वस्तुओं के निर्यात के आँकड़े प्रस्तुत किए। उदाहरणस्वरूप, दत्त ने यह तथ्य सामने रखा कि इंग्लैंड और केप ऑफ गुड होप के पूर्व में स्थित इसके बंदरगाहों से भारत में 1794 में पाँउड 156 मूल्य के कपड़े भेजे गए थे, जो 1813 में बढ़कर पाँउड 108824 हो गए।

1813 के पहले ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने एकाधिकार व्यापार के जरिए भारतीय औद्योगिक क्षेत्र, खासकर कपड़ा उद्योग का जमकर शोषण किया, जिससे उद्योग का पतन शुरू हो गया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के लिए भारत से जबरदस्ती कम मूल्य पर चीजें खरीदी और यूरोप में अधिक मूल्य पर उसे भेजा।

इंग्लैंड में भारतीय कपड़े के निर्यात पर प्रतिबंध लगने से उद्योग को एक और झटका लगा। बुनकरों और सूत कातने वालों की आय तेजी से घटी। इसके परिणामस्वरूप, इस परंपरागत औद्योगिक क्षेत्र में न तो पूँजी इकट्ठी हो सकी और न ही कोई तकनीकी विकास हो सका।

एक तरफ भारत का परंपरागत औद्योगिक क्षेत्र नष्ट किया जा रहा था, दूसरी तरफ इसी काल में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति शुरू हुई। इसमें नयी तकनीकों का आविष्कार हुआ और साथ ही साथ पूँजीवादी उत्पादन के सिद्धांत के तहत नए संगठन सामने आए।

विकसित होते हुए ब्रिटिश कपड़ा उद्योग को सभी प्रकार के लाभ प्राप्त थे, जबकि इसी काल के भारतीय कपड़ा उद्योग को उन लाभों से वंचित रखा गया। ब्रिटिश उद्योग के पास एक लगातार विकसित तकनीकी आधार था, इसकी अर्थव्यवस्था भी उद्योग के विकास के अनुकूल थी और सबसे बड़ी बात यह थी कि इसे विदेशी प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ा। बल्कि यह कहना उचित होगा कि इसे विदेशी प्रतियोगिता से बचाए रखा गया। कुछ इतिहासकारों का यह मानना है कि ब्रिटिश मशीन से बने धागे और कपड़े के निर्यात से भारत के घरेलू कपड़ा उद्योग को कोई धक्का नहीं लगा क्योंकि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत राजनीतिक स्थायित्व, बेहतर यातायात व्यवस्था और बाजार के विकास के कारण कृषि क्षेत्र में, प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त यह भी तर्क दिया गया कि मशीन से बने सस्ते धागों के कारण घरेलू हथकरघा उद्योग मजबूत हुआ। दूसरे क्षेत्र में जो गिरावट आई, उसकी भरपाई प्रतिव्यक्ति आय बढ़ने और अन्य आर्थिक गतिविधियों से हो गई। लेकिन इन तर्कों के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उन्नीसवीं सदी के दौरान कपड़ों की माँग में वृद्धि हुई या प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में कोई बढ़ोतरी हुई। इसके अलावा इतिहासकार बिपिन चंद्र का मानना है

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 86 24-03-2021 11:47:20

कि सूत की तुलना में कपड़े के दाम तेजी से गिरे। इस कारण से भारतीय बुनकरों को कोई फायदा नहीं हुआ। सबसे बड़ी बात है कि ऐतिहासिक तथ्य इन तर्कों की पुष्टि नहीं करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में कपड़े की माँग में या प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त सूत की अपेक्षा कपड़े की कीमत ज्यादा तेजी से गिरी।

बोध प्रश्न-2

1) उन कारणों की सूची बनाइए, जिन्होंने भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी को क्षेत्रीय एवं राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया।

.....

.....

.....

2) औद्योगिक क्रांति के द्वारा कंपनी की वाणिज्य नीति में क्या परिवर्तन किए गए? उत्तर दें।

.....

.....

.....

3) संक्षेप में अनौद्योगिकरण पर राष्ट्रीय अर्थशास्त्रियों के विचार बताइए।

.....

.....

.....

4) निम्नलिखित वाक्यों को पढ़कर उनके सम्मुख सही (✓) या गलत (×) का निशान लगाइए।

i) 1813 के चार्टर अधिनियम को ब्रिटिश संसद ने भारतीय व्यापार में ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार को समाप्त करने के लिए पारित किया।

ii) सत्रहवीं एवं अठारहवीं सदियों में अंग्रेजों के द्वारा भारत में स्थापित की गई फैक्ट्रियाँ विदेशी व्यापारिक केंद्र थे।

iii) ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में राज्य शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास किया क्योंकि स्थानीय शासक देश का उचित प्रकार से प्रशासन चलाने में असफल हुए।

iv) इंग्लैंड में औद्योगीकरण ने भारत तथा इंग्लैंड के बीच आर्थिक रिश्तों में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया।

v) उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में क्षेत्रीय राजस्व से होने वाली कंपनी की आमदनी में व्यापारिक लाभ की तुलना में वृद्धि हुई।

7.9 सारांश

इस इकाई में आपने ईस्ट इंडिया कंपनियों की संरचना का संयुक्त स्टॉक कंपनियों के रूप में अध्ययन किया और अपने देखा कि किस ढंग से उनकी अपनी-अपनी सरकारों ने उन्हें एकाधिकार विशेषाधिकार प्रदान किए। लेकिन अठारहवीं सदी के दौरान इस एकाधिकार को व्यक्तिगत व्यापार ने पर्याप्त मात्रा में कमजोर कर दिया था। एकाधिकारवादी कंपनी तथा मुक्त व्यापारियों के मध्य हुए संघर्ष के कारण वैध एकाधिकार व्यापार के अधिकार को वापस लेना पड़ा। व्यवहारिक तौर पर, एक सामूहिक एकाधिकार स्थिति को अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी तथा कंपनी के कर्मचारियों ने अठारहवीं सदी के अंतिम दशकों से भारत के कुछ हिस्सों में मुख्य निर्यात उपभोग वस्तुओं के संदर्भ में प्राप्त किया। यह अंग्रेजी कंपनी के राजनैतिक प्रभुत्व तथा क्षेत्रीय प्रसार के बढ़ने के साथ संयुक्त रूप से संबंधित था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 87 24-03-2021 11:47:20

अठारहवीं सदी के अंत तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में इंग्लैंड के औद्योगिक रूपांतरण के कारणवश कंपनी की वाणिज्य नीतियों के ऊपर नियंत्रण बढ़ता गया क्योंकि कंपनी एक व्यापारिक कंपनी से एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में परिवर्तित हो रही थी।

दूसरा, सरकारी और निजी गुणात्मक सर्वेक्षण, व्यापार आँकड़े, रोजगार आँकड़े (हालांकि यह बहुत प्रमाणिक नहीं है) और भारत में उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था के आयामों और सीमाओं के आधार पर हम बे-हिचक कह सकते हैं कि भारत में ब्रिटिश शासन की प्रथम शताब्दी में मशीन से बने सामानों और तकनीकी दृष्टि से उच्च कोटि की वस्तुओं के आयात के कारण भारतीय औद्योगिक क्षेत्र का पतन हुआ।

7.10 शब्दावली

उत्पादकता : पूँजी और श्रम को देखते हुए एक उद्योग या कृषि क्षेत्र के उत्पादन का स्तर।

कुल उत्पादन : उद्योग का कुल उत्पादन।

पूँजी निवेश : उद्योग के विकास के लिए हुई उत्पादन प्रक्रिया में लगाया गया धन, अंतर संरचना, मशीन आदि।

प्रति व्यक्ति आय : देश के प्रत्येक व्यक्ति की औसतन आय।

बुलियन : यहाँ सोने-चाँदी के अर्थ में प्रयुक्त।

राष्ट्रीय आय : एक राष्ट्र की अर्थव्यवस्था की सभी उत्पादक गतिविधियों से उत्पन्न आय।

वास्तविक आय : मूल्य के संदर्भ में वास्तविक आय।

व्यापार में वस्तुओं का हिस्सा : आयात और निर्यात में शामिल वस्तुओं का अनुपात।

व्यापारवादी : व्यापार के संबंद्ध नीतियाँ और गतिविधियाँ।

सकारात्मक व्यापार संतुलन : एक ऐसी स्थिति जिसमें निर्यात आयात से ज्यादा हो।

7.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 7.2

2) देखें भाग 7.3

3) आपको अपने उत्तर में कंपनी के अधिकारियों के व्यक्तिगत व्यापार की वृद्धि, मुक्त सौदागरों की भूमिका, उन पूँजीपतियों को जो मुक्त व्यापार आदि का समर्थन करते थे, उद्धृत करना चाहिए। देखें भाग 7.4

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 7.6

2) आपके उत्तर को भारतीय उत्पादित माल के इंग्लैंड को होने वाले निर्यात में कमी, भारत से इंग्लैंड को बढ़ता माल का निर्यात, भारत के बाजार में अंग्रेजी उत्पादित माल का बढ़ता निर्यात, कंपनी के क्षेत्रीय राजस्व में वृद्धि आदि पर केन्द्रित होना चाहिए। देखें भाग 7.7

3) देखिए भाग 7.8

4) i) ✓ ii) ✓ iii) × iv) × v) ✓

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 88 24-03-2021 11:47:20

इकाई 8 औपनिवेशिक शासन का आर्थिक प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 उपनिवेशवाद का प्रथम चरण

8.3 उपनिवेशवाद का द्वितीय चरण

8.4 उपनिवेशवाद का तृतीय चरण

8.5 राष्ट्रवादियों द्वारा उपनिवेशवाद की आर्थिक आलोचना

8.6 औपनिवेशिक शासन के आर्थिक प्रभाव

8.6.1 अनौद्योगिकरण

8.6.2 औपनिवेशिक भारत में अकाल

8.6.3 कृषि का वाणिज्यीकरण

8.6.4 वाणिज्यीकरण का ग्रामीण समाज पर प्रभाव

8.7 आधुनिक उद्योग और भारतीय पूँजीपति वर्ग

8.8 सारांश

8.9 शब्दावली

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह स्पष्ट कर पाएंगे कि:

- ब्रिटिश शासन ने कैसे भारतीय अर्थव्यवस्था को अपने अधीन किया,
- उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों और शोषण के तरीकों के बारे में, और
- औपनिवेशिक काल के दौरान भारतीय कृषि, उद्योग आदि पर पड़ने वाले आर्थिक प्रभाव के बारे में।

8.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवाद ने एक ऐसे समाज को जन्म दिया जो कि न तो ब्रिटेन की तरह पूँजीवादी था और न ही पूर्व-औपनिवेशिक अथवा पूर्व-पूँजीवादी। इसलिए उदाहरणस्वरूप, ब्रिटिश शासन में भारत न तो पूँजीवादी ब्रिटेन के समान था और न ही मूल रूप से मुगल भारत के समान था। भारत में कृषि संबंधों का विकास इस पक्ष को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश भारत के जमींदारी व रैयतवारी दोनों क्षेत्रों में जमींदारी व्यवस्था एक नयी चीज थी जो कि मुगल भारत में विद्यमान नहीं थी। ये ब्रिटिश शासन की देन थीं। ये औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारतीय कृषि को परिवर्तित करने के प्रयासों का ही परिणाम था। भारतीय कृषि पूँजीवादी नहीं थी परंतु इसमें बहुत से पूँजीवादी तत्व थे। उदाहरण के लिए, संपत्ति संबंध पूँजीवादी थे, जमीन अब व्यक्तिगत संपत्ति थी, जो बड़े पैमाने पर स्वतंत्र रूप से खरीदी व बेची जाती थी। वही पूँजीवादी प्रक्रिया जिसने इंग्लैण्ड में आर्थिक विकास को बढ़ाया और उसे विकसित पूँजीवादी देश बनाया है, उपनिवेशों में विकास को रोके रखती है तथा उन्हें औपनिवेशिक समाज में परिवर्तित करती है। उपनिवेशवाद पुराने समाज व अर्थव्यवस्था को नष्ट करता है, परंतु नया औपनिवेशिक समाज व अर्थव्यवस्था आधुनिक आर्थिक विकास के लिए उतनी

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 89 24-03-2021 11:47:20

ही बड़ी बाधा है जितना कि पुरानी पूर्व-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था व समाज। उपनिवेश में आर्थिक अधिशेष विभिन्न तरीकों से उत्पन्न किया जाता है, परंपरागत कृषि से आधुनिक खान व फैक्ट्री उत्पादन स्थापित आदि करके। परन्तु साम्राज्यवादी देश के विभिन्न वर्गों द्वारा इस अधिशेष का जब्त करना ही उपनिवेशवाद का मूल है। अधीनस्थ होने का अर्थ है उपनिवेश के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक विकास के मूल विषय उपनिवेश की स्वयं की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित न होकर साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था व साम्राज्यवादी पूँजीवादी वर्ग की आवश्यकताओं व इच्छाओं के अनुसार निर्धारित किए जाते हैं।

उपनिवेशवाद को तीन अलग अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है, जो शोषण या अधिशेष जब्त के विभिन्न रूपों से संबंधित है। फलतः प्रत्येक अवस्था ने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, समाज व राज्य व्यवस्था के दमन के भिन्न प्रतिमानों को निरुपित किया और इसलिए इनमें औपनिवेशिक नीतियाँ, राजनीतिक व प्रशासकीय संस्थाएँ, विचारधाराएँ व प्रभाव भिन्न थे तथा औपनिवेशिक जनता की प्रतिक्रियाएँ भी भिन्न थीं।

8.2 उपनिवेशवाद का प्रथम चरण

यह एकाधिपत्य व्यापार तथा प्रत्यक्ष जब्त करने का काल कहलाता है (अथवा ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन काल, 1757-1813)। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत एक एकाधिपत्य व्यापारिक निगम – ईस्ट इंडिया कंपनी – द्वारा अपने अधीन कर लिया गया। इस अवस्था में कंपनी के दो मुख्य लक्ष्य थे।

अ) पहला, लक्ष्य था भारत के साथ व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करना। इसका अर्थ था कि अन्य अंग्रेजी व यूरोपियन व्यापारियों व व्यापारिक कंपनियाँ भारतीय माल को खरीदने व बेचने में मुकाबला न कर सकें और न ही भारतीय व्यापारी ऐसा कर सकें। इससे ईस्ट इंडिया कंपनी जितना सस्ता संभव हो सके उतना सस्ते में भारतीय माल खरीद सकेगी और जितने अधिक दामों में संभव हो सके विश्व बाजार में बेच सकेगी। इस प्रकार भारतीय आर्थिक अधिशेष एकाधिकार व्यापार द्वारा जब्त होता था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने ब्रिटिश सरकार को मजबूर किया कि वह उन्हें राजकीय अधिकार पत्र के द्वारा भारत व पूर्व के साथ व्यापार में एकाधिकार प्रदान करे तथा इस प्रकार अंग्रेजों के प्रतियोगियों को इस व्यापार में हिस्सेदार नहीं बनने दिया। यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों के खिलाफ कंपनी ने जमीन तथा समुद्र पर लंबे तथा भीषण युद्ध लड़े। भारतीय व्यापारियों के ऊपर एकाधिकार प्राप्त करने व भारतीय शासकों को अपने व्यापार में हस्तक्षेप से रोकने के लिए तथा बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभुत्व और देश के विभिन्न भागों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए कंपनी ने मुगल साम्राज्य के विघटन का लाभ उठाया। राजनीतिक विजय के बाद कम्पनी ने भारतीय बुनकरों को रोजगार दिया। उस स्थिति में वे बाजार की कीमत से कम भाव में कपड़ा तैयार करने के लिए बाध्य किए गए।

ब) इस अवस्था में उपनिवेशवाद का दूसरा मुख्य लक्ष्य राज्य सत्ता पर नियंत्रण द्वारा सरकारी राजस्व को प्रत्यक्ष रूप से जब्त करना था। ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत में समुद्र पर तथा यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों व भारतीय शासकों के खिलाफ युद्व करने के लिए एवं नौ सैनिक शक्तियों, किलों, व सेना को अपने व्यापारिक स्थानों के चारों तरफ बनाए रखने आदि के लिए प्रचुर आर्थिक साधनों की आवश्यकता थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के पास ऐसे साधन नहीं थे तथा ब्रिटिश सरकार के पास भी ऐसे स्रोत नहीं थे और न ही वह कंपनी के हितों को बढ़ाने के लिए उन्हें प्रयोग करने की इच्छुक थी। इसलिए अत्यधिक आवश्यक आर्थिक साधन भारत में भारतीय लोगों से जुटाए जाने थे। इसने भारत में विभिन्न क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी।

भारत में आर्थिक साधन किसी और कारण से जुटाने थे। भारतीय माल को खरीदने के लिए भारतीय धन की आवश्यकता थी। यह ब्रिटिश माल को भारत में बेचकर या सोने और चाँदी का भारत में निर्यात द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। पहले तरीके का प्रयोग

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 90 24-03-2021 11:47:20

नहीं किया गया, क्योंकि ब्रिटिश ऐसा माल नहीं बना सके जिसे भारत में भारतीय उत्पादनों की प्रतिस्पर्धा में बेच सके। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादन भारतीय हस्तशिल्प उत्पादन के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर सका। ब्रिटिश सरकार जो वाणिज्यवाद के सिद्धांतों से अत्यधिक प्रभावित थी, ब्रिटेन से सोने व चाँदी के निर्यात पर प्रसन्न नहीं थी। सरकारी आय की जब्ती निश्चित रूप से ईस्ट इंडिया कंपनी के लाभ तथा इसके हिस्सेदारों के लाभांश को बढ़ायेगा।

दोनों लक्ष्य व्यापार पर एकाधिकार तथा सरकारी राजस्व की जब्ती पहले बंगाल व दक्षिण भारत के भागों और फिर शेष वर्षों में सम्पूर्ण भारत पर विजय के साथ बड़ी तीव्र गति से पूरे किए गए थे। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय व्यापार व हस्तशिल्प उत्पादन पर एकाधिकारिक नियंत्रण प्राप्त करने के लिए अब अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया। भारतीय व्यापारियों को धीरे-धीरे प्रतिस्थापित तथा बरबाद कर दिया गया, जबकि बुनकर व अन्य शिल्पकार अपना माल कम मूल्यों पर बेचने के लिए या कंपनी के लिए कम वेतन पर काम करने के लिए बाध्य किए गए थे। यह ध्यान देने योग्य है कि इस अवस्था में ब्रिटिश उत्पादन का भारत में बड़े पैमाने पर आयात नहीं था, बल्कि इसका उल्टा हुआ, जैसे भारतीय वस्त्र के निर्यात में बढ़ोतरी हुई आदि। उदाहरणार्थ, बुनकर इस अवस्था में ब्रिटिश आयात द्वारा बर्बाद नहीं हुए बल्कि कंपनी के एकाधिकार के कारण तथा घाटे में कंपनी के लिए उत्पादन करने के लिए बाध्य किए जाने से उनका शोषण हुआ।

राजनीतिक विजय के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय राज्यों के राजस्व पर प्रत्यक्ष नियंत्रण प्राप्त कर लिया। इसके अतिरिक्त कंपनी तथा उसके कर्मचारियों ने भारतीय व्यापारियों, अधिकारियों, अभिजात शासक वर्ग, शासकों व जमींदारों से अवैध रूप से असीम धन खींच लिया। असल में उपनिवेशवाद की प्रथम अवस्था में लूटने व अधिशेष पर प्रत्यक्ष कब्जा करने का तत्व बहुत मजबूत था। धीरे-धीरे बड़ी मात्रा में अधिक वेतन पाने वाले अधिकारी भारत में नियुक्त किए गए तथा उनके वेतन व पेंशन अधिशेष जब्त का एक रूप बन गए।

8.3 उपनिवेशवाद का द्वितीय चरण

यह व्यापार के द्वारा शोषण का काल था और इसे उन्नीसवीं शताब्दी में मुक्त व्यापार का उपनिवेशवाद भी कहा गया है। भारत के अधिकांश भागों पर ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन स्थापित होने के तुरन्त बाद ब्रिटेन में यह निर्धारित करने के लिए कि यह नया उपनिवेश किसके हितों की पूर्ति करेगा, तीव्र संघर्ष शुरू हो गया। सन् 1750 के बाद से ब्रिटेन औद्योगिक क्रान्ति के दौर से गुजर रहा था। नवविकसित औद्योगिक पूँजीपतियों ने ईस्ट इंडिया कंपनी तथा इसके भारत के शोषण के रूपों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने माँग की कि भारत में औपनिवेशिक प्रशासन व नीति को अब उनके हितों की पूर्ति करनी चाहिए जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी के हितों से बहुत भिन्न थे। उन्हें भारतीय माल में एकाधिकार व्यापार तथा भारतीय राजस्व आय पर कम्पनी के नियंत्रण से कुछ अधिक प्राप्त नहीं हुआ। वे चाहते थे कि भारत उनके यहाँ के निर्मित माल विशेष रूप से कपड़े के बढ़ते हुए उत्पादन के लिए एक बाजार के रूप में कार्य करे। उन्हें भारत से कच्चे माल और विशेष रूप से, कपास व खाद्यान्न की भी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भारत अधिक ब्रिटिश माल तभी खरीद सकता था जब वह अपना निर्यात बढ़ाकर विदेशी मुद्रा प्राप्त करे। ईस्ट इंडिया कम्पनी के लाभांशों को ताकत के बल पर प्राप्त करने के लिए तथा ब्रिटिश व्यापारियों के लाभों एवं ब्रिटिश अधिकारियों की आय और पेंशन ब्रिटेन को हस्तान्तरित करने के लिए भी अधिक निर्यात की आवश्यकता थी।

परन्तु भारत क्या निर्यात कर सकता था? वर्षों से अंग्रेज भारतीय वस्त्र को ब्रिटेन में आयात करने के इच्छुक नहीं थे और बाद में उनका निर्यात लाभकारी नहीं था। भारत से इन निर्यातों में केवल कृषि का कच्चा माल तथा अन्य अनिर्मित कच्चा माल था। दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश औद्योगिक पूँजीपतियों की सुविधा के अनुकूल होने के लिए भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को अपनी दूसरी अवस्था में प्रवेश करना चाहिए था। भारत को ब्रिटेन का

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 91 24-03-2021 11:47:20

अधीनस्थ एक ऐसा व्यापारिक भागीदार बनना चाहिए था जिसका एक ऐसे बाजार के रूप में शोषण हो सके तथा एक ऐसे अधीन उपनिवेश के रूप में जो ब्रिटेन की आवश्यकतानुसार कच्चा माल व खाद्य पदार्थ भेजे व बनाया करे। भारत की आर्थिक बचत ऐसे व्यापार के माध्यम से जब्त होनी थी जो असमानता पर आधारित था। परिणामस्वरूप ब्रिटेन ने ऐसा माल बनाया व निर्यात किया जो कि कारखानों में विकसित तकनीक व कम श्रम शक्ति का प्रयोग करके बनाया गया था और इसमें उत्पादकता व वेतन का स्तर बहुत ऊँचा था। दूसरी तरफ भारत ने उत्पादन के पिछड़े हुए तरीकों से अत्यधिक श्रम शक्ति का प्रयोग करते हुए कृषि संबंधी कच्चा माल बनाया जो कि कम उत्पादकता व कम वेतन का कारण बना। श्रम का यह अर्न्तराष्ट्रीय विभाजन भारत के लिए न केवल अत्यन्त प्रतिकूल था बल्कि अप्राकृतिक व बनावटी भी था तथा इसे औपनिवेशिक शासन द्वारा बल पूर्वक प्रारम्भ व कायम रखा गया था। परिवर्तन की शुरुआत सन् 1763 के रेगुलेटिंग एक्ट तथा सन् 1784 के पिट्स इंडिया एक्ट के पास होने के साथ हुई जो कि ब्रिटिश शासक वर्गों में प्रारंभिक रूप से तीव्र संघर्ष का परिणाम थे। सन् 1789 के बाद फ्रेंच क्रांतिकारी युद्धों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को कुछ राहत और सुरक्षा प्रदान की। परन्तु कंपनी धीरे-धीरे आधार खोने लगी। सन् 1813 में जब दूसरा चार्टर एक्ट पास किया गया तब कंपनी भारत में अपनी अधिकतर राजनीतिक व आर्थिक शक्ति खो चुकी थी, अब वास्तविक शक्ति ब्रिटिश सरकार के पास थी जिसने ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग के सामूहिक हितों के लिए भारत पर शासन किया।

भारत अपनी विद्यमान आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में नए तरीके से शोषित नहीं किया जा सकता था इसलिए इस व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना तथा पूर्ण रूप से बदलना आवश्यक था। ब्रिटिश भारतीय सरकार ने 1813 के बाद ऐसा करना प्रारंभ किया। आर्थिक क्षेत्र में इसका अर्थ भारत की औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश व विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ना था। इसका मुख्य साधन मुक्त व्यापार को प्रारंभ करना था। भारत में सभी आयात कर या तो पूर्ण रूप से हटा दिए गए या बहुत कम कर दिए गए। इस प्रकार ब्रिटिश उत्पादों के भारत प्रवेश पर कोई रोक-टोक नहीं रह गयी। भारत में चाय, कॉफी तथा नील के बागानों, व्यापार, परिवहन, खान व आधुनिक उद्योग-धंधे विकसित करने के लिए ब्रिटिश पूँजीपतियों को बिना रोक-टोक प्रवेश की अनुमति दी गयी थी। ब्रिटिश भारतीय सरकार ने इन पूँजीपतियों को सक्रिय राजकीय सहायता दी।

स्थायी तथा रैयतवारी बंदोबस्त व्यवस्थाओं के माध्यम से भारत के कृषि संबंधी ढाँचे को पूँजीवादी दिशा में परिवर्तित करने के लिए कोशिश की गयी थी। बड़ी मात्रा में आयात व उनके आंतरिक विक्रय के लिए तथा अधिक मात्रा में कच्चे माल का निर्यात करने एवं देश में लंबी दूरी के बंदरगाहों पर उनके संग्रह के लिए परिवहन और संचार के लिए एक सस्ती व आसन व्यवस्था की आवश्यकता थी। ऐसी व्यवस्था के बिना भारत बड़ी मात्रा में विदेशी व्यापार के लिए नहीं खोला जा सकता था इसलिए सरकार ने नदियों व नहरों का विकास किया, नदियों में वाष्प-चालित जहाज चलाने के लिए प्रोत्साहन दिया और सड़कें बनायी। इन सबसे अधिक उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसने भारत के बड़े शहरों व बाजारों को बंदरगाहों से जोड़ने वाली रेलवे लाइन बिछाने को प्रोत्साहित किया और आर्थिक सहायता दी। 1905 तक करीब 45,000 किलोमीटर रेलवे लाइन बन चुकी थी। इसी प्रकार आर्थिक लेन-देन को आसान बनाने के लिए आधुनिक डाक व टेलीग्राफ व्यवस्था को अधिक विकसित किया गया।

8.4 उपनिवेशवाद का तृतीय चरण

यह उपनिवेशों के लिए विदेशी निवेश और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का युग कहा जाता है। लगभग 1860 से भारत में उपनिवेशवाद की एक नयी अवस्था प्रारंभ की गयी थी। यह विश्व अर्थव्यवस्था में अनेक मुख्य परिवर्तनों का परिणाम थाः

i) यूरोप के अनेक देशों जैसे अमेरिका व जापान में औद्योगीकरण के प्रसार के साथ संसार में ब्रिटेन की औद्योगिक सर्वोच्चता का अंत हो गया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 92 24-03-2021 11:47:20

ii) उद्योग के लिए वैज्ञानिक ज्ञान के प्रयोग के परिणामस्वरूप औद्योगीकरण का तीव्रीकरण हुआ। आधुनिक रासायनिक उद्योग-धंधे, आंतरिक दहन इंजन के लिए पैट्रोलियम का ईंधन के रूप में प्रयोग तथा औद्योगिक उद्देश्यों के लिए बिजली का प्रयोग इस काल में विकसित हुए।

iii) अंतर्राष्ट्रीय परिवहन के साधनों में क्रांति के कारण विश्व बाजार का और अधिक एकीकरण हुआ।

अनेक औद्योगीकृत देशों में नए उद्योग-धंधों ने विशाल मात्रा में कच्चा माल उपभोग किया। तीव्र औद्योगिक विकास शहरी जनसंख्या के निरंतर विकास का कारण बना जिसे अधिक से अधिक भोजन की आवश्यकता थी। अब वहाँ नए सुरक्षित व विशिष्ट बाजारों तथा कृषक व खनिज कच्चे माल के स्रोतों और खाद्य पदार्थों के लिए तीव्र संघर्ष शुरू हो गया।

इसके अतिरिक्त आंतरिक व्यापार तथा उद्योग के विकास और उपनिवेशों व अर्द्ध-उपनिवेशों के विस्तृत शोषण ने पूँजीवादी देशों में बड़ी मात्रा में पूँजी का संचयन किया। साथ ही पूँजी का केन्द्रीकरण तथा बैंकिंग (वित्तीय) पूँजी का औद्योगिक पूँजी के साथ विलय कम से कम निगमों, व्यापार संघों व उत्पादक संघों में हुआ। इस पूँजी के लिए बाजारों की खोज करनी थी। इसने बड़ी मात्रा में पूँजी के निर्यात को प्रेरित किया। प्रतिद्वन्द्वियों को बाहर रखने के लिए ब्रिटिश पूँजी को भारत में आकृष्ट करने के लिए तथा इसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए भारत में औपनिवेशिक शासन मजबूत करना आवश्यक था। 1850 के बाद ब्रिटिश पूँजी की बहुत बड़ी रकम भारत में रेलवे, भारतीय सरकार के ऋण, व्यापार व कुछ हद तक बागान, कोयला खान, जूट कारखाने, जहाजरानी (शिपिंग) तथा बैंकिंग में लगाई गयी थी।

बोध प्रश्न-1

1) व्यापारिक पूँजी या उपनिवेशवाद के मुक्त व्यापार चरण का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

2) भारत में उपनिवेशवाद के दूसरे और तीसरे चरण के दौरान अधिशेष निष्कासन या शोषण के मूल रूपों के बारे में 100 शब्दों में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

8.5 राष्ट्रवादियों द्वारा उपनिवेशवाद की आर्थिक आलोचना

भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारत पर औपनिवेशिक आर्थिक प्रभाव की तीखी और प्रभावशाली आलोचना करते हुए विद्वतापूर्ण लेखन किया। दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे और रोमेश दत्त तथा कई लोगों ने अपने लेखन द्वारा, जिन्होंने राष्ट्रवादी आर्थिक विचारधारा का विकास किया, ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत के विशिष्ट अनुभवों पर प्रकाश डालते हुए उनका विश्लेषण किया। इस विश्लेषण के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं:

i) नौरोजी और दत्त के लेखन में संपत्ति दोहन (धन की निकासी) के विचार को विकसित किया गया है। उनके लिए इसका अर्थ था – संपत्ति का स्थानांतरण, अठारहवीं शताब्दी से ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों द्वारा लूट-खसोट तथा गैर कानूनी फायदों के रूप में तथा गृह-शुल्कों, यानी इंग्लैण्ड में भारत की सरकार का खर्च मुख्यतः भारतीय जनता से विभिन्न करों के रूप में प्राप्त धन से किया जाता था, और अंततः निजी निवेशों पर भारत से इंग्लैंड में पूँजी स्थानांतरण, लाभ और ब्याज आदि के रूप में।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 93 24-03-2021 11:47:20

राष्ट्रवादी विचारकों ने बतलाया कि किस तरह इन विभिन्न रूपों में पूँजी या संपत्ति दोहन के कारण इस देश की दशा कमजोर हुई और भारत तथा इंग्लैंड के बीच आर्थिक अंतर में वृद्धि हुई जो संपत्ति दोहन की एक नीति थी।

ii) उन्होंने यह भी बताया कि कैसे ब्रिटिश शासन ने भारत के लघु उद्योगों को तहस-नहस किया, इस प्रक्रिया को आजकल अनौद्योगीकरण के नाम से जाना जाता है।

iii) राष्ट्रवादियों का तर्क था कि मुक्त व्यापार तथा अहस्तक्षेप के विचार ने शुल्क तथा औद्योगिक नीतियों का निर्धारण इस प्रकार किया जिसके कारण ब्रिटिश भारत में औद्योगिक विकास की संभावनाओं का खात्मा हो गया। परिणामस्वरूप भारत औद्योगिक इंग्लैंड के लिए ''कृषि भूमि'' बन गया, यानी इंग्लैंड से औद्योगिक आपूर्ति पर पूर्णतया निर्भर और खाद्यान्न तथा कच्चे माल का एक स्रोत।

iv) कृषि में करों की दर की आर. सी. दत्त ने खूब आलोचना की है, उनके अनुसार खासकर उन क्षेत्रों में जहाँ समय-समय पर स्थायी भूमि-व्यवस्था थी, पर भूमि-राजस्व का भार बहुत अधिक था। उनके विचार से ब्रिटिश-भारत में समय-समय पर उभरने वाली भुखमरी का यह कारण था। ग्रामीण क्षेत्रों से राजस्व एकत्र करने वाली मशीनरी द्वारा संपत्ति का शोषण किया गया, जिसके कारण आर्थिक स्तर पर खेती में इतनी अनिश्चिता हो गयी कि किसान बरसात न होने तथा अन्य प्राकृतिक आपदाओं के कारण उभर नहीं पाता था।

v) और अंत में, भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के राष्ट्रवादी विश्लेषण का प्रमुख हिस्सा सरकार की सेना, पुलिस तथा अन्य विभागों में होने वाले खर्च की आलोचना है, यह खर्च इतना अधिक था कि विकास में लगने वाले पूँजी निवेश को नकार दिया गया। उदाहरण के लिए, सिंचाई-कार्यों में इतने कम खर्च का प्रावधान था जिसे ब्रिटिश इंडिया आर्मी और रेलवे के उदार खर्च को सामने रखकर साफ-साफ समझा जा सकता है।

8.6 औपनिवेशिक शासन के आर्थिक प्रभाव

उपनिवेशवाद की विभिन्न अवस्थाओं के बारे में आप पहले पढ़ चुके हैं। लेकिन इन अवस्थाओं ने अर्थव्यवस्था को किस तरह प्रभावित किया? औपनिवेशिक नीतियों के कारण शिल्पकार, कृषक, कामगार, व्यापारी यानी भारतीय समाज के लगभग सभी तबके प्रभावित हुए थे। इस भाग में हम उपनिवेशवाद के आर्थिक प्रभावों को जानने का प्रयास करेंगे।

8.6.1 अनौद्योगिकरण

इस देश में पारंपरिक भारतीय उद्योगों का खात्मा उपनिवेशवाद के प्रारंभिक परिणामों में से एक था, जिसे देखा और लिखा गया। यद्यपि यह बात इंग्लैंड में आधुनिक कारखानों, उद्योगों के विकास और भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों के विनाश की शुरुआत से जुड़ी हुई है। फिर भी हम अठारहवीं शताब्दी से इस बात को समझना चाहेंगे, जब वाणिज्य में भारतीय उद्योगों के उत्पाद की कीमत ऊँची मानी जाती थी। व्यावसायिक पूँजीवाद के उस दौर में ईस्ट इंडिया कंपनी के लाभ के स्रोत भारतीय औद्योगिक उत्पादों का भारत में लागत मूल्य तथा इंग्लैंड में विक्रय-मूल्य का अंतर था, जैसे सूती और सिल्क वस्त्र। वह मूल्य-अंतर जिसे हम अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी का लाभ-दर कह सकते हैं, ज्यादा बढ़ाया जा सकता था यदि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा खरीदे गए उत्पाद का भारतीय लागत-मूल्य भारतीय शिल्पकारों को कम दिया जाए। जब तक भारतीय बाजारों में प्रतिस्पर्धा थी, यानी जब तक अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी दूसरी फ्रांसीसी, डच ईस्ट इंडिया कंपनियों के साथ-साथ भारतीय तथा एशियाई मूल के व्यापारियों के साथ प्रतिस्पर्धा रहेगी, भारतीय शिल्पकार अपने उत्पाद का अच्छा मूल्य प्राप्त करने की अवस्था में रहेगा। लेकिन अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में अंग्रेजों ने अपने प्रमुख प्रतिस्पर्धियों, विशेषकर फ्रांसीसी और डच को धीरे-धीरे हटाना शुरू कर दिया। इसके अलावा अपनी सैनिक ताकत के चलते, और कुछ क्षेत्रों में (उदाहरण के लिए 1765 में) राजनैतिक तथा प्रशासनिक नियंत्रण के कारण बंगाल में उन्हें बाजार में एकाधिकार जमाने या इजारेदार बनने में मदद की।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 94 24-03-2021 11:47:20

इंग्लिश कंपनी तथा उसके कर्मचारियों द्वारा वैयक्तिक खरीददारी मिलाकर इतनी हो जाती थी कि वह बंगाल में अच्छी किस्म के वस्त्रों का एक बहुत बड़ा हिस्सा खरीद लेते थे। जैसा कि हम सब जानते हैं कि एक इजारेदार अपने लाभ के लिए बाजार को प्रभावित कर सकता है। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम तीन दशकों तक अंग्रेज व्यापारियों को यह लाभ था जिसके चलते इस देश के शिल्पकारों को दिया जाने वाला मूल्य उन्होंने कम कर दिया जिससे यूरोपीय बाजारों में इस माल की बिक्री का लाभ बहुत अधिक बढ़ गया। भारतीय शिल्पकारों के इस अतिरिक्त शोषण ने उनकी आय का स्तर बहुत नीचा करके हस्तशिल्प उद्योगों के प्रभुत्व अधिकार को ही कमजोर कर दिया। इसने उद्योगों में पूँजी निवेश तथा उसके तकनीकी विकास के लिए संसाधनों को जोड़ने की संभावनाओं को ही नष्ट कर दिया। जैसा कि हम जानते हैं, कि अठारहवीं शताब्दी के अंतिम तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में इंग्लैंड में पूँजी संचय और एक तकनीकी क्रांति हुई थी। इस तकनीकी क्रांति ने सबसे पहले यूरोप के बाजारों से भारतीय शिल्पकारों को एकदम हटा दिया। क्योंकि नए अंग्रेजी कारखानों में बड़ी मात्रा में उत्पादनों के कारण भारतीय शिल्पकारों के लिए यह संभव नहीं था कि वे कारखाना उत्पाद से प्रतियोगिता कर सकें। उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत से देश औद्योगिक निर्यात या सूती वस्त्र आदि का निर्यात धीरे-धीरे कम होने लगा और जल्द ही बंद हो गया। कुछ और चीजें जैसे नील, अपरिष्कृत सिल्क का निर्यात होता रहा – यद्यपि सन् 1813 से ईस्ट इंडिया कंपनी नहीं, बल्कि निजी संस्थान निर्यात का काम करने लगे थे। विदेशी कारखानों ने न सिर्फ भारतीय शिल्पकारों से निर्यात बाजार ही छीना, बल्कि घरेलू बाजारों को भी आयातित उत्पादों से भर दिया।

इस प्रक्रिया को अनौद्योगिकरण कहा गया है, क्योंकि यह औद्योगीकरण की प्रक्रिया से बिल्कुल विपरीत है।

यहाँ पर हम उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में अनौद्योगिकरण के प्रश्न पर हुए विवाद की ओर ध्यान देंगे। रमेशचंद्र दत्त और मदनमोहन मालवीय ने भारतीय औद्योगिक आयोग को लिखे विरोध-पत्र में अपना पक्ष साबित करने के लिए आयात के आँकड़ों का उपयोग किया था। उन्होंने दर्शाया, उदाहरण के लिए, कि सन् 1860 में आयातित मैनचेस्टर कपड़ों का मूल्य 96 लाख स्टर्लिंग था जो सन् 1900 में बढ़कर 27 करोड़ स्टर्लिंग हो गया। हाल ही में कुछ लेखकों, विशेषकर मौरिस डेविड मॉरिस, ने तर्क दिया कि यह प्रमाण निर्णायक नहीं हैं। उन्होंने बताया कि ''पैक्स ब्रिटेनिका'' के अंतर्गत जनसंख्या बढ़ गयी थी, प्रति व्यक्ति आय बढ़ गयी थी, उपभोग की आदतों में परिवर्तन के कारण वस्त्रों की बिक्री बढ़ गयी थी और इसलिए भारतीयों के लिए यह संभव था कि देशी शिल्पकारों के लिए बाजारों को अप्रभावित छोड़कर वे विदेशी वस्त्र खरीद सकें। संक्षेप में मॉरिस का तर्क यह है कि बाजारों की क्षमता इतनी बढ़ गयी थी कि वे मैनचेस्टर तथा भारतीय करघा उत्पादों, दोनों को शामिल कर सकें। मॉरिस इसी बात पर कायम हैं कि मैनचेस्टर वस्त्रों ने देशी बुनकरों के वस्त्रों को हटाया नहीं था। मॉरिस का यह विचार स्वीकार योग्य नहीं हैं, क्योंकि उसने उन्नीसवीं शताब्दी में जनसंख्या तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि का कोई तथ्य प्रस्तुत नहीं किया है। अनौद्योगिकरण की धारणा को बल देने वाले बहुत सारे तथ्यों को आधुनिक आर्थिक इतिहासकारों, जैसे शरद राजू (मद्रास), एन. के. सिन्हा (बंगाल), ए. वी. रामन राव (आंध्र प्रदेश), आर. डी. चौकसे (महाराष्ट्र) और ए. के. बाग्ची (बिहार) आदि, ने प्रस्तुत किया है। प्रारंभिक राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों के पास आधुनिक आर्थिक इतिहासकारों द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले स्रोतों का भंडार तथा शोध-पद्धतियाँ नहीं थी, फिर भी अनौद्योगिकरण के उनके निष्कर्ष को बाद के शोधकर्त्ताओं ने पुष्ट किया। बाग्ची के अनुमान के अनुसार दोआब (मध्यगंगा क्षेत्र) में औद्योगिक पतन को कुछ विशुद्धता के साथ नापा जा सकता है– उद्योगों पर आश्रित व्यक्तियों की संख्या 1809-13 से जनगणना वर्ष सन् 1901 तक घटकर आधी रह गयी थी।

यह सिद्ध हो चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक अनौद्योगिकरण की प्रक्रिया लगातार चल रही थी। क्या उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक में नयी औद्योगिक गतिविधियों ने सामंजस्य बनाए रखा? डेनियल थॉर्नर ने एक विवादास्पद धारणा प्रस्तुत की कि सन् 1881 के बाद से उपलब्ध जनगणना के आँकड़े यह नहीं बताते हैं कि सन् 1881 से सन् 1931 तक अनौद्योगिकरण प्रगति पर था – पहली दृष्टि में जनगणना के आँकड़े यह

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 95 24-03-2021 11:47:20

दर्शाते हैं कि कृषि में पुरुष कार्य शक्ति 1881 के 65 प्रतिशत की तुलना में बढ़कर 1931 में 72 प्रतिशत हो गयी, जबकि सन् 1881 में औद्योगिक पतन का अनुपात 16 प्रतिशत से 1931 में 9 प्रतिशत रहा। लेकिन थॉर्नर का मानना है कि यह श्रेणीकरण भ्रांतिपूर्ण था और कृषि कार्य शक्ति को दूसरी श्रेणियों, सामान्य श्रमिक और इसी तरह के अन्य श्रमिकों से मिला देने पर व्यापार के साथ औद्योगिक कार्यशक्ति में वृद्धि होती है। यदि इसे मान लिया जाए तो पूरा दृश्य बदला हुआ दिखायी देता है। प्राथमिक क्षेत्र में संयोजित श्रेणियों की वृद्धि बहुत कम दिखायी देती है। (1881 से 1931 तक 2 प्रतिशत वृद्धि) इसी तरह उद्योग तथा व्यवसाय दोनों को मिलाकर गिरावट भी बहुत कम है (1881-1931 में 3 प्रतिशत गिरावट)। आगे थॉर्नर महिला श्रम-शक्ति से संबंधित आँकड़ों को भी इस आधार पर गलत बताते हैं कि जनगणना अधिकारियों के विचार में जो आँकड़े एकत्रित किए गए वे सही नहीं थे, और इस प्रकार थॉर्नर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 1881-1931 की जनगणना अनौद्योगिकरण का कोई समुचित आधार प्रस्तुत नहीं करती है।

थॉर्नर की धारणा के विरोध में एक सर्वविदित तथ्य यह है कि अनौद्योगिकरण की प्रक्रिया ने जनगणना के कार्य के पहले ही बहुत नुकसान कर दिया था। पहली विश्वसनीय जनगणना 1881 की मानी जाती है। इतना तो थॉर्नर स्वयं ही मानते हैं और दूसरी यह कि महिलाओं के रोजगार से संबंधित आँकड़ों को नकारने में वे शायद गलत हैं। यह आँकड़े दर्शाते हैं कि 1881-1931 के दौरान कृषि में रोजगार 13 प्रतिशत बढ़ा, वहीं औद्योगिक रोजगार में 9 प्रतिशत गिरावट आयी। भारतीय सामाजिक संदर्भ में महिलाओं का रोजगार बहुत महत्वपूर्ण है और यह शायद इस कारण हुआ कि शिल्पकारी के व्यापार में पतन होने के कारण घरेलू महिलाओं में शिल्पकार परिवारों के पुरुषों से पहले ही औद्योगिक कार्य छोड़ दिया – (घरेलू कामकाज या कृषि श्रम के लिए)। इसके ऊपर सवाल यह है कि कार्यशक्ति के क्षेत्रीय-वितरण को औद्योगीकरण का कितना विश्वसनीय सूचक माना जाए? निर्णायक सूचक प्रति व्यक्ति उत्पादकता और राष्ट्रीय उत्पाद की तुलना में उसका मूल्य है, यानी राष्ट्रीय आय का अनुपात। थॉर्नर के दिए गए तर्कों के प्रति जय कृष्णामूर्ति इसी धरातल पर जनसांख्यिकीय आँकड़ों के उपयोग पर शंका करते हुए उस प्रश्न का जवाब देते हैं कि क्या अनौद्योगिकरण था? और अंत में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि एक महत्वपूर्ण विचारधारा साम्राज्यवादी समर्थकों की थी जो यह तो मानते थे कि भारत का अनौद्योगिकरण हुआ है लेकिन साथ ही इस बात का भी तर्क देते हैं कि कृषिगत वस्तुओं के उत्पादन में उपनिवेश ने विशेषज्ञता हासिल कर ली इसलिए यह भारत और इंग्लैंड दोनों के लिए अच्छा था। जैसा कि 1911 में लॉर्ड जॉन मेनार्ड किन्स ने लिखा है कि भारत का औद्योगीकरण न तो संभव था न ही आवश्यक। वास्तव में भारत कृषि उत्पादों का पश्चिम से आयातित औद्योगिक वस्तुओं के साथ आदान-प्रदान कर ज्यादा समृद्धि हासिल कर सकता था। यह विचार तुलनात्मक लाभ और श्रम के अंतर्राष्ट्रीय विभाजन के पारंपरिक सिद्धांत की ओर ले जाता है और औद्योगीकृत साम्राज्यवादी देश के लिए भारत जैसे उपनिवेशों को कृषि-भूमि बनाने में मदद करता है। राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि उन्होंने इस विचार को परास्त किया और स्वंतत्रता संग्राम के राजनैतिक कार्यक्रम में भारतीय औद्योगीकरण के आर्थिक कार्यक्रम को स्थापित किया।

8.6.2 औपनिवेशिक भारत में अकाल

यदि उपनिवेशवाद का अर्थ है– पुराने उद्योगों का विनाश, तो क्या इसे कृषिगत उत्पादन में वृद्धि मानें? इसका उत्तर संभवतः नकारात्मक ही निकले। जब हम 1898 से 1947 तक की अनाज के प्रति व्यक्ति और प्रति एकड़ उत्पादकता को देखते हैं तो निश्चित रूप से इसका उत्तर नकारात्मक होता है। जहाँ तक प्रारंभिक पचास वर्षों की बात है बार-बार पड़ने वाले अकाल-भूखमरी अपनी कहानी स्वयं कहते हैं:

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पड़ने वाले कई अकालों ने भारत की अवस्था दयनीय बना दी। एक आधिकारिक अनुमान के अनुसार इन अकालों में एक करोड़ 52 लाख व्यक्तियों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा और 29.7 करोड़ लोग इन विभिन्न अकालों से प्रभावित रहे।

यह बड़ी संख्या इस बात का द्योतक है कि लगातार संकट की अवस्था बनी रही। निश्चित रूप से इसका तात्कालिक कारण सूखा और फसल की बर्बादी रहा लेकिन इसकी जड़ें वहाँ

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 96 24-03-2021 11:47:20

हैं, जिसे खेतिहर उत्पादन की ''सामान्य दर'' कहा जाता है। कृषि तकनीक में स्थिरता, प्रति एकड़ पैदावार बढ़ाने में निवेश की असफलता, राजस्व दलालों द्वारा कृषि योग्य स्रोतों का दोहन और महाजन तथा कृषि वस्तुओं के व्यापारी भी बहुत महत्वपूर्ण पहलू थे। सिंचाई एवं अन्य विकासशील निवेशों में सरकार का अत्यल्प निवेश और 1920 के बाद से जनसंख्या में तीव्र वृद्धि भी इसके लिए जिम्मेदार रही हैं। इस संबंध में 1901 से 1943 तक की अवधि के तीन आकलन हमारे पास उपलब्ध हैं। ब्रिटिश भारत के लिए इन वर्षों में जॉर्ज ब्लिन के अनुमान या आकलन के अनुसार, प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता 0.23 टन से घटकर 0.16 टन रह गयी। शिव-सुब्रमन्यन के अनुमान के अनुसार, संपूर्ण अविभाजित भारत में यह गिरावट 0.2 टन से 0.14 तक हुई। एलेन हेस्टन के अनुसार, यह गिरावट 0.17 टन (1901) से 0.16 टन (1946) रही। इस प्रकार ये सारे आकलन यह दर्शाते हैं कि खाद्यान्न आपूर्ति में ब्रिटिश शासन के पचास वर्षों में गिरावट आयी, हालांकि ये आँकड़े एक दूसरे से अलग-अलग हैं।

8.6.3 कृषि का वाणिज्यीकरण

जैसा कि हम देख चुके हैं कि खाद्यान्न उत्पादन में कोई सुधार नहीं हुआ लेकिन यह बात कुछ तथाकथित ''नकद फसलों'' के लिए सही नहीं थी। गैर खाद्य फसलों का कुल और प्रति व्यक्ति उत्पादन दोनों ही बढ़े और यह मुख्यतः माँग में बढ़ोतरी तथा बाहरी एवं घरेलू बाजारों में कीमतें बढ़ने के कारण हुआ। इस प्रकार की सबसे अधिक नाटकीय बढ़ोतरी 1860 के आरंभिक वर्षों में कपास की उछाल में देखी जा सकती है जो हमारा विशेष ध्यान खींचती है।

अब्राहम लिंकन द्वारा काले दासों की मुक्ति और अमेरिका में लगातार गृह-युद्ध के कारण 1860-64 के दौरान कपास की विश्व आपूर्ति में गंभीर गिरावट आयी। इसके कारण भारत से निर्यातित कपास के मूल्यों में वृद्धि हुई और भारत में कपास की खेती बढ़ी। कपास के इस उछाल से कपास उगाने वाले क्षेत्र के भारतीय कृषकों को विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के क्षेत्र में ला दिया। कपास की उस उछाल के कारण मुंबई के महत्वपूर्ण निर्यात घरानों, बड़े शहरों के थोक-व्यापारियों, कपास निर्यात व्यापार के दलालों तथा अन्य व्यक्तियों से लेकर गाँव के महाजन, जो कृषक को कपास की खेती के लिए अग्रिम धन भी दे देता था, गाँव के महाजन के स्तर तक सभी लोगों ने भरपूर लाभ उठाया। इस लाभ के साथ ही पहले से ही अन्य व्यावसायिक फसलों जैसे अफीम और नील, के लाभ के कारण सारी पूँजी चंद भारतीय व्यापारियों के हाथों में सिमट कर रह गयी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कपास के इस उछाल ने भारत को औद्योगीकृत पश्चिम की कृषिगत वस्तुओं तथा कच्चे माल की जरूरतों के आपूर्तिकर्ता का स्थान दे दिया। इससे अनौद्योगिकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला। कृषि में उपनिवेश द्वारा विशिष्टीकरण की भूमिका तथा पश्चिम में औद्योगीकृत देश इन्हें श्रम के अंतर्राष्ट्रीय विभाजन के समकालीन सिद्धांत में साफ-साफ दर्शाया गया है। यह सिर्फ भारत और इंग्लैंड में ही नहीं पाया गया बल्कि औद्योगिक पूँजीवाद साम्राज्यवाद की अवस्था में अन्य उपनिवेशों तथा साम्राज्यवादी देशों में भी पाया गया।

कृषि उत्पादन के आँकड़े जहाँ गैर खाद्य-उत्पाद में वृद्धि दिखाते हैं वहीं खाद्यान्न उत्पादन में एकदम विपरीत स्थिति दिखाई पड़ती है। जहाँ 1891 से 1947 के बीच जनसंख्या में प्रति वर्ष 0.67 प्रतिशत की वृद्धि दिखाई देती हैं। वहीं कुल खाद्यान्न उत्पादन केवल 0.11 प्रतिशत बढ़ा दिखाई देता है; इस अवधि में प्रति एकड़ प्रतिवर्ष खाद्यान्न उत्पादन में 0.18 प्रतिशत की गिरावट भी दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर बाजार में बढ़ती हुई माँग तथा बढ़ती हुई कीमतों के कारण उच्च व्यवसायिक गैर-खाद्य फसलों के उत्पादन में 0.86 प्रतिशत प्रतिवर्ष और उनके कुल उत्पाद में 1.31 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि दिखाई पड़ती है। गैर खाद्य फसलों में प्राथमिक तौर पर कपास और जूट हैं लेकिन साथ ही तम्बाकू, गन्ना, तिलहन आदि शामिल हैं।

8.6.4 वाणिज्यीकरण का ग्रामीण समाज पर प्रभाव

कृषि के वाणिज्यीकरण ने व्यापारिक पूँजी और सूदखोरी को जन्म दिया और ग्रामीण समाज में कृषकों के बीच के अंतर को और अधिक बढ़ाया। सामान्य किसान की उधार के लिए महाजन पर निर्भरता बढ़ गयी थी। यह धन उसे फसलों की खरीदारी, मंदी के मौसम में

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 97 24-03-2021 11:47:21

जीविकोपार्जन के लिए कर्ज के रूप में लेना पड़ा। जैसे-जैसे वाणिज्यीकरण बढ़ता गया, भू-राजस्व के भुगतान के लिए भी देनदार-व्यापारी नकद आपूर्ति करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे और महाजन आयातित औद्योगिक उपभोक्ता वस्तुओं, विशेष रूप से मैनचेस्टर वस्त्रों, का ग्रामीण बाजारों में एक प्रमुख एजेंट बनकर उभरा।

जब गरीब खेतिहर बाजार के लिए फसलें उगा रहे थे वस्तुतः उस समय वे देनदार या महाजन के हाथों गिरवी हो चुके थे, खेतिहरों का थोड़ा संपन्न वर्ग तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र था। ये लोग अपने सामानों का भंडारण कर सकते थे और कटाई के बाद भरे हुए बाजार में बेहतर कीमतों का इंतजार भी करते थे। ये लोग अपनी उपज को बाजार तक ले जाकर महाजन और दलालों द्वारा गाँव में दी जाने वाली कीमत से ज्यादा कीमत पर बेच सकते थे। इसके अलावा वे इस बात का भी निर्णय कर सकते थे कि कौन सी फसल उगाई जाए जबकि गरीब खेतिहर वही फसल उगाने पर मजबूर था जो महाजन चाहता था। कुछ क्षेत्रों में ये संपन्न किसान स्वयं ही गरीब किसानों के महाजन बन बैठे। और इस प्रकार विभेदीकरण या विशिष्टीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो गयी।

विशिष्टीकरण की इस प्रक्रिया और पैसों के लेन-देन के इस व्यापार के चलते बड़ी संख्या में खेतीहरों की जमीन छिन गयी और ''गैर कृषिकरण'' की प्रक्रिया के कारण वे भूमिहीन श्रमिकों में परिवर्तित हो गए। यहाँ इस बात पर जरूर ध्यान दिया जाए कि औपनिवेशिक अवधि के पहले ही भूमिहीन श्रमिक अस्तित्व में थे (विशेषकर दक्षिण भारत में कुछ जातियों के लोग बड़ी संख्या में दास थे)। गैर कृषिकरण की इस आर्थिक प्रक्रिया और भूमिहीन श्रमिकों की यह बड़ी संख्या औपनिवेशिक काल की एक प्रमुख विशेषता के रूप में उभर कर सामने आयी।

1931 की जनगणना से ग्रामीणों की सामाजिक दशा का जो चित्र सामने आता है, इस पिरामिड में सबसे नीचे भूमिहीन कृषि श्रमिक (बंधुआ श्रमिकों को मिलाकर) हैं जो खेतिहरों का 37.8 प्रतिशत हैं। इसके ऊपर 5 एकड़ से भी कम जमीन वाले छोटे किसान (9 प्रतिशत) तथा पट्टेदारों और बटाईदार (24.3 प्रतिशत) हैं। दूसरी ऊपरी सतह पर थोड़ी बेहतर स्थिति वाले किसान हैं जिनके पास 5 एकड़ से अधिक जमीन है। ये कुल 25-30 प्रतिशत हैं और इस पिरामिड के सबसे ऊपरी हिस्से में वे लोग हैं जो खुद खेती नहीं करते हैं लेकिन लगान या किराया वसूल करते हैं। ये कुल खेतिहरों का मात्र 3.6 प्रतिशत हैं। सबसे बुरी हालत बंधुआ मजदूर की थी जो अपने मालिक के लिए जीवन भर और कभी-कभी पीढ़ी-दर-पीढ़ी काम करता रहता था।

8.7 आधुनिक उद्योग और भारतीय पूँजीपति वर्ग

औपनिवेशिक राज्य के औद्योगिक पूँजीवादी साम्राज्यवाद के रूप ने प्राकृतिक स्रोतों और कच्चे माल के शोषण के लिए इस उपनिवेश में एक आर्थिक कार्यक्रम का ढाँचा भी शामिल कर लिया, उस पहलू पर हम शीघ्र ही चर्चा करेंगे। फिलहाल यही बताना पर्याप्त होगा कि इस संरचनात्मक विकास, विशेषकर रेलवे और यातायात प्रणाली ने, न केवल कुछ क्षेत्रों (उदाहरण के लिए जूट कारखानों, कोयला खदानों, चाय-कॉफी बागानों) में विदेशी पूँजी के विकास के लिए बल्कि देशी पूँजी के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। ब्रिटिश भारतीय सरकार का प्रतिकूल शुल्क दर नीतियों तथा मैनचे्सटर वस्त्रों से प्रतिस्पर्धा के बाद भी देशी पूँजी का सबसे पहला औद्योगिक निवेश वस्त्रोद्योग में किया गया। 1854 में बंबई में पहली भारतीय कपड़ा मिल की स्थापना से लेकर प्रथम विश्व युद्ध तक भारतीय औद्योगिक पूँजी की प्रगति धीमी और स्थिर रही। वह युद्ध और युद्ध के बीच का समय था जिसने भारतीय पूँजी की औद्योगिक विविधता के तीव्र विकास को देखा। यह विकास विदेशी पूँजीवादी प्रधानता से संघर्ष का एक हिस्सा था (स्पष्टतया पूर्वी भारत में)। इस विकास ने असंवेदनशील ब्रिटिश भारतीय सरकार तथा अंग्रेजी सरकार की नीतियों को प्रभावित करने वाले अंग्रेजी व्यापारिक हितों के खिलाफ संघर्ष को भी शामिल कर लिया। इससे हम भारतीय पूँजीपति वर्ग तथा उन राष्ट्रवादी नेताओं के बीच हुए गठबंधन को समझ सकते हैं जो देशी पूँजी के समर्थक थे।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 98 24-03-2021 11:47:21

एक औपनिवेशिक संदर्भ में राष्ट्रीय पूँजी का विकास स्वाभाविक रूप से सीमित रहा। औपनिवेशिक औद्योगिक विकास के मार्ग बहुत ही कम थे। राष्ट्रीय आय के बारे में शिव सुब्रमण्यन् द्वारा किए अनुमान से ही पता चल जाता है कि अंग्रेजी राज के अंतिम 50 वर्षों में भी औद्योगिक विकास की दर बहुत कम थी। एक औसत के आधार पर कुल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुपात में औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा 1900-1904 में 12.7 प्रतिशत, 1915-19 में 16.7 प्रतिशत, और 1940-44 में 16.7 प्रतिशत था। यानी भारत वहीं रहा जहाँ वह था, कृषि प्रधान। यह स्पष्ट है कि कुल राष्ट्रीय उत्पाद में प्राथमिक क्षेत्रों द्वारा अर्जित आय का अनुपात 1900-04 में 63.6 प्रतिशत, 1915-19 में 59.6 प्रतिशत और 1940-44 में 47.6 प्रतिशत था। केवल तृतीय क्षेत्र में तीव्र वृद्धि दिखाई पड़ती है; 1900-04 में 23.7 प्रतिशत की तुलना में 1940-44 में 35.4 प्रतिशत की वृद्धि।

दूसरे कई औपनिवेशिक तथा औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए देशों के समान ही भारत की राष्ट्रीय आय का स्तर स्थिर ही दिखाई देता है। प्रारंभिक अंग्रेजी राज के समय में राष्ट्रीय आय का कोई सूचक उपलब्ध नहीं है। दादाभाई नौरोजी के आकलन के अनुसार 1860 में भारत में प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति आय मात्र 20 रुपए थी। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार दादाभाई नौरोजी तथा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने भारत की इस दरिद्र अवस्था के लिए पूँजी दोहन को एक कारण माना था। इस काल, में स्पष्टतया 1870 में, (मिशेल और डीन के आकलन के अनुसार) इंग्लैंड में प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति आय 24 डॉलर 4 स्टर्लिंग थी, (भारतीय रुपयों में 568 रुपए)।

शिव सुब्रमण्यन् द्वारा हाल ही में किए गए आकलन के अनुसार, अंग्रेजी राज के अंतिम 50 वर्षों में प्रति व्यक्ति आय लगभग स्थिर ही रही। यह 1900-04 में 52 रुपए, 1915-19 में 57.3 रुपए और (1938-39 की वे स्थिर मूल्य पर) 1940-44 में 56.6 रुपए थी। इससे हमें उस अल्प विकास और स्थिरता का आभास मिलता है, जिससे औपनिवेशिक भारत पीड़ित था।

8.8 सारांश

औपनिवेशिक शासन तथा उपनिवेश पर उसके प्रभावों की विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग तरीके से व्याख्या की गई है। भारतीय राष्ट्रवादी विद्वानों – दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे और आर. सी. दत्त आदि ने मुख्यतः भारतीय संदर्भ में तथा भारतीय अर्थव्यवस्था पर अंग्रेजी राज के प्रभाव की चर्चा को अपने विश्लेषण के केन्द्र में रखा है। उन्होंने संपत्ति दोहन तथा अनौद्योगिकरण की अंग्रेजी राज के दुष्प्रभावों के रूप में व्याख्या की।

भारत में उपनिवेशवाद के अन्य पहलुओं में कृषि का वाणिज्यीकरण तथा औद्योगीकरण की प्रक्रिया की धीमी तथा असंतुलित गति प्रमुख थी। उपनिवेशवाद की आवश्यकताओं की ओर ही भारतीय अर्थव्यवस्था बढ़ी और औपनिवेशिक शासन ने साम्राज्यवादी हितों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को गढ़ने में एक प्रमुख निभाई।

8.9 शब्दावली

गैर-कृषिकरण : थोड़ी-सी जमीन रखने वाले कृषकों के जमीन छीनने की प्रक्रिया, जिसके कारण वे बाद में कृषि-श्रमिक हो गए।

विशिष्टीकरण या विभेदीकरण: खेतीहरों को कई वर्गों में बाँट देना, जिसके परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट तबके उसी वर्ग के बल पर संपन्न होते जाते हैं।

जन-सांख्यिकीय आँकड़े: जनसंख्या से संबंधित आँकड़े।

साम्राज्यवादी समर्थक : साम्राज्यवाद के प्रति नम्र दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान जो साम्राज्यवाद के शोषक पहलुओं पर परदा डालते हुए भारत की आर्थिक अवनति के प्रति किसी भी जिम्मेदारी से उसे मुक्त करते हैं।

'अहस्तक्षेप' व पुलिस राज : देश की आर्थिक प्रक्रिया में किसी भी तरह से हस्तक्षेप

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 99 24-03-2021 11:47:21

न करने की नीति और पुलिस राज मुहावरे का अर्थ है कि देश में कानून-व्यवस्था बनाए रखना शासन का काम है। इस प्रकार सरकार तमाम जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाती है।

कुल राष्ट्रीय उत्पाद (नेट डोमेस्टिक प्रोडक्ट) : उद्योगों, कृषि और सेवा क्षेत्रों का मिला-जुला राष्ट्रीय उत्पाद।

प्रति-व्यक्ति आय : कुल राष्ट्रीय आय, जिसे जनसंख्या से विभाजित किया जाए।

प्रति-व्यक्ति उत्पादन : उत्पादन की दर, जिसे बाद में कुल जनसंख्या से विभाजित किया जाए।

प्राथमिक क्षेत्र : कृषि, मत्स्य-पालन, पशुपालन और वन-उत्पाद।

उत्पादकता : उत्पादन-क्षमता।

बटाईदार : खेतीहरों का एक वर्ग जो दूसरों की जमीन पर खेती करता है या उस जमीन की देखभाल करता है तथा बदले में फसल में से हिस्सा प्राप्त करता है।

पट्टेदार : पुराने खेतीहर मालिकों का एक वर्ग जो अब नए बने हुए जमींदारों का किरायेदार हो गया है। ये जमींदार उस खेतीहर को किराया न चुकाने पर अपनी मर्जी से निकाल सकता है।

द्वितीय क्षेत्र : व्यापार और यातायात को मिलाकर सेवा-क्षेत्र।

महाजन : रुपए-पैसे देने वाला एक ग्रामीण वर्ग, जो कभी-कभी खेतीहर और बाजार के बीच दलाली का काम भी करता है।

बोध प्रश्न-2

1) उपनिवेशवाद के आर्थिक प्रभाव की समझ के प्रति प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेताओं के योगदान का संक्षेप में वर्णन करें।

.....

.....

.....

2) मॉरिस डी. मॉरिस और डैनियल थॉर्नर किस आधार पर अनौद्योगिकरण की परिकल्पना को अस्वीकार करने का प्रयास करते हैं? क्या आप उनके विचारों से सहमत है?

.....

.....

.....

3) औपनिवेशिक काल के दौरान किसानों के जीवन पर वाणिज्यीकरण के प्रभावों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) भाग 8.3 देखें।

2) भाग 8.3 तथा 8.4 की तुलना करें।

बोध प्रश्न-2

1) भाग 8.5 देखें।

2) उपभाग 8.6.1 देखें।

3) उपभाग 8.6.4 देखें।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 100 24-03-2021 11:47:21

इकाई 9 उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक-धार्मिक आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 सुधारों की पद्धति और विस्तार क्षेत्र

- 9.2.1 आंतरिक सुधार
- 9.2.2 कानून द्वारा सुधार
- 9.2.3 प्रतीकात्मक बदलाव द्वारा सुधार
- 9.2.4 सामाजिक कार्यों के माध्यम से सुधार

9.3 मुख्य प्रेरणादायक विचार

- 9.3.1 तर्कवाद
- 9.3.2 विश्व व्यापकतावाद

9.4 प्रमुख सुधार आंदोलन

- 9.4.1 राममोहन राय के विचार
- 9.4.2 देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र
- 9.4.3 विद्यासागर और विवेकानन्द
- 9.4.4 पश्चिम भारत में सुधार
- 9.4.5 उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध
- 9.4.6 आर्य समाज
- 9.4.7 सैय्यद अहमद खान
- 9.4.8 विरेशलिंगम और दक्षिण भारत में सुधार

9.5 सुधार आंदोलनों का महत्व

9.6 कमजोरियाँ एवं सीमाएँ

9.7 सारांश

9.8 शब्दावली

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- यह जानेंगे कि भारत में ये सुधार क्यों और कैसे शुरू हुए;
- यह समझेंगे कि इन सुधारों के प्रमुख नेतृत्वकर्ता कौन थे और भारतीय समाज की प्रकृति के बारे में उनके क्या विचार थे; और
- इन सुधारों के तरीकों और विस्तार क्षेत्र को समझते हुए उनकी कमियों पर रोशनी डाल सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के विभिन्न भागों में अनेकों सुधार-आंदोलन हुए। ये सुधार-आंदोलन भारतीय समाज को आधुनिक विचारों के अनुरूप पुनर्गठन की दृष्टि से हुए। यह

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 101 24-03-2021 11:47:21

इकाई उन सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का सामान्य व समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के साथ ही उन आंदोलनों के महत्व पर भी प्रकाश डालने की कोशिश करती है।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों द्वारा भारत पर आधिपत्य ने, भारतीय सामाजिक संस्थाओं की कुछ गंभीर कमजोरियों व खामियों को उभार कर सामने रख दिया। परिणामस्वरूप अनेक व्यक्तियों और आंदोलनों ने सामाजिक सुधार व पुनरुत्थान की दृष्टि से सामाजिक और धार्मिक परंपराओं में परिवर्तन लाना शुरू किया। चर्चा के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह कौन-सी शक्ति थी जिसने भारत में जागरण की लहर को जन्म दिया। क्या यह पाश्चात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ? या यह केवल औपनिवेशिक हस्तक्षेप का जवाब भर था। हालांकि ये दोनों प्रश्न अंतर्संबंधित हैं, किंतु भली-भाँति समझने के लिए दोनों को अलग-अलग करना ही अच्छा होगा। इसका एक अन्य आयाम भारतीय समाज में आ रहे उन बदलावों से जुड़ा है जिसके फलस्वरूप नए वर्गों का उदय हो रहा था। इस परिप्रेक्ष्य से सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों को औपनिवेशिक भारत के नए उभरते मध्यम-वर्ग की सामाजिक महत्वाकांक्षा की अभिव्यक्ति के रूप में भी देखा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के समाज में हुई पुनर्जागरण की प्रक्रिया पर पाश्चात्य प्रभाव के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। फिर भी यदि हम सुधार की इस पूरी प्रक्रिया को औपनिवेशिक कृपा-मात्र मान लें और अपने आपको सिर्फ इसके सकारात्मक पहलुओं की ओर देखने तक ही सीमित रखें तो हम इस घटना के जटिल चरित्र के प्रति न्याय नहीं कर पायेंगे।

9.2 सुधारों की पद्धति और विस्तार क्षेत्र

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार-आंदोलन विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन नहीं थे बल्कि वे सामाजिक-धार्मिक आंदोलन थे। बंगाल के राममोहन राय, महाराष्ट्र के गोपाल हरि देशमुख (लोकहितवादी) और आंध्र के विरेशलिंगम् जैसे सुधारकों ने धार्मिक सुधारों की वकालत ''राजनैतिक फायदों और सामाजिक सुख'' के लिए की थी। इन आंदोलनों और उनके नेताओं के सुधार परिप्रेक्ष्य की विशेषता उनकी इस मान्यता में थी कि धार्मिक और सामाजिक समस्याओं में अंतर्संबंध हैं। उन्होंने धार्मिक विचारों के प्रयोग द्वारा सामाजिक संस्थानों और उनकी परंपराओं में बदलाव लाने की कोशिश की। उदाहरण के लिए, केशवचंद्र सेन ने ''देवत्व की एकता और मानव मात्र में भाई चारे'' की व्याख्या समाज से जाति भेद मिटाने के लिए की थीं। सुधार-आंदोलनों की सीमा के अंतर्गत आने वाली प्रमुख समस्याएँ निम्न थीं:

- नारी मुक्ति जिसमें सती-प्रथा, शिशु-हत्या, विधवा तथा बाल-विवाह इत्यादि समस्याओं को उठाया गया;
- जातिवाद और छुआछूत;
- समाज के ज्ञानोदय हेतु शिक्षा।

धार्मिक क्षेत्र के मुख्य विषय थे:

- मूर्तिपूजा
- बहुदेववाद
- धार्मिक अंधविश्वास; और
- पंडितों द्वारा शोषण

सामाजिक-धार्मिक परंपराओं में सुधार लाने के लिए विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग किया गया जिनमें से चार मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं।

9.2.1 आंतरिक सुधार

आंतरिक सुधार-प्रणाली की शुरुआत राममोहन राय द्वारा की गयी थी और उन्नीसवीं शताब्दी में इसका प्रयोग हुआ। इस प्रणाली के प्रचारकों का यह विश्वास था कि किसी भी सुधार को प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि वह समाज के अंदर से ही हो।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 102 24-03-2021 11:47:21

परिणामस्वरूप इनके प्रयास लोगों के बीच जागरूकता की भावना पैदा करने पर केंद्रित थे। यह प्रयास उन्होंने किताबें छापकर, विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर बहस व विवाद का आयोजन इत्यादि करके किया। राममोहन राय का सती-प्रथा के खिलाफ प्रचार, विद्यासागर के विधवा-विवाह पर लिखे इश्तहार तथा बी. एन. मालाबारी के शादी-विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाने के प्रयास इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

9.2.2 कानून द्वारा सुधार

दूसरी प्रवृत्ति कानूनी हस्तक्षेप द्वारा प्रभाव लाने के विश्वास पर आधारित थी। इस प्रणाली की वकालत करने वाले – बंगाल के केशवचंद्र सेन, महाराष्ट्र के महादेव गोविन्द रानाडे तथा आंध्र प्रदेश के विरेशलिंगम् का मानना था कि सुधार के प्रयास वास्तव में तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकते जब तक उन्हें राज्य का सहयोग प्राप्त नहीं हो। इसीलिए उन्होंने सरकार से विधवा-विवाह, कानूनी-विवाह (सिविल मैरिज) तथा अन्य विवाहों की न्यूनतम आयु बढ़ाने जैसे सुधारों को कानूनी समर्थन देने की माँग की। हालांकि वे यह समझने में भूल कर बैठे कि ब्रिटिश सरकार की सामाजिक सुधारों में रुचि केवल अपने संकीर्ण राजनैतिक व आर्थिक स्वार्थों के कारण थी और वे तभी हस्तक्षेप करते जब इन सुधारों से उनका स्वार्थ अप्रभावित रहता। साथ ही वे यह समझने में भी गलती कर बैठे कि बदलाव के लिए हथियार के रूप में कानून की भूमिका औपनिवेशिक समाज में ही सीमित थी क्योंकि इसे जनता की मान्यता प्राप्त नहीं थी।

9.2.3 प्रतीकात्मक बदलाव द्वारा सुधार

तीसरी प्रवृत्ति की कोशिश विशिष्ट विरोधी-गतिविधियों द्वारा प्रतीकात्मक बदलाव लाने की थीं। यह प्रवृत्ति ''डेरोजिओ'' या ''यंग बंगाल'' तक ही सीमित थी जो सुधार-आंदोलन के बीच क्रांतिकारी धारा का नेतृत्व करती थी। इस समूह के सदस्य, जिनमें से प्रमुखतः दक्षिनारंजन मुखर्जी, रामगोपाल घोष तथा कृष्ण मोहन बनर्जी ने परंपराओं का बहिष्कार किया और समाज की मान्यता प्राप्त मानदंडों के खिलाफ विद्रोह किया। वे ''पश्चिम के नए उठते विचारों'' की धारा से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने सामाजिक समस्याओं के प्रति समझौता न करने वाली क्रांतिकारी प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया। रामगोपाल घोष ने इस समूह की क्रांतिकारिता को अभिव्यक्त करते हुए घोषणा की – ''वह जो तर्क नहीं करेगा धर्मान्ध है, वह जो नहीं कर सकता, बेवकूफ है और जो नहीं करता, गुलाम है''। इन्होंने जिस प्रणाली को अपनाया उसकी मुख्य कमजोरी यह थी कि वह भारतीय समाज की सांस्कृतिक परंपरा को आकर्षित करने में सफल नहीं हो पाई। अतः बंगाल में उभरते नए मध्यम वर्ग ने इसे परंपरा के विरुद्ध पाया और स्वीकार नहीं किया।

9.2.4 सामाजिक कार्यों के माध्यम से सुधार

चौथी प्रवृत्ति सामाजिक कार्यों द्वारा सुधार की थी जैसा कि ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन की गतिविधियों से स्पष्ट है। उन लोगों को बिना सहायक सामाजिक कार्य के विरुद्ध बुद्धिजीवी प्रयासों की सीमित सीमा का स्पष्ट ज्ञान था। उदाहरण के लिए, विद्यासागर विधवा-विवाह की वकालत सिर्फ प्रवर्चनों और किताबों के प्रकाशन द्वारा करके ही खुश नहीं थे। शायद आधुनिक युग में भारत ने उनके रूप में सबसे महान मानवतावादी को जन्म दिया, जिसने अपने को विधवा-विवाह की समस्याओं से जोड़ लिया और अपनी पूरी जिन्दगी, शक्ति और धन इसी कार्य पर लगा दिया। इन सबके बावजूद वह सिर्फ कुछ एक विधवा-विवाह ही करवा पाए। विद्यासागर का सार्थक रूप से कुछ न प्राप्त कर पाना ही इस बात का द्योतक है कि औपनिवेशिक भारत में सामाजिक सुधारों के प्रभाव की अपनी एक सीमा थी। आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन ने भी सामाजिक कार्य द्वारा सुधार व पुनर्जागरण के विचारों को बढ़ावा देने का प्रयास किया। उनकी सीमा उनकी खुद की वह सीमित समझ थी कि सामाजिक और बौद्धिक स्तरीय सुधार समाज के संपूर्ण चरित्र व संरचना के साथ इस कदर जुड़े हैं कि उसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। मौजूदा व्यवस्था की संकीर्णता ही उन सीमाओं को दर्शाती है, जिन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का कोई भी प्रयास लांघ नहीं पाया है। दूसरे सुधार-आंदोलनों

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 103 24-03-2021 11:47:21

की तुलना में इनकी निर्भरता औपनिवेशिक सरकार के हस्तक्षेप पर कम और सामाजिक कार्य को मत के रूप में विकसित करने पर ज्यादा रही।

9.3 मुख्य प्रेरणादायक विचार

जिन दो महत्वपूर्ण विचारधाराओं ने आंदोलनों और उनके नेताओं को प्रभावित किया, वह हैं– तर्कवाद और विश्व-व्यापकतावाद।

9.3.1 तर्कवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारों का सामाजिक-धार्मिक यथार्थ के बुद्धिवादी आलोचकों ने सामान्य चित्रण किया है। शुरुआती ब्रह्म सुधारकों और ''यंग बंगाल'' के सदस्यों ने सामाजिक-धार्मिक समस्याओं के प्रति अत्यधिक विवेकपूर्ण रवैया अपनाया था। अक्षय कुमार दत्त, समझौता न करने वाले बुद्धिवादी, ने तर्क दिया कि प्राकृतिक और सामाजिक प्रवृत्ति को मात्र इसकी बनावट व मशीनी प्रक्रिया के स्तर पर अपनी बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है तथा इसकी समीक्षा की जा सकती है। विश्वास को विवेक से बदलने का प्रयास किया गया और सामाजिक-धार्मिक परंपराओं को उनकी सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से आँका गया। बुद्धिवादी परिप्रेक्ष्य से ब्रह्म समाज में वेदों की अमोघता का खण्डन हुआ तथा अलीगढ़ में सर सैयद अहमद खान द्वारा स्थापित आंदोलन ने इस्लाम की शिक्षाओं को नए युग की जरूरतों व आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने पर जोर दिया। सर सैयद अहमद खान ने धार्मिक सिद्धांतों को निर्विकार मानते हुए सामाजिक विकास में धर्म की भूमिका पर जोर देते हुए कहा कि यदि धर्म ने समय के साथ कदम नहीं मिलाया और समाज की माँगों को पूरा नहीं किया तो यह प्रभावहीन हो जाएगा, जैसा कि इस्लाम के साथ भारत में हुआ है।

यद्यपि सुधारकों ने धर्मग्रंथों की सम्मति ली (जैसा कि राममोहन के सती-प्रथा की समाप्ति के लिए और विद्यासागर के विधवा-विवाह के समर्थन में दिए गए तर्कों से स्पष्ट होता है) किंतु, सामाजिक सुधार हमेशा धार्मिक भावनाओं के अनुकूल नहीं थे। उस समय की व्याप्त सामाजिक परंपराओं को बदलने के लिए रखे गए दृष्टिकोणों में एक विवेकपूर्ण और निरपेक्ष दृष्टिकोण स्पष्टतः परिलक्षित था। विधवा-विवाह की वकालत तथा बहुपत्नी-प्रथा व बाल-विवाह का विरोध करते समय अक्षय कुमार को किसी धार्मिक विधान की खोज या भूतकाल में उनके प्रचलन की जानकारी हासिल करने में कोई अभिरुचि नहीं थी। उनके तर्क मुख्यतः समाज में होने वाले उनके प्रत्यक्ष प्रभावों पर ही आधारित थे। धर्मग्रंथों पर निर्भर होने की बजाय उन्होंने बाल-विवाह का विरोध करने के लिए डॉक्टरी राय का हवाला दिया।

अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा महाराष्ट्र में धर्म पर निर्भरता कम थी। गोपाल हरि देशमुख के लिए सामाजिक सुधारों का धार्मिक विधान सम्मत होना या न होना महत्वहीन था। यदि धर्म ने सुधारों की अनुमति नहीं दी, तो उनका मानना था कि धर्म को ही बदल दो। क्योंकि जो धर्मग्रंथों में लिखा है जरूरी नहीं कि वह समकालीन प्रसंगों के अनुकूल हो।

9.3.2 विश्व व्यापकतावाद

उन्नीसवीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण विचार था– विश्व व्यापकतावाद जिसका ईश्वर की एकता में विश्वास था और जो सब धर्मों के आवश्यक रूप से एक होने पर जोर देता था। राममोहन राय ने विभिन्न धर्मों को अखिल आस्तिकवाद का राष्ट्रीय अवतार माना और शुरू में ब्रह्म समाज को विश्वधर्म चर्च का दर्जा दिया था। सैयद अहमद खान के विचारों में भी लगभग वही गूंज थीः सभी पैगंबरों का एक ही संदेश (विश्वास) था और हर देश और राष्ट्र के अलग-अलग पैगंबर थे। इस मत ने केशवचंद्र सेन के विचारों में अधिक स्पष्टता पाई, जिन्होंने ब्रह्म समाज से हटकर सभी बड़े धर्मों की धाराओं को एक ही सूत्र ''नव विधान'' में बाँधने की कोशिश की तथा उसमें सभी प्रमुख धर्मों के विचारों का संश्लेषण करने का प्रयास किया। विश्व व्यापकतावाद मत पूरी तरह दर्शन का विषय नहीं था। इसने राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को तब तक काफी प्रभावित किया जब तक धार्मिक उदारतावाद ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपनी जड़ें नहीं जमा लीं। प्रसिद्ध बंगला उपन्यासकार बंकिमचंद्र चटर्जी भी, जिन्हें हिंदू धर्म पर उनकी समझ से जोड़ा जाता है,

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 104 24-03-2021 11:47:21

सार्वभौमिक धर्म को एक व्यक्ति की दूसरे के ऊपर श्रेष्ठता को निर्धारित करने की कसौटी मानते थे। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक पहचान लोगों की सामाजिक दृष्टिकोण को प्रभावित नहीं करती थी बल्कि यह काफी ज्यादा ही प्रभावित करती थी। सुधारकों के विश्व व्यापकतावाद पर जोर देने का उद्देश्य इस विशिष्ट खिचाव को ही शुरू करना था। हालांकि औपनिवेशिक संस्कृति तथा विचारधारा की चुनौती में विश्व व्यापकतावाद एक व्याप्त धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्ति को बढ़ावा देने की बजाय धार्मिक विशिष्टता में गुम हो गया।

बोध प्रश्न-1

1) निम्नलिखित कथन को पढ़ें और उन पर सही (✓) या गलत (×) का निशान लगाएँ।

   क) उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार-आंदोलन विशुद्ध धार्मिक आंदोलन थे।

   ख) एक ही समय में अनेक सुधार-आंदोलन देश के विभिन्न भागों में उभरे।

   ग) इन सुधार-आंदोलनों का सूत्रपात बंगाल में हुआ।

   घ) सुधार-आंदोलन में ''यंग बंगाल'' ने क्रांतिकारी धारा का प्रतिनिधित्व किया।

2) तर्कवाद और विश्व-व्यापकतावाद पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

9.4 प्रमुख सुधार आंदोलन

सुधार की सबसे पहली अभिव्यक्ति बंगाल में राममोहन राय द्वारा शुरू हुई। उन्होंने 1814 में आत्मीय सभा की स्थापना की जो उनके द्वारा 1829 में संगठित ब्रह्म समाज की अग्रगामी थी। सुधार की भावना शीघ्र ही देश के अन्य भागों में भी दिखाई देने लगी। महाराष्ट्र की परमहंस मंडली और प्रार्थना समाज, पंजाब तथा उत्तर भारत के अन्य भागों में आर्य समाज, हिंदू समाज के कुछ मुख्य आंदोलन थे। इस दौरान के कई अन्य धार्मिक व जातिगत आंदोलन जैसे यू. पी. में कायस्थ सभा तथा पंजाब में सरीन सभा थे। पिछड़ी जातियों में भी इन सुधारों ने जड़ पकड़ ली जैसे, महाराष्ट्र में सत्य-शोधक समाज और केरल में नारायण धर्म परिपालन सभा। अहमदिया और अलीगढ़ आंदोलन, सिंह सभा तथा रहनुमाई मजदेआसन सभा आदि ने क्रमशः मुसलमानों, सिखों तथा पारसियों में सुधार की भावना का प्रतिनिधित्व किया।

9.4.1 राममोहन राय के विचार

राजा राममोहन राय को समुचित ही आधुनिक भारत का जनक कहा गया है। वे एक बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे, उन्होंने राष्ट्रीय जीवन के लगभग सारे पहलुओं को उठाया और भारतीय राष्ट्र की पुनर्रचना के लिए संघर्ष किया। उन्होंने कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया और अपने समय के एक प्रकांड पंडित के रूप में प्रसिद्ध हुए।

उनकी पहली दार्शनिक कृति **तुहफत-उल-मुवाहिदीन** 1905 में प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने 'विवेक' तथा 'सामाजिक सुखलाभ' संबंधित विचारों की रोशनी में विश्व के मुख्य धर्मों का विश्लेषण किया। उन्होंने धर्म को विवेक से परे मात्र आस्था का विषय मानने से इंकार किया और उससे जुड़े चामत्कारिक मिथकों के पर्दाफाश का प्रयास किया।

1814 में कलकत्ता में बस जाने के बाद राममोहन राय की सुधार-सक्रियता और तेज हुई। उन्होंने **आत्मीय सभा** का गठन किया और धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध सतत संघर्ष चलाया। उन्होंने मूर्ति पूजा की भर्त्सना की और एकेश्वरवाद का पक्ष लिया। स्वदेशी ग्रंथों की वास्तविक शिक्षाओं के बारे में जनसमुदाय को अनभिज्ञ रखकर धार्मिक बुराइयों को बनाए रखने के लिए उन्होंने ब्राह्मण पुरोहितों को दोषी ठहराया। जनशिक्षा के

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 105 24-03-2021 11:47:21

उद्देश्य से उन्होंने कुछेक ग्रंथों का बंगाली अनुवाद प्रकाशित किया और एकेश्वरवाद के पक्ष में धुआंधार लेखन किया। स्थानीय भाषा में उनके अनुवाद और लेखन में बंगला भाषा के विकास को प्रोत्साहन मिला।

राममोहन राय अपने समूचे सक्रियता-काल में 'तर्कवादी' बने रहे। ''तुहफत'' में उनके ''तर्कवाद'' का पूर्ण परिपक्व रूप देखा जा सकता है। उनकी परिवर्ती रचनाओं में भी यथार्थ की कसौटी के रूप में विवेक को उसका समुचित स्थान मिलता है। यद्यपि बाद में चलकर उन्होंने धर्मग्रंथों का आश्रय लिया, लेकिन ऐसा हिंदू समाज में सुधारों को बढ़ावा देने के लिए ही उन्होंने किया।

1828 में उन्होंने एक नए समाज **ब्रह्म सभा** की स्थापना की जो बाद में ब्रह्म समाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका प्राथमिक उद्देश्य था हिंदुत्व को उसकी बुराइयों से अलग करना और एकेश्वरवाद का प्रचार-प्रसार। इसमें अन्य धर्मों की श्रेष्ठ शिक्षाएँ भी समाहित की गई। यह मानवतावाद, एकेश्वरवाद और सामाजिक पुनर्सृजन के पोषण के लिए शक्तिशाली मंच बना।

वर्तमान सामाजिक पतनशीलता को लेकर राममोहन अत्यंत दुखी थे। समाज में महिलाओं की दारुण दशा विशेष रूप से उनके सरोकार का विषय बनी। उन्होंने सती-प्रथा के विरुद्ध व्यापक अभियान चलाया। उनके आंदोलनकारी प्रयासों के फलस्वरूप अंततः 1829 में भारत के गवर्नर जनरल **लार्ड विलियम बेंटिंक** ने इस प्रथा के विरुद्ध एक कानून लागू किया। लेकिन विधवा जीवन के लिए जो समाधान उन्होंने सुझाया, वह पुनर्विवाह नहीं बल्कि तपश्चर्या ही था।

उन्होंने बहु-विवाह एवं बाल-विवाह की भर्त्सना की और समाज में महिलाओं के उत्पीड़न एवं उनके निम्न स्तर पर होने का विरोध हुआ। उन्होंने उनकी समस्याओं का मूल कारण सम्पत्ति अधिकारों का अभाव बताया। उनके विचार से, भारतीय समाज को सामाजिक जड़ता से मुक्त करने के लिए महिला शिक्षण एक अन्य प्रभारी माध्यम था।

उन्होंने आधुनिक शिक्षा के प्रवर्तन एवं प्रसार के लिए काम किया, जो देश में आधुनिक विचारों के प्रमुख साधन की भूमिका निभा सकती थी। इसके संवर्धन के लिए उन्होंने डेविड हेयर को प्रोत्साहन एवं समर्थन दिया, जिसने कलकत्ता के अनेक गणमान्य व्यक्तियों के साथ मिलकर प्रसिद्ध हिंदू कालेज की स्थापना 1817 में की। उन्होंने अपने ही खर्चे से कलकत्ता में एक अंग्रेजी स्कूल भी चलाया। 1825 में उन्होंने वेदांत कालेज की स्थापना की, जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही प्रकार के अध्ययनों की सुविधा थी।

राममोहन ने भारत में पाश्चात्य वैचारिक ज्ञान, गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन, शरीर क्रिया विज्ञान और अन्य उपयोगी विज्ञानों के शिक्षण की आवश्यकता पर बल दिया। पाश्चात्य बौद्धिक विकास के सन्निहित कारणों को वे समझते थे और चाहते थे कि भारत के लोग भी यूरोप की प्रगति के परिणामों से परिचित हों। उनका लक्ष्य था, पूर्व और पश्चिम की सर्वोत्तम विशेषताओं का समन्वय।

राममोहन ने अपने समय की सामाजिक एवं धार्मिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं को भी उठाया। उन्होंने सरकारी सेवाओं के भारतीयकरण, न्यायिक कार्रवाई, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र अलग करने और भारतवासियों तथा यूरोपवासियों के बीच न्यायिक समानता का पक्ष लिया। उन्होंने जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत उत्पीड़क कार्रवाइयों की तीखी आलोचना की।

राममोहन भारत में राष्ट्रवादी चेतना एवं विचारधारा के जनक थे। सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों को लक्षित उनका प्रत्येक प्रयास राष्ट्रनिर्माण को लक्षित था। अपने सुधार प्रस्तावों के माध्यम से वे विविध समुच्चयों में विभाजित भारतीय समाज की एकता स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने विशेष रूप से जाति-व्यवस्था की कठोरता पर प्रहार किया जो उनके विचार से भारतवासियों में फूट का कारण बनी थी। उन्होंने इस तथ्य पर जोर दिया कि अमानुषिक जाति-व्यवस्था ने एक और जनसमुदाय में असमानता एवं विभाजन को जन्म दिया है, दूसरी ओर उन्हें देशभक्ति की भावनाओं से वंचित किया है।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 106 24-03-2021 11:47:21

9.4.2 देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र

इस बीच सुधार प्रयासों को राममोहन से मिलने वाले उत्प्रेरण का संवेग बहुत कुछ खत्म हो गया था। रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर ने पुनः इसमें जीवन का संचार किया। समाज से स्वतंत्र रूप में राममोहन के आदर्शों को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने 1839 में तत्वबोधिनी सभा की स्थापना की। भारत में ईसाई धर्म की तेज प्रगति का प्रतिरोध और वेदांत का विकास उनका लक्ष्य था। **तत्वबोधिनी सभा** के अधीन स्थानीय भाषा एवं संस्कृति के विकास पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा। सभी विषयों से संबंधित पुस्तकें बंगला में प्रकाशित की गई। **तत्वबोधिनी प्रेस** की स्थापना के बाद 1843 में विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए संगठन के पत्र, तत्वबोधिनी पत्रिका की शुरुआत की गई। 1843 में देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज विचारों को अपनाया और उसी वर्ष उन्होंने **ब्रह्म समाज** का पुनर्गठन किया।

ब्रह्म समाज से जुड़े एक अन्य प्रमुख बौद्धिक व्यक्तित्व थे, केशवचन्द्र सेन। केशव ने नारी-मुक्ति प्रयासों पर बल दिया। देवेन्द्रनाथ द्वारा राष्ट्रीय हिंदू अस्मिता पर बल देने के विपरीत उन्होंने सार्वभौमिक विचारों को पुष्ट किया। अपने बीच सिद्धांतगत विभेदों के बावजूद ब्रह्म समाजियों ने राममोहन के विचारों के प्रचार तथा बंगाल के समाज को बदलने में सामूहिक योगदान किया। उन्होंने धार्मिक मामलों में मठाधीशों की मध्यस्थता की भर्त्सना की और एक ईश्वर की आराधना का पक्ष लिया। उन्होंने विधवा-विवाह, एक-विवाह और महिला शिक्षा का समर्थन किया।

9.4.3 विद्यासागर और विवेकानन्द

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पंडित ईश्वर चंद्र विद्यासागर सामाजिक परिदृश्य पर उभरे। प्रकांड संस्कृत विद्वान के रूप में वे 1851 में संस्कृत कालेज के प्राचार्य बने। उन्होंने संस्कृत कालेज में पाश्चात्य शिक्षा की शुरुआत की और गैर-ब्राह्मण विद्यार्थियों को भी प्रवेश दिया। उन्होंने बंगला भाषा की प्राथमिक पुस्तिका लिखी और बंगला की विशिष्ट आधुनिक गद्य शैली के विकास में योगदान किया। उनका महान योगदान महिला शिक्षा के क्षेत्र में ही था। विधवा-विवाह के विशिष्ट सामाजिक मसले को उन्होंने अपना समूचा जीवन समर्पित कर दिया। विधवाओं के पुनर्विवाह को वैध बनाने हेतु उनके आंदोलन को देश के विभिन्न भागों के प्रबुद्ध समुदायों का समर्थन मिला और अंततः एक तत्संबंधित कानून लागू किया गया। विद्यासागर के संरक्षण में उच्च जातियों के बीच पहला विधवा-विवाह 1856 में संपन्न किया गया। उनके प्रयासों द्वारा 1855 और 1860 के बीच 25 विधवा-विवाहों को विधिवत मान्यता मिली। मूलगामी सामाजिक सुधारों के इतिहास में निश्चय ही यह पहली प्रमुख उपलब्धि थी और राममोहन द्वारा प्रस्तावित तपस्वी विधवा जीवन की तुलना में एक प्रगतिशील कदम था। उन्होंने सामान्य उन्नति के उद्देश्य से महिलाओं की उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। 1849 में कलकत्ता में स्थापित **बेथुन स्कूल** के सचिव के रूप में उन्होंने महिला शिक्षा आंदोलन के नेतृत्व में केन्द्रीय भूमिका निभाई। उन्होंने बाल-विवाह तथा बहु विवाह के विरुद्ध भी प्रचार अभियान चलाया।

समूचे हिंदू समाज को आलोकित कर देने वाले नरेन्द्रनाथ दत्त, जो स्वामी विवेकानन्द के रूप में विख्यात हैं, उन्नीसवीं सदी बंगाल के महान चिंतकों की श्रृंखला में काल-क्रमानुसार अंत में आते हैं। उनके गुरु अथवा आध्यात्मिक अनुदेशक थे, रामकृष्ण परमहंस (1834-1886)। रामकृष्ण ने सार्वभौम धार्मिकता पर बल दिया और धर्म विशेष की श्रेष्ठता के दावों की निंदा की। फिर भी, उनका प्राथमिक सरोकार धार्मिक मोक्षलाभ ही रहा, न कि सामाजिक मुक्ति। उनके सुप्रसिद्ध शिष्य विवेकानंद (1863-1902) ने देश-विदेश में उनके संदेश को लोकप्रिय बनाया। विवेकानंद ने जाति-प्रथा और जनसमुदाय में व्याप्त रूढ़िवादी रीतियों व अंधविश्वासों की भर्त्सना की। 1896 में उन्होंने मानवतावादी व समाज सेवा कार्य चलाने के लिए **रामकृष्ण मिशन** की स्थापना की। मिशन का मुख्य लक्ष्य था, जनसमुदाय के लिए सामाजिक सुविधाएँ जुटाना। देश के विभिन्न भागों में स्कूल, अस्पताल, अनाथालय, पुस्तकालय इत्यादि चलाकर इसने अपने लक्ष्यों को पूरा करने का प्रयास किया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 107 24-03-2021 11:47:21

9.4.4 पश्चिमी भारत में सुधार

महाराष्ट्र में बौद्धिक विद्रोह की पहली गूंज उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में सुनी गई थी। आंदोलन की पहल तथा नेतृत्व करने वाले शुरुआत के बौद्धिकों में सर्वप्रमुख थे बाल शास्त्री जांबेकर (1812-1846), दादोबा पांडुरंग तारखडकर (1814-1882) और भास्कर पांडुरंग तारखडकर (1816-1847), ''लोकहितवादी'' नाम से सुपरिचित गोपाल हरि देशमुख (1823-1882), और आजीवन अविवाहित रहने वाले विष्णु बाबा ब्रहमचारी नाम से लोकप्रिय विष्णु भीखाजी गोखले (1825-1873)। जांबेकर महाराष्ट्र में बौद्धिक आंदोलन के प्रवर्तक थे। अठारहवीं सदी के चौथे दशक में अपनी अनेक रचनाओं के माध्यम से उन्होंने आंदोलन का आधार बनाया। दादोबा ने 1840 में परमहंस सभा की स्थापना करके इसको सांगठनिक स्वरूप दिया, जो उन्नीसवीं सदी महाराष्ट्र का पहला सामाजिक सुधार संगठन था। भास्कर पांडुरंग ने भारत में औपनिवेशिक शासन के जुझारू राष्ट्रवादी आलोचक के रूप में विशिष्टता प्राप्त की। भारत में अंग्रेजी राज्य के शोषक चरित्र को उजागर करने वाले पहले व्यक्ति वही थे। 1841 में उन्होंने बंबई प्रेसिडेंसी के सबसे पुराने पत्र **बंबई गजट** में आठ खंडों की एक लेखमाला प्रकाशित कराई और औपनिवेशिक प्रभुत्व के लगभग सभी पक्षों का पर्दाफाश किया।

''लोकहितवादी'' की मुख्य भूमिका आंदोलन के क्षेत्र को व्यापक बनाने की थी। 1848-50 में उन्होंने मराठी साप्ताहिक पत्र **प्रभाकर** में अपने प्रसिद्ध **शतपत्रेण** (सौ पत्र) लिखे। यह महाराष्ट्र में आरंभिक बौद्धिक प्रयासों में एक महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ। अपनी **समग्रता** में ये पत्र इतने आयामों को समेटते हैं कि सामाजिक जीवन का शायद ही कोई पहलू अछूता रहता हो।

ब्रह्मचारी जाति भेदभाव के **घोर** विरोधी थे और **मानवजाति** की एकता में आस्था रखते थे। स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने अपने लिए एक मुसलमान रसोइया नियुक्त किया था और किसी के भी द्वारा परोसा गया खाना खा लेते थे। इस प्रकार उन्होंने जाति-प्रथा की कट्टरता को खुलेआम चुनौती दी और **समता मूलक** समाज व्यवस्था के लिए सक्रिय रहे।

जबकि बंगाल में आंदोलन की धारा धार्मिक तथा दार्शनिक थी, महाराष्ट्र के संदर्भ में सुधार-प्रयासों के अंतर्गत मुख्यतः सामाजिक मसलों को ही प्रधानता हम देखते हैं। महाराष्ट्र में आरंभिक बौद्धिक आंदोलनकर्ता सूक्ष्म दार्शनिक प्रश्नों से सरोकार रखने वाले धार्मिक चिंतक प्रकृति के नहीं थे। उनका दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक था। उदाहरण के लिए, **परमहंस सभा** का मुख्य उद्देश्य सभी जातिगत भेदभावों के समाप्त करना था। **सभा** की सदस्यता लेने वाले प्रत्येक नए व्यक्ति को ''दीक्षा संस्कार'' की प्रक्रिया से गुजरना होता था और किसी भी प्रकार के जातिगत भेदभाव से दूर रहने का संकल्प करना पड़ता था। उसे एक ईसाई द्वारा सेंकी गई रोटी खानी पड़ती थी और मुसलमान के हाथ से पानी पीना पड़ता था। **सभा** का चरित्र एक **गुप्त सोसाइटी** का था। रूढ़िवादियों के रोष से बचने के लिए इसकी गोष्ठियाँ अत्यंत गोपनीय स्थिति में की जाती थीं। इस प्रकार जाति-प्रथा और अन्य सामाजिक कुरीतियों को चुनौती देने का प्रयास इस सभा के थोड़े से सदस्यों तक ही सीमित रहा।

9.4.5 उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

सुधार आंदोलन के सदी के उत्तरार्द्ध में ही अधिक बल मिल पाया। बौद्धिक परिदृश्य पर अनेक **मूर्धन्य** व्यक्तित्व उभरे। उनमें सबसे महत्वपूर्ण थे विष्णु परशुराम शास्त्री पंडित (1827-1876), ज्योतिबा फूले (1827-1890), रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (1837-1925), नारायण महादेव परमानंद (1838-1893), महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901), विष्णुशास्त्री चिपलंकुर (1850-1882), के. टी. तैलंग (1850-1893), गणेश वासुदेव जोशी (1851-1911), नारायण गणेश चंद्रावरकर (1855-1923) और गणेश आगरकर (1856-1895)।

विष्णु परशुराम शास्त्री पंडित ने अपने सार्वजनिक जीवन का आरंभ विधवा-विवाह के समर्थन से किया। महिला मुक्ति आंदोलन के क्षेत्र में उनकी अग्रणी भूमिका थी। 1865 में उन्होंने **विधवा-विवाह उत्तेजक मंडल** की स्थापना की और उसका सचिव पद संभाला।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 108 24-03-2021 11:47:21

एक विधवा से 1875 में विवाह करके स्वयं एक उदाहरण प्रस्तुत किया। माली जाति में पैदा हुए ज्योतिबा फूले स्वयं एक दलित समुदाय के प्रतिनिधि के रूप में उभरे। वे पहले भारतीय थे, जिसने अछूतों के लिए एक विद्यालय की स्थापना 1854 में की। उन्होंने भारतीय महिलाओं की मुक्ति के लक्ष्य को भी **मुखर** किया। 1851 में उन्होंने अपनी पत्नी के साथ पूना में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया।

अपनी गहन विद्वता से **भंडारकर** ने ''महर्षि'' की उपाधि प्राप्त की। रूढ़िवादियों के घनघोर विरोध के बावजूद उन्होंने 1891 में अपनी विधवा पुत्री का विवाह कराया। हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर गिने-चुने लोगों में से वे एक थे। **''पोलिटिकल रेक्ल्यूस''** (Political recluse) उपनाम से लिखने वाले परमानंद एक महान समाज-सुधारक होने के अलावा अंग्रेजी प्रशासन के रचनात्मक आलोचक थे।

उनके विचार से जातिगत भेदभाव भारतीय सामाजिक व्यवस्था का सबसे बड़ा कलंक था। उन्हें इस बात का पूरा बोध था कि धार्मिक सुधार-चेतना को अपनाए बिना सामाजिक-सुधार आंदोलन जनसमुदाय को प्रभावित नहीं कर सकता। उनके निर्देशों के अधीन 1867 में **परमहंस सभा** का पुनर्गठन **प्रार्थना समाज** के रूप में किया गया। अपने जीवन के अंत तक उन्होंने बौद्धिक सामर्थ्य एवं व्यवहार कुशलता के साथ आंदोलन का संचालन किया। **प्रार्थना सभा** ने एकेश्वरवाद की शिक्षा दी और धर्माध्यक्षों के प्रभुत्व तथा जातिगत भेदभाव की निंदा की। तेलुगू समाज सुधारक वीरेशलिंगम के प्रयासों के माध्यम से इस समाज के क्रियाकलापों का प्रसार दक्षिण भारत तक हुआ।

चिपलुंकर ने समाज सुधार को समर्पित मासिक मराठी पत्रिका **निबंधमाला** की शुरुआत 1874 में की। 32 वर्ष की अल्पायु में ही उनका देहावसान हो गया। बंबई में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की शुरुआत करने में तेलंग की केंद्रीय भूमिका थी। उपकुलपति पद प्राप्त करने वाले वे प्रथम भारतीय थे। जोशी ने अपनी मुख्य पहचान राजनीति के क्षेत्र में बनाई। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति की बुद्धिमत्तापूर्ण समीक्षा सामने रखी। फिर भी, वे उन बौद्धिकों के साथ एकमत थे, जो शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन मानते थे। मूलतः एक दार्शनिक प्रवृत्ति वाले **चंदावरकर** प्रार्थना समाज के अग्रणी कार्यकर्ता थे। **अगरकर** औधड़, रूढ़िभंजक प्रकृति के और समझौता विहीन तर्कवादी थे। परंपरा के अंधानुसरण और भारत के अतीत के मिथ्या महिमा मंडल की उन्होंने अत्यंत तीक्ष्ण भर्त्सना की।

बंबई के अन्य सुधार आंदोलनकर्ता थे नौराजी फुर्दोजी, दादाजी नौरोजी और एस. एस. बंगाली। 1851 में उन्होंने **रहनुमाई मज़दायसन सभा** नाम के धार्मिक संगठन की स्थापना की। इसका उद्देश्य था, पारसी आस्थाओं तथा सामाजिक प्रथाओं का आधुनिकीकरण। महिलाओं की शिक्षा की शुरुआत एवं प्रचार-प्रसार करने, उनकों वैधानिक अधिकार दिलवाने और समूचे पारसी समुदाय में उत्तराधिकार व विवाह के लिए एक जैसे कानून बनवाने के लिए इस सभा ने संघर्ष चलाए।

9.4.6 आर्य समाज

उत्तरी भारत में सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आंदोलन के संचालक थे, स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-1883), जिन्होंने 1875 में **आर्य समाज** की स्थापना की। स्वामी दयानंद ने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, ब्राह्मणों द्वारा पोषित धार्मिक कर्मकांडों और अंधविश्वासों पर प्रहार किया। उन्होंने अंतर्जातीय विवाह और महिला-शिक्षा का पक्ष लिया। लेकिन वेदग्रंथों की ओर उनके झुकाव ने उनकी शिक्षाओं को एक रूढ़िवादी प्रकृति प्रदान की। आर्य समाजियों ने उत्तरी भारत में सामाजिक सुधार लक्ष्यों को बढ़ाने में प्रगतिशील भूमिका निभाई। उन्होंने महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए कार्य किया, सामाजिक समानता का समर्थन किया और अस्पृश्यता एवं जातिभेद की भर्त्सना की। यद्यपि वे वेदग्रंथों को अपरिहार्य मानते थे, उनके द्वारा समर्थित सुधार आधुनिक विवेकसम्मत चिंतन की उपज थे।

9.4.7 सैय्यद अहमद खान

भारतीय मुसलमानों में सुधार आंदोलन अपेक्षाकृत देर से, अठारहवीं सदी के सातवें दशक में ही उभरे। सैय्यद अहमद खान (1817-1898) ने पतनशील मध्ययुगीन विचारों को छोड़ने

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 109 24-03-2021 11:47:21

के लिए, तथा आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान तथा दृष्टिकोण अपनाने के लिए मुसलमानों से अपील की। उन्होंने बहु-विवाह प्रथा की निंदा की और महिलाओं में पर्दा-प्रथा खत्म करने व शिक्षा के प्रसार का समर्थन किया। सहिष्णुता की शिक्षा देते हुए उन्होंने विवेकसम्मत विचार एवं स्वतंत्र चिंतन के विकास का आह्वान किया। आधुनिक शिक्षा का संवर्धन उनका प्रमुख सरोकर था और इसके लिए उन्होंने आजीवन कार्य किया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होंने 1875 में अलीगढ़ के मुहम्मद आंग्लो-ओरियंटल कालेज की स्थापना की। इस कालेज के बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का रूप लिया।

वे कुरान को मुसलमानों के लिए सर्वाधिक विश्वसनीय और विवेक सम्मत धार्मिक ग्रंथ मानते थे। सभी धर्मों के प्रति आदर भाव रखते हुए उन्होंने धर्मोन्माद के विरुद्ध आवाज उठाई। उनके कुछ अनुगामियों ने उभर रहे राष्ट्रीय आंदोलन से अपने को अलग बनाए रखा, यह विश्वास करते हुए कि दोनों समुदाय अपने-अपने अलग रास्तों से विकास कर सकते हैं।

9.4.8 विरेशलिंगम और दक्षिणी भारत में सुधार

दक्षिण भारत में आरंभ के दौर में समाज सुधार आंदोलन के एक प्रमुख व्यक्तित्व थे, कंडुकरि विरेशलिंगम (1848-1919)। कलकत्ता तथा बंबई सुधार आंदोलन में सक्रिय अनेक समकालीन व्यक्तियों से भिन्न विरेशलिंगम एक निर्धन परिवार में जन्में थे। अपने जीवन के अधिकांश समय में उन्होंने स्कूल-शिक्षक पद पर काम किया। निर्बाध लेखन सामर्थ्य से संपन्न उन्होंने तेलुगू भाषा में अनेकानेक प्रबंधों एवं प्रपत्रों की रचना की। इसीलिए उन्हें आधुनिक तेलुगु गद्यसाहित्य का जनक कहा जाता है। विधवा-पुनर्विवाह, नारी शिक्षा, महिला-मुक्ति और सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन जैसे विषयों के प्रति उनके उत्साह ने उन्हें आंध्र के समाज सुधारकों के आगामी पीढ़ी के लिए पितातुल्य बना दिया।

9.5 सुधार आंदोलनों का महत्व

आधुनिक भारत के क्रमिक विकास में उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार-आंदोलनों ने अति महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने समाज को जनतांत्रिक बनाने, घृणित रिवाजों और अंधविश्वासों को दूर करने, ज्ञान के प्रसार और एक विवेकपूर्ण तथा आधुनिक दृष्टिकोण के विकास का समर्थन किया है। मुसलमानों के बीच अलीगढ़ व अहमदिया आंदोलनों ने इन विचारों की मशाल अपने हाथों में थामे रखी। मिर्जा गुलाम अहमद से प्रोत्साहन पाकर अहमदिया आंदोलन ने 1890 में एक निश्चित स्वरूप धारण कर लिया और ''जिहाद'' का विरोध तथा लोगों के बीच भाईचारे व स्वतंत्र पश्चिमी शिक्षा की वकालत की। बहु-विवाह का विरोध कर तथा विधवा-विवाह का समर्थन कर अलीगढ़ आंदोलन ने मुसलमान समाज में एक नया लोकाचार पैदा करने की कोशिश की। इसने कुरान की स्वतंत्र व्याख्या करने तथा पश्चिमी शिक्षा के प्रचार का समर्थन किया।

हिंदू समाज के बीच हुए सुधार-आंदोलनों ने अनेक सामाजिक व धार्मिक कुरीतियों पर प्रहार किया। इन आंदोलनों ने बहु-देववाद और मूर्तिपूजा (जो व्यक्ति के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं), दैव-शक्तिवाद तथा धार्मिक प्रधानों की तानाशाही (जो अधिनायकवाद जैसी प्रकृति को दबाती है) की आलोचना की। जाति-प्रथा का विरोध न केवल आदर्श या नैतिकता के आधार पर हुआ, बल्कि इसलिए भी हुआ कि यह समाज में फूट डालने जैसी प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। ब्रह्म समाज के आरंभिक आंदोलनों में जाति-प्रथा का विरोध केवल सैद्वांतिक आधार पर एक निश्चित स्तर तक ही सीमित होकर रह गया, इसके विपरीत आर्य समाज, प्रार्थना समाज तथा रामकृष्ण मिशन जैसे धार्मिक आंदोलनों ने जाति-प्रथा से समझौता नहीं करके उसकी आलोचना की। ज्योतिबा फूले तथा नारायण गुरु द्वारा शुरू किए गए आंदोलनों से ही पता चलता है कि उन्होंने स्पष्ट रूप से जाति-प्रथा के उन्मूलन की वकालत की थी, नारायण गुरु का नारा थाः

''मानवता के लिए केवल एक भगवान और एक जाति''।

स्त्रियों की दशा में सुधार की इच्छा का आधार केवल विशुद्ध मानवीय इच्छा न होकर समाज में विकास लाने की खोज का ही एक रूप था। केशवचंद्र सेन ने अपना मत रखा

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 110 24-03-2021 11:47:21

कि: ''पृथ्वी पर उस किसी भी देश ने सभ्यता की दौड़ में कभी अपेक्षित विकास नहीं किया, जहाँ की स्त्री-जाति का जीवन अंधकारमय हो।''

9.6 कमजोरियाँ एवं सीमाएँ

हालांकि उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार-आंदोलनों का उद्देश्य भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के सामाजिक, शैक्षिक व नैतिक स्तर को ऊपर उठाने का था, किंतु यह उद्देश्य कई कमजोरियों व सीमाओं से बाधित हुआ। इन सुधार-आंदोलनों में एक शहरी प्रवृत्ति भी थी, केवल आर्य समाज को छोड़कर, जिसका प्रभाव पिछड़ी जातियों के आंदोलनों पर व्यापक रूप से था। दूसरे सुधार-आंदोलनों का क्षेत्र उच्च जाति व वर्ग तक ही सीमित था। उदाहरण के लिए, बंगाल का ब्रह्म समाज ''भद्रलोक'' की समस्याओं से संबंधित था तो अलीगढ़ आंदोलन ऊँचे वर्ग के मुसलमानों की समस्याओं से। आम जनता साधारणतः इनसे अप्रभावित ही रही। सुधारकों की एक दूसरी सीमा ब्रिटिश राज्य व भारत के प्रति उनके दृष्टिकोण के प्रत्यक्ष बोध में थी। वे भ्रांतिपूर्ण ढंग से यह सोचते रहे कि ब्रिटिश शासन तो भगवान द्वारा नियोजित है और वे ही भारत को आधुनिकीकरण के मार्ग पर ले जाएंगे। चूंकि उनकी भारतीय समाज के आदर्श स्वरूप की संकल्पना उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन का प्रतिरूप थी, इसीलिए उन्हें लगा कि भारत को ब्रिटेन जैसा बनाने के लिए ब्रिटिश शासन जरूरी है। इन सुधारकों ने हालांकि भारतीय समाज के सामाजिक, धार्मिक स्वरूप को अच्छी तरह से समझ लिया था, किंतु इसके राजनैतिक स्वरूप को पहचानने में चूक गए जो कि अंग्रेजों द्वारा शोषण पर आधारित था।

बोध प्रश्न-2

1) भारत में धर्म और महिलाओं की स्थिति पर राममोहन राय के विचारों के बारे में विस्तार से बताइए।

.....

.....

.....

2) उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी भारत में सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों के प्रमुख रुझानों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

9.7 सारांश

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार-आंदोलनों ने द्विस्तरीय कार्य का बीड़ा उठाया। भारतीय समाज की आलोचना हुई। जाति-प्रथा, सती-प्रथा, विधवा-प्रथा, बाल-विवाह आदि संस्थाओं का कड़ा विरोध हुआ। अंधविश्वासों और धार्मिक रूढ़िवाद की निंदा हुई। इसके साथ ही भारतीय समाज के आधुनिकीकरण करने का प्रयास हुआ। तर्क, बुद्धि तथा सहिष्णुता के लिए जनमानस से आग्रह किया गया। सुधार-आंदोलनों की गतिविधियों का कार्यक्षेत्र केवल किसी एक धर्म तक ही सीमित न होकर पूरे समाज तक था। हालांकि उद्देश्य प्राप्ति में उन्होंने विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया और उनके बीच समय का अंतराल भी रहा, किंतु तात्कालिक परिप्रेक्ष्य और उद्देश्य में ध्यान देने योग्य एकता का परिचय उन्होंने दिया।

उन्नीसवीं सदी के सामाजिक पुनर्रचना के प्रयासों के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक बुराइयों का सम्यक बोध एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु था। महिलाओं की स्थिति, बाल विवाह, सती-प्रथा, बहु-विवाह, विधवापन की बाध्यता, जाति-प्रथा, अस्पृश्यता, मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद, कर्मकांड, धर्माध्यक्षों का प्रभुत्व तथा समाज में व्याप्त अंधविश्वास इत्यादि पर न्यूनाधिक मात्रा में तीक्ष्ण बौद्धिक प्रहार किए गए।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 111 24-03-2021 11:47:21

वर्तमान बुराइयों के बोध के प्रयास से जुड़ा हुआ था समाज व्यवस्था के पुनर्जीवन का प्रयास। महिलाओं की स्थिति में सुधार, बाल-विवाह का उन्मूलन, एक-विवाह, विधवा-विवाह, जातिगत भेदभाव की समाप्ति, एकेश्वरवाद, आध्यात्मिक साधना, सामाजिक मतांधता एवं अंधविश्वासों का अंत सुधारकों के सामान्य उद्देश्य थे, यद्यपि उपरोक्त प्रत्येक व्यक्ति ने इनमें से प्रत्येक लक्ष्य को प्रोत्साहित नहीं किया। सन्निहित सरोकार था एक सुधरी हुई सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के आधार पर भारतीय समाज की सर्वांगीण प्रगति।

9.8 शब्दावली

पुनर्जागरण : भूत को पुनर्जीवित करने की चेष्टा।

सती-प्रथा : विधवा को उसके मृत पति के साथ चिता पर जलाने की प्रथा।

बहु-देववाद : बहुत से देवी-देवताओं की पूजा में आस्था।

विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाने का विधयेक : लड़कियों की शादी की उम्र 12 साल तक बढ़ाने के लिए पारित किया गया एक विधेयक।

एकेश्वरवाद : एक ही ईश्वर की अराधना।

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) (क) × (ख) ✓ (ग) ✓ (घ) ✓

2) भाग 9.3 देखें।

बोध प्रश्न-2

1) उपभाग 9.4.1 देखें।

2) उपभाग 9.4.4 और 9.4.5 देखें।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 112 24-03-2021 11:47:21

इकाई 10 राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 मध्यम वर्ग की चेतना का उदय

10.3 राष्ट्रवाद की प्रारंभिक साहित्यिक और संगठनात्मक अभिव्यक्ति

10.4 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

10.5 कांग्रेस की संरचना और भागीदारी

10.6 कांग्रेस की उत्पत्ति से संबंधित विवाद

10.6.1 सरकारी षड़यंत्र सिद्धांत

10.6.2 भारतीय विशिष्ट वर्ग की प्रतिद्वन्द्विता और महत्वकांक्षाएँ

10.6.3 अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता

10.7 प्रारंभिक कांग्रेस की कार्य प्रणाली

10.8 नरम दल (उदारवादी) : माँगें और कार्यक्रम

10.9 गरम दल (उग्रदल) का सैद्धांतिक आधार

10.10 गरम दल की कार्रवाई

10.11 विभाजन (बंगाल), बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा

10.12 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का उदय

10.13 सारांश

10.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप सक्षम होंगे :

- राष्ट्रीय चेतना के विकास में सहायक मुख्य कारकों की सूची बनाने में,
- भारतीय मध्यम वर्ग की औपनिवेशिक शासन की चुनौती पर मध्यम वर्ग की प्रतिक्रिया को समझने में,
- राष्ट्रीय चेतना ने कैसे संगठित रूप ले लिया, इसका आकलन करने में,
- कांग्रेस के संगठन में शिक्षित भारतीयों द्वारा निभाई गई भूमिका को विशेष रूप से समझने में,
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उत्पत्ति और प्रारंभिक कांग्रेस के चरित्र के इर्द-गिर्द विवादों का वर्णन करने में, और
- बंगाल विभाजन के बाद स्वदेशी आंदोलन के उदय और क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उदय के बारे में जानने में।

10.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय चेतना का उद्भव वस्तुतः अंग्रेजी शासन का परिणाम था। अंग्रेजी शासन ने जो परिवर्तन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में किए थे उसके परिणामस्वरूप, भारतीय जनता के सभी वर्गों का ही शोषण हुआ था जिससे जनता के

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 113 24-03-2021 11:47:21

बीच अंसतोष की भावना ने एक व्यापक रूप लिया। दूसरी तरफ अंग्रेजों ने डाक और तार व्यवस्था, रेल, छापेखाने, एकरूप प्रशासन आदि का विकास किया। यद्यपि इनका विकास एक सुचारू प्रशासन चलाने की दृष्टि से किया गया था तथापि इन सभी ने राष्ट्रीय चेतना के उद्‌भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यहाँ हम राष्ट्रीय आंदोलन की प्रारंभिक चरण में संगठनात्मक रूप और रुझानों की चर्चा करेंगे।

10.2 मध्यम वर्ग की चेतना का उदय

उन्नीसवीं शताब्दी में जन आधारित लोकप्रिय आंदोलनों और विद्रोहों के अतिरिक्त शिक्षित भारतीय मध्यम वर्ग में एक नवीन चेतना का विकास हो रहा था। मध्यम वर्ग में जागृत इस चेतना ने ही लोकप्रिय असंतोष को एक निश्चित दिशा प्रदान की और राष्ट्रीय चेतना के विकास में एक महत्वपूर्ण कारक बना। शिक्षित मध्यम वर्ग ने भारतीय समाज पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली और इस जागरूक वर्ग ने उसमें सुधार करने के लिए अत्यधिक प्रयास किया। यद्यपि ये सुधार आंदोलन मुख्यतः समाज के मध्यम वर्गों तक सीमित थे परन्तु इस संबंध में भारतीय जनता के मध्य राष्ट्रीय स्तर पर एक सामाजिक चेतना जागृत करने में उन्होंने अत्यधिक ध्यान दिया और जनता में एक समान संस्कृति से जुड़े होने की भावना को प्रबल किया। सामाजिक चेतना के साथ-साथ राजनीतिक चेतना का भी विकास हो रहा था जैसे कि पहले जिक्र किया जा चुका है, भारतीय शिक्षित वर्ग भी, जिसमें कि व्यापारी, वकील, अध्यापक, पत्रकार, डॉक्टर आदि थे, अंग्रेजी शासन के अंतर्गत कष्टों का सामना कर रहा था। किसानों और कामगारों की तुलना में यह वर्ग साम्राज्यवाद के उद्‌देश्यों और औपनिवेशिक शासन के स्वरूप को अधिक स्पष्टता से समझकर उनका विश्लेषण कर सकता था। प्रारंभ में इस वर्ग की यह धारणा थी कि संचार साधनों का विकास और रेल लाइन आदि भारतीयों के लाभदायक साबित होंगे। इस धारणा के कारण ही उन्होंने अंग्रेजी नीतियों का समर्थन किया था। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें यह स्पष्ट होने लगा कि अंग्रेजों ने जो प्रशासनिक तरीके अपनाए थे, वे वास्तव में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए अपनाए थे और उनकी आर्थिक नीतियाँ भी केवल अंग्रेजी व्यापारियों और पूँजीपतियों के हित के लिए ही थी, जैसे ही भारतीय मध्यम वर्ग को अंग्रेजी शासन के इस तथ्य की अनुभूति हुई उसने औपनिवेशिक शासन का विरोध प्रारंभ कर दिया, परन्तु किसानों, कामगारों और जन-जातियों ने जो विद्रोह का रास्ता अपनाया था उसे मध्यम वर्ग ने नहीं अपनाया। मध्यम वर्ग ने दो नवीन तरीके अपनाएः

1) इस वर्ग ने अंग्रेजी नीतियों की आलोचना करते हुए किताबें लिखीं, लेख लिखे और समाचार-पत्रों के माध्यम से जनजागरण का प्रयास किया।

2) इस वर्ग द्वारा अपनाया गया दूसरा तरीका विभिन्न संगठनों और समितियों की स्थापना थी, जिनके द्वारा संयुक्त कार्यक्रम बनाया जा सके।

10.3 राष्ट्रवाद की प्रारंभिक साहित्यिक और संगठनात्मक अभिव्यक्ति

आइए हम पहले साहित्यिक क्षेत्र में किए गए मध्यम वर्ग के कार्यों की विवेचना करें। यह चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं कि किस प्रकार छापाखाना के आने से विचारों के आदान-प्रदान को सहयोग मिला था। राजा राममोहन राय ने इस क्षेत्र में भी अग्रदूत का कार्य किया। उन्होंने बंगला भाषा में एक पत्रिका **संबाद कौमुदी** प्रकाशित करनी प्रारंभ की जिसमें कि विभिन्न विषयों पर लेख लिखे जाते थे। दीन बंधु मित्र ने **बंगला भाषा में नील दर्पण** नामक नाटक लिखा। जिसमें कि नील की खेती करने वाले किसानों के कष्टों का जिक्र था। बंकिम चंद्र ने **आनंद मठ** लिखा, जो राष्ट्रीय भावना से प्रेरित था। इसी प्रकार उर्दू की शायरी और लेखन में भी भारतीय जनता की गिरती हुई दशा का जिक्र हुआ और इस बात को भी उठाया गया कि किस प्रकार से परंपरागत भारतीय नगरों का पतन हो रहा था। मराठी, हिंदी और तमिल में भी इन्हीं विषयों पर लेख प्रकाशित हुए। अंग्रेजी के अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं में भी समाचारटपत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। उस समय के कुछ प्रमुख समाचार-पत्र जिन्होंने कि राष्ट्रीय चेतना में योगदान दिया, निम्नलिखित थेः

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 114 24-03-2021 11:47:21

- बंगाल में हिन्दू पैट्रीएट, **अमृत बाजार पत्रिका, बंगाली** और **संजीवनी**
- बंबई में **मराठा, केसरी** और **नेटिव ओपीनियन**
- मद्रास में **हिंदू, आंध्र पत्रिका** और **केरल पत्रिका**
- संयुक्त प्रांत में **हिन्दुस्तान** और **आजाद**
- पंजाब में **ट्रिब्यून** और **अखबार-ऐ-आम** आदि

1877 तक देशी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों की संख्या 169 हो गई थी इसके साथ-साथ कई महान साहित्यकार भी उभरकर सामने आए जिनकी कलम ने राष्ट्रीय चेतना को एक नवीन रूप दिया। इन साहित्यकारों में बंकिम चन्द्र चटर्जी, रविन्द्र नाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्यम भारती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अलताफ हुसैन हॉली और विष्णु शास्त्री चिपलुंकर आदि प्रमुख थे।

मध्यम वर्ग द्वारा अपनाया गया दूसरा रास्ता विभिन्न संगठनों और समितियों की स्थापना थी, इनमें से कुछ प्रमुख प्रारंभिक संगठन थेः

बंगाल में : लैंड होल्डर सोसायटी (1838)
बंगाल इंडिया सोसायटी (1843)
ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन (1851)

महाराष्ट्र में : बौम्बे ऐसोसिएशन (1852)
डेकेन ऐसोसिएशन (1852) आदि

मद्रास में : मद्रास नेटिव ऐसोसिएशन

इन संगठनों का प्रमुख उद्देश्य ऐसी अंग्रेजी नीतियों का संयुक्त रूप से विरोध करना था जो कि उनके स्वार्थों पर आघात करती थी परन्तु विरोध का तरीका पूर्णतः सवैंधानिक था, जैसे कि कचहरी में अर्जी देना, सरकार को अर्जी देना या अंग्रेजी संसद से अपील करना। वे चाहते थे कि 1853 के कंपनी चार्टर के अतंर्गत व्यापक सुधार लागू किया जाए परन्तु यह चार्टर उनकी माँगों को संतुष्ट करने में असफल रहा।

1858 में भारतीय प्रशासन का उत्तरदायित्व अंग्रेजी राज ने सीधे अपने हाथ में ले लिया जिससे भारत के मध्यम वर्ग में नयी आशा जागृत हुई। उन्होंने यह सोचा कि अंग्रेज भारत का आर्थिक शोषण बन्द करके भारतीयों के कल्याण हेतु कार्य करेंगे परन्तु शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि भारतीयों का शोषण तो जब भी बरकरार है। अतः मध्यम वर्ग की राजनीतिक गतिविधि तीव्र हो उठी और नए संगठनों की स्थापना की गई। भारतीयों ने इंगलैंड में लंदन इंडिया एसोसिएशन की स्थापना की और 1866 में उसे ईस्ट इंडिया एसोसिएशन में मिला दिया गया। 1870 में महाराष्ट्र में पूना सार्वजनिक सभा का गठन किया गया, बंगाल में इंडियन एसोसिएशन (1876) और इंडियन नेशनल कांफ्रेस (1883) का गठन भी किया गया और मद्रास महाजन सभा का गठन किया गया।

यदि हम मध्यम वर्ग द्वारा निर्मित प्रारंभिक संगठनों से इन संगठनों की तुलना करें तो यह संगठन निसंदेह राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित थे। इनका मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी नीतियों के विरुद्ध प्रस्तावों और अपीलों के द्वारा विरोध करना था। जन-जागृति उत्पन्न करने के लिए इन्होंने सार्वजनिक सभाओं का रास्ता अपनाया। इन सभाओं में राष्ट्रीय मुद्दों पर भी बहस होती थी और विचारों का आदान-प्रदान किया जाता था। वास्तव में इन संगठनों ने ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885) की भूमिका तैयार की थी।

इसी समय अंग्रेजी सरकार ने कुछ दमनकारी कानून भी पारित किए, जैसे कि वर्नाकुलर प्रेस एक्ट और भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के लिए आयु का कम किया जाना। इस प्रकार के कानून वाइसराय लार्ड लिटन के काल में (1876-80) बनाए गए थे। भारतीयों पर इस प्रकार के दमनकारी कानूनों की तीव्र प्रक्रिया हुई थी।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 115 24-03-2021 11:47:21

10.4 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहली बैठक के आयोजन का श्रेय ए. ओ. ह्यूम को जाता है। वे एक सेवानिवृत्त सरकारी अधिकारी थे, जिन्होंने सेवानिवृत्ति के बाद भारत में ही रहने का फैसला किया था। उनका लार्ड रिपन से बहुत ही अच्छा संबंध था और वह उनके इन विचारों से सहमत थे कि शिक्षित भारतीयों के उदय को राजनीतिक सच के रूप के स्वीकार करना चाहिए और समयानुसार ऐसा कदम उठाना चाहिए जिससे कि इस वर्ग की माँगों के लिए एक न्यायसंगत निकास की व्यवस्था हो और इस बात का भी प्रयास होना चाहिए कि उनकी महत्वाकांक्षाएँ पूरी हो सकें। उन्होंने कठिन परिश्रम करके अपने सारे संपर्कों को संघटित किया। दिसंबर 1884 के शुरू में वे रिपन को विदा करने बंबई पहुँचे। वे वहाँ करीब तीन महीने ठहरे और इस अवधि में उन्होंने प्रेसीडेंसी के प्रभावशाली नेताओं से शिक्षित भारतीयों के द्वारा उठाए जाने वाले राजनीतिक कार्यक्रमों के बारे में विचार-विमर्श किया। मार्च 1885 में यह तय किया गया कि इंडियन नेशनल यूनियन (शुरू में यही नाम अपनाया गया) का एक सम्मेलन क्रिसमस सप्ताह के दौरान पूना में आयोजित किया जाएगा। शुरू में ह्यूम और उनके सहयोगियों ने कलकत्ता में सम्मेलन बुलाने पर विचार किया। लेकिन बाद में उन लोगों ने पूना में ही आयोजन करने का निश्चय किया क्योंकि यह जगह देश के केन्द्र में थी और पूना सार्वजनिक सभा की कार्यपालिका समिति ने सम्मेलन की सारी व्यवस्था और आवश्यक कोष के इंतजाम करने की जिम्मेदारी ले ली थी।

हालांकि दुर्भाग्य ने पूना को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले अधिवेशन के आतिथ्य के अवसर से वंचित कर दिया। पूना में हैजा फैल जाने से स्थान को बंबई ले जाया गया। पहली सभा का आयोजन सोमवार, 28 दिसंबर 1885 को गोकलदास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय, बंबई में किया गया। इसमें करीब 100 लोगों ने भाग लिया जिसमें से 72 लोगों को सदस्यों की मान्यता दी गयी। कांग्रेस अध्यक्ष बनने का पहला गौरव बंगाल के डब्लू. सी. बनर्जी को मिला।

पहले कांग्रेस अध्यक्ष का अध्यक्षीय भाषण कांग्रेस के चरित्र, उद्देश्यों और कार्यक्षेत्र की ओर स्पष्टतः केंद्रित था। अध्यक्षीय भाषण ने कांग्रेस के प्रति पैदा होने वाली गलत धारणाओं को भी दूर करने की कोशिश की।

अध्यक्ष ने कांग्रेस के उद्देश्यों को साफतौर पर परिभाषित किया। उन्होंने उद्देश्यों का निम्नलिखित ढंग से उल्लेख कियाः

- देश के लोगों के बीच मित्रता तथा आपसी मेल-मिलाप को बढ़ावा देना।
- नस्ल, धर्ममत और प्रांतों के आधार पर पैदा हुए सभी विद्वेषों को दूर करना।
- राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को संघटित करना।
- शिक्षित वर्गों द्वारा तत्कालिक मुद्दों पर व्यक्त मतों को दर्ज करना; और
- जनहित में उठाए जाने वाले कदमों का निर्धारण करना।

10.5 कांग्रेस की संरचना और भागीदारी

अक्सर इस बात का जिक्र किया जाता है कि कांग्रेस में वकीलों का बोलबाला था। उदाहरण के लिए, इतिहासकार अनिल सील का मानना है कि कांग्रेस के पहले अधिवेशन में आधे से ज्यादा (72 में 39) लोग वकील थे और आने वाले दशकों में भी एक तिहाई से ज्यादा प्रतिनिधि वकालत के पेशे से ही थे। पुराने रईस वर्ग के लोग जैसे– राजाओं, महाराजाओं, बड़े जमीदारों और धनी व्यापारियों की अनुपस्थिति सुस्पष्ट थी। कृषक और मजदूर भी उसकी ओर आकर्षित नहीं हुए। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि वकीलों का प्रभुत्व था। लेकिन यह लगभग सभी राजनैतिक संगठनों और विधायिकाओं के बारे में कहा जा सकता है। भारत में शिक्षित भारतीयों के सामने भविष्य निर्माण के बहुत कम अवसर उपलब्ध होने के कारण ज्यादातर लोगों ने कानूनी पेशे को ही अपना लिया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 116 24-03-2021 11:47:21

पुराने कुलीन वर्ग कांग्रेस की सभा में भाग नहीं लेते थे क्योंकि उनमें नए उदार और राष्ट्रीय विचारों के कारण असुरक्षा की भावना पैदा हो गई थी। हालांकि भारत के गरीबों की चर्चा काफी समय से कई नेताओं खासकर दादाभाई नौरोजी द्वारा की गयी थी परंतु आम जनता को आंदोलन के इस दौर में शामिल करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। जब कांग्रेस ने लोगों के हालात पर चर्चा शुरू की तब यह निश्चय किया गया कि पहला कदम प्रतिनिधि संस्थाओं के अधिकार के तरफ उठाना चाहिए। कांग्रेस द्वारा अपनाए तरीकों जैसे निवेदन-पत्र देना, अपील करना तथा लेख चर्चा को देखा जाए तो ऐसा स्वाभाविक ही था।

10.6 कांग्रेस की उत्पत्ति से संबंधित विवाद

चूंकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारत के इतिहास में अहम भूमिका निभायी है इसलिए यह स्वाभाविक था कि तत्कालीन और बाद के इतिहासकार इसकी स्थापना के कारण पर अपने-अपने विचार व्यक्त करें। सच तो यह है कि कांग्रेस की स्थापना के समय से ही इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। कई विद्वानों ने इस बात का पता लगाने की कोशिश की है कि यह किसी एक व्यक्ति अथवा कई लोगों अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों का प्रतिफल था जिसे इस घटना के पीछे प्रमुख तत्कालिक कारक माना जा सकता है। लेकिन सारे प्राप्त प्रमाण परस्पर विरोधी हैं। कांग्रेस की शुरुआत के 100 वर्ष बाद भी इतिहासकारों के बीच इस मुद्दे पर चर्चा जारी है। हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की व्याख्या निम्नलिखित वैकल्पिक सिद्धांतों द्वारा की जा सकती है।

10.6.1 सरकारी षड्यंत्र सिद्धांत

अगर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किसी भारतीय द्वारा की गयी होती तो इसे एक स्वाभाविक तथा तार्किक रूप में स्वीकार कर लिया गया होता। परंतु, सच तो यह है कि अखिल भारतीय राजनैतिक संगठन की योजना को मूर्त और सुनिश्चित आकार एक अंग्रेज ए. ओ. ह्यूम नाम के व्यक्ति ने दिया जिसने कई विवादों को जन्म दिया है। ऐसा क्यों हुआ कि कांग्रेस की शुरुआत एक अंग्रेज द्वारा हुई? इसके अलावा, ह्यूम मात्र एक अंग्रेज ही नहीं बल्कि भारतीय सिविल सेवा में एक प्रशासनिक अधिकारी भी था। यह कहा जाता है कि नौकरी के उपरांत उसे कई ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों के बारे में पता चला जिनसे यह प्रमाणित होता था कि आम जनता के दुःखों और बुद्धिजीवी वर्ग के अलगाव ने काफी हद तक आक्रोश एकत्रित कर दिया था जो कि ब्रिटिश शासन के लिए खतरा पैदा कर सकता था। 1857 के महान् विद्रोह की यादें भी ताजा थीं। इसके अलावा, ह्यूम ने खुद ही कहा था कि उसका उद्देश्य भारतीय आक्रोश को रोकने के लिए एक सुरक्षा कपाट (सेफ्टी वाल्व) का प्रबंध करना था जिससे अंग्रेजों के विरुद्ध किसी बड़े विद्रोह को रोका जा सके। बनर्जी के इस वक्तव्य ने कि ह्यूम डफरिन की सीधी सलाह से काम कर रहे थे, इस आरोप को और भी मजबूती प्रदान की। इन दो तथ्यों को एक साथ अध्ययन करने से यह तथ्य पैदा हुआ कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म एक सुनियोजित ब्रिटिश षड्यंत्र से हुआ, जिसका उद्देश्य था कि शिक्षित भारतीयों के बीच पैदा हुए अंसतोष को शांतिपूर्ण और संवैधानिक तरीके से निकास मिल सकें और इस तरह राज के खतरे को टाला जा सके।

लेकिन इतिहासकार विश्वास करते हैं कि सरकारी निर्णयों में ह्यूम के प्रभाव को काफी बढ़ा-चढ़ाकर रखा गया है। गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन को लिखे गुप्त पत्रों से जो अब उपलब्ध हैं यह प्रकट होता है कि ब्रिटिश पदाधिकारियों के द्वारा ह्यूम के विचारों को बहुत गंभीरता से नहीं लिया जाता था। इसके अतिरिक्त ह्यूम का उद्देश्य शिक्षित भारतीयों के असंतोष के निकाय के लिए ''सुरक्षा कपाट'' (सेफ्टी वाल्व) बनाने मात्र से कहीं अधिक तथा वास्तविक और निष्कपट था। उन्हें भारतीयों के प्रति एक मानवीय सहानुभूति भी थी और वह कई वर्षों तक कांग्रेस को एक मजबूत और सक्रिय संगठन बनाने के अथक प्रयास में लगे रहे। 1885 से 1906 तक वह कांग्रेस के महासचिव रहे और इसकी गतिविधियों के दिशा-निर्देशन, निश्चित आकार, सामंजस्यता तथा अभिलेखन में योगदान देते रहे। ह्यूम किसी भी मायने में सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराए जा सकते थे जो कि राष्ट्रीय संगठन की नींव और टिके रहने को

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 117 24-03-2021 11:47:21

वास्तविक रूप में यथार्थ बना सके। कांग्रेस के गठन को केवल एक व्यक्ति की पहल नहीं कहा जा सकता है। अन्य कारक भी थे, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। इस संदर्भ में एक प्रश्न उठता है कि शिक्षित भारतीयों ने ह्यूम का नेतृत्व क्यों स्वीकार किया। एक कारण यह भी हो सकता है कि अंग्रेज होने के नाते वे क्षेत्रीय पक्षपात से स्वतंत्र थे। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यादा महत्वपूर्ण नेता सावधानीपूर्वक आगे बढ़ना चाहते थे ताकि उन्हें आधिकारिक रोष का सामना न करना पड़े। एक भूतपूर्व ब्रिटिश सिविल अधिकारी के कारण इस प्रयास से आधिकारिक क्षेत्रों में विद्वेष पैदा होने की कम संभावना थी। भारतीय नेता अच्छी तरह जानते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में क्या संभव था। ऐसी स्थिति में वे अपने विचारों को शासकों के दिमाग में बिना कोई संदेह पैदा किए संघटित और व्यक्त करना चाहते थे।

10.6.2 भारतीय विशिष्ट वर्ग की प्रतिद्वन्द्विता और महत्वाकांक्षाएँ

कई इतिहासकारों खासकर कैम्ब्रिज के विद्वानों ने कहा है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कुछ मायनों में राष्ट्रीय नहीं थी बल्कि यह स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा चलाया गया आंदोलन था और यह उनके आर्थिक हितों और संकीर्ण विवादों की पूर्ति के लिए साधन के रूप में कार्य करता था। (इन विचारों को व्यक्त करने वाले सबसे ज्यादा, प्रभावशाली इतिहासकार अनिल सील हैं) लेकिन इस विचार को भारत में चुनौती दी गई है। यह बात सच है कि अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए हर कोई शक्ति पाना चाहता है। लेकिन कई अन्य व्यापक कारणों को नकारा नहीं जा सकता। इस तरह की विवेचना, रंग-भेद से ठेस लगी भावनाओं, देशवासियों की उपलब्धियों पर गौरवन्वित होने की भावना और इस बात का बोध होना कि उनके देशवासियों के हितों की पूर्ति भारत और ब्रिटेन के संबंधों के पुनर्गठन से बेहतर ढंग से हो सकेगी की उपेक्षा करती है। एक विदेशी शासन के तहत आकांक्षाओं और कुंठाओं की सामूहिक पहचान ने इन बंधनों को मजबूत किया था। विदेशी शासन ने लोगों की समान आकांक्षाओं और कष्टों को और बढ़ा दिया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक और कई अन्य संगठन राष्ट्रवादी दृष्टि के आदर्शवाद से प्रेरित थे, जिसके कारण भारतीय राष्ट्र के हित में स्वयं, परिवार, जाति तथा समुदाय के हितों का अधीनीकरण कर दिया गया।

10.6.3 अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता

व्यापक संदर्भ में देखने पर प्रतीत होता है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना विदेशी शासन की लंबी अवधि के परिणामस्वरूप पैदा हुई और विद्यमान राजनैतिक और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की ही प्रतिक्रिया थी। जैसा कि हमने देखा है कि 1880 दशक के दौरान एक राष्ट्रीय संगठन बनाने का विचार काफी हद तक रंग-रूप ले चुका था। दरअसल 1885 के अंतिम दस दिनों में करीब पाँच सम्मेलनों का आयोजन देश के विभिन्न भागों में किया गया। इसे ऐसे वक्त किया गया ताकि सभा के सदस्य पूना में होने वाली कांग्रेस में सम्मिलित हो सकें। इंडियन एसोसिएशन द्वारा द्वितीय भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन कलकत्ता में आयोजित किया गया। 1885 के दिसंबर के शुरू में जब पूना में सम्मेलन बुलाने की योजना की घोषणा की गयी तो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को अपना सम्मेलन स्थागित करने की राय दी गयी। लेकिन उन्होंने इस स्थिति में ऐसा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। 1886 में इसका विलय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में हो गया। इसी अवधि में यूरेशियनों द्वारा जबलपुर में तथा प्रयाग सेन्ट्रल हिन्दू समाज द्वारा इलाहाबाद में दो भिन्न सम्मेलन आयोजित किए गए। राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षित वर्ग के आविर्भाव, उनके द्वारा व्यक्त विचारों और संगठनात्मक विकासों के द्वारा राष्ट्रीय संस्था का निर्माण लगभग अवश्यम्भावी हो चुका था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस शिक्षित वर्ग के बीच राजनैतिक उद्देश्यों के लिए एक साथ काम करने की आवश्यकता की जागरुकता की परिणति का प्रतिनिधित्व करती थी। प्रारंभिक वर्षों (1885-1905) में भारतीय राष्ट्र कांग्रेस का विकास हुआ। इस अवधि के दौरान कांग्रेस पर नरम दल का आधिपत्य था। धीरे-धीरे इसमें एक समूह उभरा जो नरम दल की नीतियों से सहमत नहीं थे और आक्रामक कार्यवाही में यकीन करते थे। उनके आक्रामक रूख के कारण उन्हें गरम पंथी कहा गया। दोनों समूह ब्रिटिश राज का विरोध करने में भिन्न राजनैतिक पद्धतियों में विश्वास करते थे। उनके अंतरों से 1907 में कांग्रेस का विभाजन हो गया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 118 24-03-2021 11:47:21

बोध प्रश्न-1

1) समाचार-पत्र और पत्रिकाओं ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में कैसे मदद की?

.....

.....

.....

2) कांग्रेस की उत्पत्ति का कौन-सा सिद्धांत आपको स्वीकार्य लगता है?

.....

.....

.....

10.7 प्रारंभिक कांग्रेस की कार्य प्रणाली

पहले के कांग्रेस जनों को शांतिपूर्ण एवं संवैधानिक आंदोलन की प्रभावोत्पादकता में पूर्ण विश्वास था। प्रेस तथा वार्षिक अधिवेशन का मंच उनके प्रचार के माध्यम थे। प्रेस के माध्यम से ही पूरे साल कांग्रेस का प्रचार कार्य किया जाता था। अनेक नेता अंग्रेजी या भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों के संपादक थे और वे अपनी लेखनी का प्रभावपूर्ण प्रयोग करते थे। प्रतिवर्ष अधिवेशन का आयोजन कांग्रेस के प्रचार का दूसरा तरीका था। इन सभाओं में सरकार की नीतियों पर विचार-विमर्श किया जाता था तथा प्रभावशाली ढंग से प्रस्ताव पारित किए जाते थे। इन वार्षिक अधिवेशनों ने मध्यवर्गीय शिक्षित समुदाय तथा सरकार दोनों का ही ध्यान आकर्षित किया। लेकिन सबसे बड़ी कमी यह थी कि यह अधिवेशन साल में एक बार सिर्फ तीन दिन के लिए ही होता था। दो अधिवेशनों के अंतराल में काम करते रहने वाला इसका अपना कोई संगठन नहीं था। कांग्रेसियों का ब्रिटिश राष्ट्र की आधारभूत न्यायप्रियता और अच्छाई में दृढ़ विश्वास था। वे इस विश्वास को लेकर कार्य कर रहे थे कि यदि इंग्लैंड में अंग्रेजों तक भारत की दशा की सही तस्वीर पहुँच जाती है तो सब कुछ ठीक हो जाएगा। वे समझते थे कि नागरिकों और उनके अधिकारों के बीच नौकरशाही आड़े आ रही है। इसलिए उनका उद्देश्य भारतीय जनता को जागृत करना था ताकि वो अपने अधिकारों को समझ सकें। यह (कांग्रेस) ब्रिटिश जनता को भारतीयों की कठिनाइयों की जानकारी भी देना चाहती थी और उसे भारत के प्रति अपने कर्तव्य की याद भी दिलाती थी। अंग्रेजों तक भारत की दुर्दशा की सही तस्वीर पेश करने के इरादे से प्रमुख भारतीय नेताओं के प्रतिनिधि मण्डल विदेश भेजे गए। सन् 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति की स्थापना हुई। अपने प्रचार कार्य के लिए इस समिति ने 1890 में अपने मुख-पत्र 'इण्डिया' को शुरू किया। ब्रिटिश सत्ता तक भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही दादाभाई नौरोजी ने अपनी जिदंगी का एक बड़ा हिस्सा इंग्लैंड में बिताया। वे ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स (ब्रिटिश संसद के निम्न सदन) के लिए चुने गए और वहाँ उन्होंने भारत के शुभचिंतकों का एक प्रभावशाली दल गठित किया।

10.8 नरम दल (उदारवादी) : माँगें और कार्यक्रम

अपने पहले चरण (1885-1905) में कांग्रेस का कार्यक्रम बहुत सीमित था। उसकी माँगें हल्के फुल्के संवैधानिक सुधारों, आर्थिक सहायता, प्रशासकीय पुनर्संगठन तथा नागरिक अधिकारों की सुरक्षा तक सीमित थी।

उसकी मुख्य माँगें इस प्रकार थीं:

- प्रांतीय काउंसिलों का गठन,
- इंडियन सिविल सर्विस (आई.सी.एस.) की परीक्षा का इंग्लैंड के साथ ही साथ भारत में भी आयोजन,
- न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्कीकरण,

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 119 24-03-2021 11:47:22

- आर्म्स एक्ट को रद्द करना,
- सेना में भारतीयों की कमीशन्ड ऑफीसरों (सैकिण्ड लेफ्टिनेन्ट तथा उससे ऊपर के पद) के पद पर नियुक्ति,
- सैनिक व्यय में कमी, तथा
- भारत के सभी भागों में भूमि के स्थायी बंदोबस्त का प्रचलन।

कांग्रेस ने सरकार द्वारा उठाए गए सभी महत्वपूर्ण कदमों और नीतियों पर अपनी राय दी और उसकी गलत नीतियों की आलोचना की तथा उनका विरोध किया। इन माँगों को हर साल दोहराया गया किंतु सरकार ने इन पर शायद ही कभी ध्यान दिया हो। पहले बीस वर्षों (1885-1905) में कांग्रेस के कार्यक्रम में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। उसकी मुख्य माँगें लगभग वही बनी रहीं जो उसके पहले तीन या चार अधिवेशनों में पेश की गई थीं। कांग्रेस का यह काल नरम दल का युग (उदारवादियों का युग) कहलाता है। इस काल में नेतागण अपनी माँगें बड़े संयत रूप से रखते थे। वे सरकार को नाराज नहीं करना चाहते थे और इस बात का भी खतरा मोल नहीं लेना चाहते थे कि सरकार नाराज होकर उनकी गतिविधियों का दमन करे। सन् 1885 से सन् 1892 तक उनकी मुख्य माँगें यही थीं कि, विधान परिषदों का विस्तार व सुधार हो, काउंसिल के सदस्यों में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हों, तथा इन काउंसिलों के अधिकारों में वृद्धि हो।

ब्रिटिश सरकार को सन् 1892 का इण्डियन काउंसिल एक्ट पारित करने के लिए बाध्य होना पड़ा, लेकिन इस एक्ट की धाराओं से वह कांग्रेस के नेताओं को संतुष्ट नहीं कर सकीं। कांग्रेस के नेताओं ने यह माँग की कि भारतीय कोष (सार्वजनिक क्षेत्र के) पर भारतीय नियंत्रण हो, तथा उन्होंने अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम के समय दिए गए नारे, 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कराधान नहीं' को भी दुहराया। सन् 1905 में कांग्रेस ने स्वराज्य या भारतीयों के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन की माँग की। स्वशासन की माँग स्वायत्त शासित आस्ट्रेलिया और कनाडा के नमूने पर की गई थी। स्वशासन की यह माँग पहली बार जी. के. गोखले ने सन् 1905 (बनारस) में रखी थी और बाद में दादाभाई नौरोजी ने सन् 1906 (कलकत्ता) में इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में रखा था। उन्होंने प्रेस तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्व को पूरी तरह समझा और इस पर प्रतिबंध लगाने के हर प्रयास की भर्त्सना की। वास्तव में, प्रेस पर लगाए गए प्रतिबंधों को हटाने के लिए किया जाने वाला आंदोलन राष्ट्रवादी स्वतंत्रता आंदोलन का एक अभिन्न अंग बन गया। इन माँगों की प्रगतिशीलता तथा इनका भारतीय मध्यम वर्ग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से सीधा संबंध, यह स्पष्ट करता है कि प्रारंभिक वर्षों में कांग्रेस, मुख्य रूप से एक मध्यवर्गीय संस्था थी। कांग्रेस के अधिकांश नेताओं ने आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही कारणों से व्यापक स्तर पर रेलवे, बागानों तथा उद्योगों में विदेशी पूँजी के लगाए जाने का विरोध किया, साथ ही उन्होंने सरकार द्वारा इन क्षेत्रों में विदेशी पूँजी लगाए जाने के लिए दी गई विशेष सुविधाओं का भी विरोध किया। सेना तथा नागरिक सेवाओं (सिविल सर्विस) पर किए जाने वाले व्यय की आलोचना करके अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन के औचित्य को ही चुनौती दे डाली। भू-राजस्व, तथा कर नीतियों की भर्त्सना करके उन्होंने ब्रिटिश प्रशासन के वित्तीय आधार को दुर्बल करने का प्रयास किया। एशिया तथा अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के लिए भारतीय सेना और भारतीय राजस्व के उपयोग को उन्होंने आर्थिक शोषण का एक और उदाहरण बताया।

10.9 गरम दल (उग्रदल) का सैद्धान्तिक आधार

1904-05 के आसपास जो समूह कांग्रेस में प्रभावशाली हुआ उसे इतिहासकारों ने गरम दल कहा है। गरम दल के अनुसार सन् 1857 के विद्रोह के राष्ट्रवादी उद्देश्य स्वधर्म तथा स्वराज की स्थापना थे। उदारवादियों (नरम दल) ने जो बुद्धिवाद और पाश्चात्य आदर्शों को अपनाया था, उसके कारण वे भारत में जनसाधारण से बहुत दूर चले गए थे। इसीलिए अपने उच्च आदर्शों के बावजूद वे जनसाधारण पर अपना प्रभाव जमाने में असफल रहे। यह

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 120 24-03-2021 11:47:22

जरूरी था कि कोई समूह जनता और राजनैतिक नेतृत्व के बीच की खाई को भरता। सभी पाश्चात्य वस्तुओं की प्रशंसा और उसकी नकल करने की प्रवृत्ति के स्थान पर उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में एक ऐसा आंदोलन चला जिसमें लोगों को अपनी प्राचीन सभ्यता की ओर लौटने के लिए कहा गया। राजनैतिक उग्रवादी, जिन्होंने अपनी सांस्कृतिक विरासत से प्रेरणा ग्रहण की थी, परम राष्ट्रवादी थे और यह चाहते थे कि भारत सब देशों से, समान स्तर पर, और आत्मसम्मान के साथ मिले। उनमें आत्मसम्मान कूट-कूट कर भरा था और वे अपना सर ऊँचा रखना चाहते थे। वे नरम दल (उदारवादियों) को अंग्रेजों का चापलूस व मुसाहिब मानते थे इसीलिए उन्होंने उनका विरोध किया। उग्रवादियों की दृष्टि में मुक्ति केवल राजनीति तक सीमित नहीं थी बल्कि इसका अर्थ कहीं अधिक व्यापक और गूढ़ था। उनके लिए इसका अर्थ जीवन के समस्त क्षेत्रों में नवस्फूर्ति व नवशक्ति का संचार करना था।

गरम दल देश के तीन भागों में अधिक सक्रिय था। महाराष्ट्र दल के नेता थे तिलक, बंगाल दल के नेता थे, बिपिनचंद्र पाल और अरविंदों तथा पंजाब दल का नेतृत्व लाला लाजपतराय कर रहे थे। बंगाल का गरम दल बंकिमचंद्र की विचारधारा से बहुत प्रभावित था। बंकिम एडमण्ड बर्क की भाँति उदार पुरातनपंथीं थे। वे भूतकाल से संबंध विच्छेद नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में इससे समस्याएँ सुलझने के बजाए और भी ज्यादा उलझ जातीं। वे सुधारों को ऊपर से थोपने के विरोधी थे। उनका विचार था कि सुधारों से पूर्व नैतिक और धार्मिक पुनरुत्थान आवश्यक है, और यह पुनरुत्थान केवल धर्म के मूल सिद्धांतों के आधार पर ही संभव है। बंकिम ने उदारवादियों की भर्त्सनापूर्ण आलोचना करके गरम दल को इस विषय में दिशा प्रदान की। गरम दल का राष्ट्रवाद भावुकता से परिपूर्ण था। राष्ट्रवाद की इस प्रेरणादायक धारणा में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदर्शों, सभी का समावेश था। अरविंदों ने तो देशभक्ति को ऊँचा उठाकर मातृ वंदना के समकक्ष रख दिया था। एक पत्र में उन्होंने कहा था, ''मैं अपने देश को अपनी माँ मानता हूँ। मैं उसकी आराधना करता हूँ। मैं उसकी स्तुति करता हूँ।''

10.10 गरम दल की कार्रवाई

तिलक ने इस बात का विरोध किया कि एक विदेशी सरकार जनता के निजी और व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करे। 1891 के विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाने वाले विधेयक को लेकर उनका सुधारकों से झगड़ा हो गया। उन्होंने सन् 1893 में गणपति महोत्सव प्रारंभ किया। सन् 1893-94 में अरविंद ने 'इन्दुप्रकाश' पत्र में 'न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड' का प्रकाशन किया।

तिलक ने सन् 1895 में पूना में कांग्रेस के पण्डाल में 'नेशनल सोशल कांफ्रेन्स' को अपना अधिवेशन नहीं करने दिया और इस प्रकार उसे चुनौती दी। 'नेशनल सोशल कांफ्रेन्स' उदारवादियों के प्रभाव में था। इसी वर्ष (सन् 1895) पूना सार्वजनिक सभा पर भी उदारवादियों के स्थान पर गरम दल का प्रभुत्व हो गया। शिवाजी उत्सव का आयोजन पहली बार 15 अप्रैल, 1896 को हुआ। 4 नवंबर, 1896 को दक्कन सभा की स्थापना से महाराष्ट्र में नरम दल और गरम दल का पूरी तरह अलगाव हो गया, लेकिन पूरे भारत में अभी इन दोनों दलों में मतभेद, अलगाव की स्थिति तक नहीं पहुँचे थे। उदाहरण के लिए, बंगाल के गरम दल के नेता बिपिनचंद्र पाल अब भी उदारवादियों के खेमे में थे। सन् 1897 में उन्होंने लिखा था, ''मैं ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठावान हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ कि ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा और अपने देश के अपने देशवासियों के प्रति निष्ठा एक ही बात है और मैं यह भी मानता हूँ कि भगवान ने हमारी मुक्ति के लिए इस सरकार को हम पर शासन करने के लिए भेजा है।'' सन् 1902 में जाकर ही उनके विचारों में परिवर्तन आया, और उन्होंने लिखा, ''कांग्रेस भारत में, और लंदन में उसकी ब्रिटिश कमेटी, दोनों ही भिक्षा माँगने वाली संस्थाएँ हैं।'' कांग्रेस की नरम और अस्थिर नीतियों के कारण ही लाला लाजपतराय इसके कार्यक्रमों के प्रति आकर्षित नहीं हुए। सन् 1893 से लेकर सन् 1900 तक उन्होंने कांग्रेस के किसी भी अधिवेशन में भाग नहीं लिया। वे इस काल में कांग्रेस के

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 121 24-03-2021 11:47:22

नेताओं के विषय में यही सोचते थे कि उन्हें देश की चिंता से अधिक अपनी ख्याति और शान की परवाह है। जहाँ एक ओर एक के बाद एक भ्राँतियों और उलझनों ने उदारवादियों की स्थिति कमजोर कर दी वहाँ दूसरी ओर रूस पर जापान की विजय (1904-1905) ने पूरे एशिया में नवीन उत्साह का संचार किया। इससे पूर्व सन् 1896 में इथोपिया (अफ्रीकी राष्ट्र) ने इटली की सेना को पराजित किया था। एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों की इन विजयों ने यूरोप की श्रेष्ठता का जो भ्रम था, उसे तोड़ दिया और उसने भारतीयों में नया आत्मविश्वास जगा दिया था।

10.11 विभाजन (बंगाल), बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा

बंगाल को विभाजित करने की कर्जन की योजना धीरे-धीरे 1 जून, 1903 में उसके सीमा पुनर्गठन से लेकर 2 फरवरी, 1905 जब विभाजन की योजना लंदन में गृह प्रशासन को भेजी गयी, के बीच साकार हुई। उन्नीस जुलाई 1905 को भारत सरकार ने नए प्रांत ''पूर्वी बंगाल तथा असम''के बनाए जाने की घोषणा कर दी, जिसमें चटगाँव, ढाका तथा राजशाही डिविजन और त्रिपुरा, मालदा तथा असम के इलाके शामिल थे। 16 अक्टूबर, 1905 को बंगाल के तथा उसके 4.15 करोड़ लोगों के विभाजन के बाद यह नया प्रांत अस्तित्व में आ गया।

बंगाल में विभाजन-विरोधी आंदोलन हालांकि पारंपरिक नरमपंथी राष्ट्रीय तरीके से शुरू हुआ फिर भी इसमें तीव्र प्रचार तथा रोषपूर्ण विरोध के अंश थे। समाचार-पत्रों में विभाजन योजना के विरुद्ध अभियान छेड़ा गया, इसके विरोध में बहुत-सी सार्वजनिक सभाएँ की गयीं तथा सरकार को इस कदम को वापिस लेने के लिए ज्ञापन दिए गए। कलकता के टाऊन हॉल में बड़ी सभा आयोजित की गयी जिनमें जिलों से आए हुए प्रतिनिधियों ने भाग लिया तथा अपनी क्षतिग्रस्त भावनाओं को व्यक्त किया। यह सब बहुत ही प्रभावशाली था जिससे विभाजन के विरुद्ध मध्यम वर्ग की स्थिति बहुत ही स्पष्ट हो गयी थी। लेकिन भारत और ब्रिटेन के उदासीन प्रशासन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। इन तरीकों की असफलता के कारण 1905 के मध्य से नए तरीकों की खोज शुरू हुई और इसके फलस्वरूप ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार एक प्रभावशाली हथियार के रूप में सामने आया। बहिष्कार का सुझाव सबसे पहले 3 जुलाई, 1905 को कृष्ण कुमार मित्र के *संजीवनी* अखबार ने दिया जिसे बाद में 7 अगस्त 1905 को टाउन हॉल की एक सभा में प्रमुख लोगों ने मान लिया। इस खोज के बाद रविन्द्रनाथ टैगोर तथा रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी ने विभाजन के दिन को **रक्षाबन्धन** (भाईचारे के रूप में एक दूसरे की कलाई पर धागा बाँधना) तथा अरान्धन (शोक के कारण घर में चूल्हा न जलाने की प्रथा) के रूप में मनाने का आह्वान किया। इस कार्यवाही से आंदोलन को एक नया उत्साह मिला।

ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के बाद :

- स्वदेशी का समर्थन किया गया और लोगों से राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में भारत में बनी वस्तुओं को खरीदने का अनुरोध किया गया,
- **चरखा** देश की जनता की आर्थिक आत्मनिर्भरता की इच्छा का प्रतीक बन गया, तथा
- हथकरघा की बनी वस्तुओं आदि को बेचने के लिए आयोजित स्वदेशी मेले एक नियमित विशेषता बन गए।

स्वदेशी या भारतीय उद्यम के लिए एक नया उत्साह पैदा हो गया। बहुत से विशिष्ट भारतीय उद्योग जैसे कि कलकत्ता पौटरीज, बंगाल कैमिकल्ज, बंग लक्ष्मी कॉटन मिल्स, मोहिनी मिल्स तथा नैशनल टैनरी शुरू किए गए। आंदोलन द्वारा सृजित उत्साह के अंतर्गत विभिन्न साबुन, माचिस तथा तम्बाकू बनाने वाले उद्योग और ऑयल मिल्स, वित्तीय, गतिविधियाँ जैसे स्वदेशी बैंक इंश्योरेंस तथा स्टीम नेवीगेशन कंपनियाँ आदि भी शुरू की गई।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 122 24-03-2021 11:47:22

इस बीच ब्रिटिश वस्तुएँ बेचने वाली दुकानों के सामने धरनों के फलस्वरूप सरकार द्वारा नियंत्रित शैक्षिक संस्थानों का बहिष्कार भी शुरू हो गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा धरना दे रहे विद्यार्थियों के संस्थानों के अनुदान, छात्रवृत्तियाँ तथा मान्यता वापिस लेने की धमकियों के कारण तथा विद्यार्थियों को फाइन करने तथा उन्हें निष्कासित करने के फैसलों से बहुत ही बड़ी संख्या में विद्यार्थियों ने 'दासता' के इन स्कूलों और कालेजों को छोड़ देने का फैसला किया। स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार से स्वदेशी आंदोलन के नेताओं को बंगाल में समानान्तर शिक्षा व्यवस्था चलाने को बाध्य होना पड़ा। जल्दी ही अपीलें जारी की गयीं, अनुदान एकत्र किए गए तथा विशिष्ट व्यक्ति राष्ट्रीय शिक्षा कार्यक्रम बनाने लगे। इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप बंगाल टैक्नीकल इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई (जिसे 25 जुलाई, 1906 को शुरू किया गया था और जो बाद में कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग एंड टैक्नोलौजी में परिवर्तित हो गया और जो आज के जादवपुर विश्वविद्यालय का आधार बना), बंगाल नेशनल कालेज तथा स्कूल (जिसे 15 अगस्त 1906 को स्थापित किया गया था और जिसके प्रिंसिपल बने थे, अरविन्दो घोष) तथा जिलों में विभिन्न राष्ट्रीय प्राइमरी स्कूलों एवं सैकेंडरी स्कूलों की भी स्थापना हुई।

10.12 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का उदय

लेकिन किसी भी आंदोलन की सफलता उसमें जनता के व्यापक रूप से भाग लेने पर निर्भर करती है। परंतु स्वदेशी आंदोलन में इसका अभाव रहा। कृषकों तथा मजदूरों से उसे आंशिक सफलता मिलने के कारण और सांप्रदायिक उलझन को न सुलझा पाने के कारण 1907 के मध्य तक भी स्वदेशी आंदोलन अपनी चरम सीमा तक नहीं पहुँच पाया और न ही यह पूर्णतया एक जन-आंदोलन में ही बदल सका। इसके अलावा एक प्रबल साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन के रूप में इसे अपने शक्तिशाली विरोधी के दमनकारी कदम का शिकार होना पड़ा। प्रशासन ने सार्वजनिक स्थानों पर 'बंदे मातरम्' नारे लगाने पर रोक लगा दी, आंदोलन में किसी प्रकार से भी भाग लेने वाले सरकारी नौकरी के लिए अयोग्य करार दे दिए जाते थे तथा विद्यार्थियों को भाग लेने पर जुर्माना देना पड़ता था या उन्हें निकाल दिया जाता था। बरीसाल में गोरखों के दलों को आंदोलनकारियों को सबक सिखाने के लिए भेजा गया तथा पुलिस और अधिकारियों को खुली छूट दे दी गई। चरम सीमा तो अप्रैल 1906 में पहुँची जब बरीसाल में प्रांतीय सभा में भाग ले रहे प्रतिनिधियों पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया। इसके बाद दमनकारी कदम उठाए गए। बल का सामना बल द्वारा करने का सवाल स्वाभाविक रूप से उभर कर सामने आया।

हिंसात्मक तरीका बंगाल के मध्यम वर्गीय युवाओं के रूमानी मानसिकता को भी खूब पसन्द आया जो जन-आंदोलन के सफल न होने पर वैयक्तिक शौर्य के कार्यों में सांत्वना ढूँढते रहे और जब खुली राजनीति सरकार को प्रभावित नहीं कर सकी तो उन्होंने अपनी उम्मीदें गुप्त सभाओं पर टिका दी। हिंसा का रास्ता उनको भी पसन्द आया जिन्हें बहुत जल्दी थी और जिनकी सहनशक्ति समाप्त हो चुकी थी। **युगान्तर** ने अगस्त 1907 में लिखा 'यदि हम बेकार बैठे रहें और विरोध में खड़े होने से इंकार कर दें जब तक कि सारी जनता में निराशा न भर जाए तो हम अनंत तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे .....।' उन्नत विशिष्ट वर्ग के सामने दमनकारियों के विरुद्ध हथियार उठाने का ही विकल्प रह गया था, जिससे वह घृणित ब्रिटिश अधिकारियों और उनके गुर्गों के दिलों में आतंक भर सकें और जन-साधारण के सामने मौत से जूझने वाला आदर्श स्थापित कर सकें। जल्दी ही कुछ समितियाँ, विशिष्ट सीमित समितियों में बदल गयीं, जो चुनींदा हत्याओं के बारे में योजनाएँ रचने लगीं तथा हथियार खरीदने के लिए धन जुटाने के लिए राजनैतिक डकैतियाँ डलने लगीं। इन क्रांतिकारी गतिविधियों की अगुवाई कलकत्ता के युगान्तर ग्रुप और ढाका की अनुशीलन समिति ने की।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 123 24-03-2021 11:47:22

बोध प्रश्न-2

1) नरमदल और गरमदल में कार्य पद्धति की भिन्नताओं की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2) बंगाल विभाजन और स्वदेशी आंदोलन की राष्ट्रीय योजना उभारने में भूमिका की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

10.13 सारांश

इस इकाई में आपने अध्ययन किया है कि ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में कैसे धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई। यह चेतना मुख्य रूप से भारत में ब्रिटिश नीतियों के परिणामस्वरूप विकसित हुई और मध्यम वर्ग तक ही सीमित थी। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ने एक नए युग के आगमन को चिह्नित किया। यह भारतीय लोगों में एकता की बढ़ती भावना का एक गोचर प्रतीक था। यह सच है कि शुरुआत में कांग्रेस एक सुंसगठित राजनीतिक संगठन नहीं था। इसकी कोई नियमित सदस्यता या केंद्रीय कार्यालय नहीं था। इसके विचार बहुत नरम और उदारवादी थे। लेकिन जैसा किसी ने सही कहा है कि महान संस्थाओं की शुरुआत अक्सर छोटी होती है। स्वदेशी आंदोलन ने रियायत प्राप्त करने के लिए राज को ''याचिका देने और प्रार्थना करने'' के पहले के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ नरम दल के राजनीतिक कार्यक्रम को नकारने को चिह्नित किया। इसने भारतीय लोगों के लिए स्वराज या स्वतंत्रता के लक्ष्य को सामने रखा और उन्हें ब्रिटेन के साम्राज्यवादी भारत के खिलाफ संघर्ष करने के लिए प्रतिबद्ध किया। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के विकास ने निश्चित रूप से भारत में अंग्रेजों को परेशान किया लेकिन यह उनकी सत्ता को चुनौती नहीं दे सकता था, जैसा कि स्वदेशी की खुली राजनीति ने किया था और न ही यह उनके शासन के लिए कोई गंभीर खतरा पैदा कर सकता था जैसा बड़े व्यापक पैमाने पर जन-लामबंदी कर सकती थी।

10.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) भाग 10.3 देखें।

2) भाग 10.6 देखें।

बोध प्रश्न-2

1) भाग 10.8 और 10.10 देखें।

2) भाग 10.11 देखें।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 124 24-03-2021 11:47:22

इकाई 11 महात्मा गांधी के तहत राष्ट्रीय आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 देश को जानना

11.3 गांधी के वैचारिक साधन और जन लामबंदी के तरीके

- 11.3.1 सत्याग्रह
- 11.3.2 अहिंसा
- 11.3.3 धार्मिक प्रतीकों का उपयोग
- 11.3.4 हिन्द स्वराज का विचार
- 11.3.5 स्वदेशी

11.4 गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश

- 11.4.1 चंपारण में जन लामबंदी का प्रयोग
- 11.4.2 खेड़ा
- 11.4.3 अहमदाबाद
- 11.4.4 रौलट ऐक्ट सत्याग्रह

11.5 असहयोग आंदोलन

- 11.5.1 खिलाफ़त का मुद्दा
- 11.5.2 असहयोग आंदोलन के मुख्य चरण
- 11.5.3 आंदोलन के प्रति लोकप्रिय प्रतिक्रिया और आंदोलन का अंत

11.6 सविनय अवज्ञा आंदोलन

- 11.6.1 गांधी जी द्वारा रियायतें प्राप्त करने का प्रयास
- 11.6.2 आंदोलन की शुरुआत
- 11.6.3 आंदोलन का प्रसार
- 11.6.4 गांधी-इर्विन समझौता, गोलमेज सम्मेलन और दूसरा चरण

11.7 भारत छोड़ो आंदोलन की पृष्ठभूमि

- 11.7.1 क्रिप्स के प्रस्ताव
- 11.7.2 'करो या मरो' का आह्वान और आंदोलन का आरंभ
- 11.7.3 आंदोलन का फैलाव और सरकारी दमन
- 11.7.4 दमन

11.8 सारांश

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह समझा पाएंगेः

- गांधी का एक जन नेता के रूप में उभरना,

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 125 24-03-2021 11:47:22

- गांधी के विचार, और जन लामबंदी की विधियाँ तथा तकनीक;
- चम्पारण, रौलट एक्ट, असहयोग, सविनय अवज्ञा तथा भारत छोड़ो आंदोलनों में गांधी की भूमिका, और
- गांधी की अगुवाई में जनता तथा विभिन्न सामूहिक समूहों द्वारा निभाई गई भूमिका।

11.1 प्रस्तावना

महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारतीय राजनीति के स्वरूप, विचारधारा और उसकी सीमा को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजनीति में उनके प्रवेश के साथ संघर्ष का एक चरण शुरू हुआ। जन लामबंदी की दिशा में हुए बदलाव के साथ राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में वह प्रमुख व्यक्ति बने रहे और उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष का निर्देशन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय राजनीति में अपने प्रवेश के प्रारंभिक चरण में, गांधी ने भारतीय आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकता को समझने की कोशिश की और संघर्ष के नए रूपों को इस्तेमाल किया। दक्षिण अफ्रीका में अपने प्रवास के दौरान गांधी ने उस नस्लवादी भेदभाव के खिलाफ लड़ाई लड़ी, जिसने भारतीय समुदाय को सभ्य जीवन जीने के लिए आवश्यक मानव-अधिकारों से वंचित किया हुआ था। इसलिए उन्हें राजनीतिक लामबंदी की तकनीकों का अनुभव था। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद, गांधी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के सबसे प्रमुख नेता बनकर उभरे और जन लामबंदी की अपनी नयी विधियों का उपयोग करते हुए वे गरीब किसानों, युवाओं और महिलाओं की भागीदारी को सुरक्षित करने में सक्षम रहे। यह असहयोग, सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ो आंदोलनों की श्रृंखला में साफ दिखाई पड़ा। इसलिए, राष्ट्रीय आंदोलन पर उनके प्रभाव को समझने के लिए गांधी के विचारों और तकनीकों को समझना आवश्यक है।

11.2 देश को जानना

9 जनवरी 1915 के दिन जब गांधी जी भारत लौटे तो उनका भव्य स्वागत किया गया। गोपाल कृष्ण गोखले भारत में उनके राजनीतिक गुरु थे। गोखले चाहते थे कि गांधी 'सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी' में शामिल हों पर इस सोसाइटी के कुछ सदस्यों के कड़े विरोध के कारण गांधी जी इसके सदस्य नहीं बन पाए। गोखले ने गांधी से इस समय यह वादा लिया कि भारत में राजनीतिक विषयों पर वे एक वर्ष तक अपना मत जाहिर नहीं करेंगे। वायदे का पालन करते हुए 1915 और 1916 में गांधी जी ने अपना अधिकांश समय भारत के विभिन्न स्थानों का दौरा करने में बिताया। वे सिन्ध, रंगून, बनारस और मद्रास आदि स्थानों पर गए। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांतिनिकेतन की भी यात्रा की और वे हरिद्वार तथा कौमुदी मेले में भी गए। इन सब यात्राओं से यह लाभ हुआ कि गांधी जी को भारतीयों और उनकी स्थिति के संदर्भ में अत्यधिक जानकारी हासिल हुई। 1915 में ही गांधी जी ने अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे अपने आश्रम की स्थापना की थी। यहाँ पर वे अपने निकट सहयोगियों के साथ रहते थे, जिनको एक सच्चे सत्याग्रही का प्रशिक्षण दिया जाता था।

इस समय गांधी जी राजनीतिक मुद्दों में अधिक दिलचस्पी नहीं ले रहे थे। अधिकांश सभाओं में वे केवल अपने दक्षिण अफ्रीका के अनुभवों और जो विचारधारा उनकी वहाँ पर बनी थी, के बारे में ही बोलते थे। जिस समय एनीबेसेंट ने गांधी जी से ''होम रूल लीग' की स्थापना में सहयोग देने के लिए कहा तो उन्होंने यह कह कर इनकार कर दिया कि वे युद्ध के दौरान अंग्रेजी सरकार को परेशान नहीं करना चाहते। गांधी जी ने 1915 के कांग्रेस अधिवेशन में भी हिस्सा लिया, लेकिन इस समय स्वायत्त शासन जैसे महत्वपूर्ण विषय पर बोलने को उन्होंने टाल दिया। कांग्रेस में गरम दल को वापस शामिल करने के जो एकता के प्रयास हो रहे थे उनका गांधी ने स्वागत किया, लेकिन इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे किसी गुट में नहीं हैं। उन्होंने संगठित कांग्रेस के अधिवेशन में

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 126 24-03-2021 11:47:22

हिस्सा लिया, परंतु ऐसे मुद्दों पर बोलने से इनकार कर दिया जिनसे यह अभिप्राय लगाया जा सकता था कि वे किसी विशिष्ट गुट से संबद्ध हैं। यहाँ पर उन्होंने केवल अनुबंधित मजदूरों की भर्ती के संबंध में भाषण दिया और इस प्रथा की समाप्ति की माँग के लिए एक प्रस्ताव पारित किया गया।

11.3 गांधी के वैचारिक साधन और जन लामबंदी के तरीके

अब हम गांधी जी की विचारधारा के मुख्य पहलुओं पर विचार करेंगे परंतु उन पर व्याख्या करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि ऐसे कई प्रभाव थे जिन्होंने गांधी जी की विचारधारा को उभारने और उसे एक निश्चित दिशा में योगदान दिया। अपनी आत्मकथा में गांधी जी ने यह स्वीकार किया है कि उनके अभिभावकों के दृष्टिकोण और उनके रहने के स्थान पर मौजूद सामाजिक और धार्मिक वातावरण ने उनको व्यापक रूप से प्रभावित किया था। उनकी प्रारंभिक विचारधारा को ''वैष्णव मत'' और जैन धर्म की परंपराओं ने विशेष तौर से प्रभावित किया था। गांधी जी ''भगवद् गीता'' से भी प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त ईसा मसीह के ''पहाड़ पर उपदेश'' (Sermon on the Mount), टालस्टाय, थोरौ और रस्किन के लेखों ने भी उनके चिंतन को प्रभावित किया था। लेकिन, इसके साथ-साथ उनकी विचारधारा के विकास और दिशा निर्धारण में सर्वाधिक योगदान, जीवन में उनके अपने व्यक्तिगत अनुभवों का था।

11.3.1 सत्याग्रह

गांधी जी की विचारधारा का सबसे मुख्य पहलू सत्याग्रह का था। जैसा कि पहले ही जिक्र किया जा चुका है कि यह तरीका गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में विकसित किया था। परंतु 1919 के उपरान्त भारत के स्वाधीनता संग्राम में यह एक महत्वपूर्ण पहलू बना। गांधी जी के अनुसार हिंसा के स्थान पर सत्याग्रह का प्रयोग स्वयं कष्ट सहकर इस प्रकार किया जाना चाहिए था कि शत्रु को अपनी बात मनवाने के लिए बदला जा सके। गांधी जी ने सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध के बीच अंतर किया। उन्होंने यह लिखा है कि:

''निष्क्रिय प्रतिरोध एक कमजोर व्यक्ति का वह अस्त्र है जिसमें हिंसा और शारीरिक शक्ति का प्रयोग अपने उद्देश्य की पूर्ति के हेतु किया जाता है; जबकि सत्याग्रह शक्तिशाली व्यक्ति का अस्त्र है और इसमें किसी भी प्रकार की हिंसा का प्रयोग नहीं है''।

वास्तव में गांधी जी के लिए सत्याग्रह मात्र एक राजनीतिक अस्त्र नहीं था वरन् वह जीवन दर्शन और सिद्धांतों के व्यवहार का एक हिस्सा था। गांधी जी का यह विश्वास था कि मानव जीवन का अंतिम उद्देश्य सत्य की खोज है और क्योंकि कोई भी अंतिम सत्य को नहीं समझ सकता इसलिए उसे दूसरे व्यक्ति के सच की खोज में बाधा नहीं डालना चाहिए।

11.3.2 अहिंसा

अहिंसा सत्याग्रह का आधार था। गांधी जी ने इस बात पर महत्व दिया कि साधारण व्यक्ति को अपने राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रयोग करना चाहिए। परंतु कभी-कभी गांधी जी जो निर्णय लेते थे उसमें पूर्ण अहिंसा की कमी नज़र आती थी। जैसा कि उन्होंने बार-बार यह कहा कि अन्याय के सामने कायर दिखने की अपेक्षा हिंसा बेहतर है। व्यक्तिगत रूप में सत्याग्रह कई प्रकार के रूप ले सकता था जैसे कि उपवास, अहिंसात्मक धरना, विभिन्न प्रकार का असहयोग और सविनय अवज्ञा, यह जानते हुए भी कि उसके लिए कानूनी दंड भी मिलेगा। गांधी जी का यह पूर्ण विश्वास था कि सत्याग्रह के यह रूप सच्चे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनाए गए सच्चे तरीके हैं।

11.3.3 धार्मिक प्रतीकों का उपयोग

गांधी जी की विचारधारा के संदर्भ में चर्चा करते हुए धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण को जानना आवश्यक है। गांधी जी के लिए धर्म किसी एक विशेष धार्मिक समुदाय की सैद्धांतिक व्याख्या न होकर, समस्त धर्मों में निहित मूलभूत सत्य था। गांधी जी ने धर्म की व्याख्या सच्चाई के लिए संघर्ष के रूप में की। वे यह मानते थे कि धर्म को किसी व्यक्ति

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 127 24-03-2021 11:47:22

की निजी राय बताकर पीछे नहीं ढ़केला जा सकता क्योंकि धर्म व्यक्तियों की समस्त गतिविधियों को प्रभावित करता है। उनकी यह धारणा थी कि भारत में राजनीतिक कार्रवाई के लिए धर्म एक आधार प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि गांधी जी ने खिलाफ़त के प्रश्न को संघर्ष का मुद्दा बनाया जिससे कि मुसलमानों को अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध आंदोलन में लाया जा सके। परन्तु गांधी जी द्वारा ''राम राज्य'' जैसे धार्मिक विचारों का प्रयोग राष्ट्रीय आंदोलन में साम्प्रदायिकता की समस्या को हल नहीं कर पाया।

11.3.4 हिन्द स्वराज का विचार

गांधी दर्शन का एक महत्वपूर्ण पहलू हमें उनकी पुस्तक ''हिन्द स्वराज'' (1909) में मिलता है। इस पुस्तक में गांधी जी ने इस बात की ओर संकेत किया है कि वास्तविक शत्रु, अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व न होकर आधुनिक पश्चिम सभ्यता है जो कि धीरे-धीरे भारत को जकड़ती जा रही थी। उनकी धारणा थी कि जो भारतीय पाश्चात्य पद्धति से शिक्षित हुए हैं, जैसे कि वकील, डाक्टर, अध्यापक और पूँजीपति, वे आधुनिक तौर तरीकों को फैलाकर भारत की प्राचीन धरोहर को नष्ट कर रहे थे। इस पुस्तक में गांधी जी ने रेलगाड़ी की इस बात के लिए आलोचना की कि रेल खाद्य पदार्थों के निर्यात में सहायक है और अकाल फैलाने में सहायता देती है। स्वराज और स्वशासन को उन्होंने जीवन की एक ऐसी स्थिति माना जो कि तभी स्थाई रह सकती थी जबकि भारतीय अपनी परंपरागत सभ्यता का अनुकरण करें और आधुनिक सभ्यता से भ्रष्ट न हों। गांधी जी ने लिखा था कि ''भारतीयों की मुक्ति इसी में है कि उन्होंने जो कुछ पिछले 50 वर्षों में सीखा है उसे भुला दें। रेलगाड़ियों, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और इसी प्रकार की सब आधुनिक वस्तुओं को भूल जाना होगा। और तथाकथित उच्च वर्ग को साधारण किसान जैसा जीवन व्यतीत करना सीखना होगा।''

आगे चलकर गांधी जी ने अपने सामाजिक और आर्थिक विचारों को एक निश्चित दिशा देने का प्रयास किया और इसके लिए उन्होंने खादी, ग्रामीण पुनर्गठन और हरिजन कल्याण का कार्यक्रम रखा। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस कार्यक्रम से गाँव के लोगों की समस्याओं का पूर्णतः हल नहीं हो पाया लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस कार्यक्रम के द्वारा एक निश्चित सीमा तक गांधी जी उनकी स्थिति को सुधारने में सफल रहे। वास्तव में इस कार्यक्रम के माध्यम से गांधी जी ने देश में सामाजिक और आर्थिक सुधारों के लिए एक महत्वपूर्ण चेतना जागृत की।

11.3.5 स्वदेशी

गांधी जी ने स्वदेशी का प्रचार किया। स्वदेशी से अभिप्राय अपने देश में बनी हुई वस्तुओं के प्रयोग से था। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड में मशीन से बने कपड़ों के स्थान पर खादी का इस्तेमाल करना। उनकी राय में स्वदेशी के द्वारा किसान अपनी गरीबी को हटा सकते थे क्योंकि वे कताई करके अपनी आय में वृद्धि कर सकते थे। विदेशी कपड़े के इस्तेमाल में कमी करके भारत से इंग्लैंड को हो रही धन की निकासी को भी रोका जा सकता था।

11.4 गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश

भारतीय राजनीति में गांधी जी का सक्रिय प्रादुर्भाव 1917-18 के काल में हुआ जो कि तीन स्थानीय समस्याओं से संबंधित था। ये समस्याएँ थीं चंपारन और खेड़ा में किसानों का संघर्ष और अहमदाबाद मे मज़दूरों का संघर्ष। यहाँ पर गांधी ने सत्याग्रह की तकनीक का इस्तेमाल किया और अंततः इन्हीं स्थानीय संघर्षों के माध्यम से वे संपूर्ण भारत के नेता के रूप में उभर कर आए।

11.4.1 चंपारण में जन लामबंदी का प्रयोग

उत्तरी बिहार के तिरहुत मंडल में चंपारण एक ऐसा स्थान था जहाँ पर कि एक लंबे समय से कृषकों में असंतोष फैला हुआ था। यूरोपीय बागान मालिकों ने इस क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से नील के बागान और फैक्टरियाँ स्थापित की थीं। 1916-17 में चंपारण

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 128 24-03-2021 11:47:22

का अधिकांश क्षेत्र केवल तीन भू-स्वामियों के आधीन था। ये भू-स्वामी बेतिया, राम नगर और मधुबन की जागीरों के मालिक थे। इनमें बेतिया की जागीर सबसे बड़ी थी और उसमें लगभग 1500 गाँव आते थे। भू-स्वामी स्वयं जागीर की देखभाल न कर उसे ठेके पर दे देते थे और ठेकेदारों में सबसे प्रभुत्वशाली वर्ग यूरोपीय बागान मालिकों का था। यहाँ पर असंतोष का मुख्य कारण यह था कि किसानों को भूमि पर स्थाई अधिकार प्राप्त नहीं था। उन्हें बागान मालिकों से जमीन के पट्टे लेने होते थे और ऐसे पट्टे उन्हें इस शर्त पर दिए जाते थे कि वे एक निश्चित भू-भाग पर केवल नील की खेती करेंगे। इसके बदले में बागान मालिक किसानों को कुछ अग्रिम धनराशि भी देते थे।

जिस व्यवस्था के अन्दर नील की खेती की जाती थी वह ''तिन-कठिया'' कहलाती थी। इसमें किसान को अपनी भूमि के 3/20 हिस्से पर केवल नील की ही खेती करनी होती थी और अधिकांशतः उसकी भूमि के सबसे अधिक उपजाऊ हिस्से पर उसे नील की खेती करने के लिए बाध्य किया जाता था। तिन-कठिया व्यवस्था में यद्यपि 1908 में कुछ सुधार लाने की कोशिश की गयी थी, परंतु इससे किसानों की गिरती हुई हालत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। बागान मालिक किसानों को अपनी उपज एक निश्चित धनराशि पर केवल उन्हें ही बेचने के लिए बाध्य करते थे और यह धनराशि बहुत कम होती थी। इस समय जर्मनी के वैज्ञानिकों ने कृत्रिम नीले रंग का उत्पादन कर लिया था, जिसके परिणामस्वरूप विश्व के बाजारों में भारतीय नील की माँग गिर गयी थी। चंपारण के अधिकांश बागान मालिकों ने यह महसूस किया था कि नील के व्यापार से अब उन्हें अधिक मुनाफा नहीं होगा। परंतु मुनाफे को बनाए रखने के लिए उन्होंने अपने घाटे को किसानों पर लादना शुरू कर दिया। इसके लिए जो रास्ते उन्होंने अपनाए उसमें किसानों से यह कहा गया कि यदि वे उन्हें एक बड़ा मुआवजा दे दें तो किसानों को नील की खेती से मुक्ति मिल सकती थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने लगान में अत्यधिक वृद्धि कर दी और कई प्रकार के अवैध कर किसानों पर लगाए।

जब 1916 में लखनऊ में हो रहे कांग्रेस अधिवेशन में चंपारण के किसानों की समस्याओं का जिक्र किया गया तो गांधी जी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। परंतु अंततः चंपारण के एक किसान राजकुमार शुक्ल ने गांधी जी को चंपारण आने के लिए बाध्य किया। जब गांधी जी मोतीहारी (चंपारण का जिला-कार्यालय) पहुँचे तो उनकी उपस्थिति को जन शांति के लिए एक खतरा समझा गया। उन्हें चंपारण छोड़ने का आदेश दिया गया, परंतु गांधी जी ने वहाँ की जनता के प्रति अपने दायित्व को समझते हुए इस आदेश को मानने से इनकार कर दिया। तत्काल ही उन्हें गिरफ्तार कर उन पर जिला न्यायालय में मुकदमा चलाया गया। परंतु बिहार सरकार ने कमिश्नर और जिला न्यायालय को यह आदेश दिया कि इस मुकदमें को वापस ले लिया जाए और गांधी जी को जानकारी हासिल कराने में सहायता दी जाए। इसके साथ-साथ गांधी जी को भी चेतावनी दी गयी कि वे कोई बखेड़ा खड़ा न करें। परंतु उन्हें किसानों के कष्टों के बारे में जानकारी हासिल करने की पूर्ण स्वीकृति दे दी गयी।

सरकार के ''चंपारन एगरेरियन कमेटी'' का गठन किया। गांधी जी भी इस कमेटी के एक सदस्य थे। इस कमेटी ने यह सिफारिश की कि तिन-कठिया व्यवस्था समाप्त कर दी जाए और इसके साथ ही कई अन्य प्रकार के कर भी समाप्त कर दिए जाएँ जो कि किसानों को देने पड़ते थे। बढ़ाए गए लगान की दरों में कमी की गयी और जो वसूली अवैध रूप से किसानों से की गयी थी उसका 25 प्रतिशत किसानों को लौटाया जाना था। कमेटी की इन सिफारिशों को 1919 के 'चंपारण एगरेरियन ऐक्ट' के रूप में पारित किया गया।

यद्यपि यह आंदोलन किसानों की समस्याओं से संबंधित था परंतु गांधी जी के अधिकांश सहयोगी शिक्षित मध्यम वर्ग से थे, जैसे कि राजेन्द्र प्रसाद, गोरख प्रसाद, आचार्य कृपलानी आदि। स्थानीय महाजनों और गाँवों के मुख्तारों ने भी गांधी जी को सहयोग दिया था लेकिन सर्वाधिक सहयोग किसानों और उनके स्थानीय नेताओं ने दिया था। गांधी जी ने स्वयं वहाँ पर बहुत ही साधारण जीवन व्यतीत किया। वे पैदल या बैलगाड़ी पर यात्रा करते थे और किसानों से उन्हीं की भाषा में बातचीत करते थे।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 129 24-03-2021 11:47:22

11.4.2 खेड़ा

किसानों के पक्ष में गांधी जी ने दूसरी बार हस्तक्षेप गुजरात के खेड़ा जिले में किया। यहाँ पर उनकी सत्याग्रह की तकनीक को वास्तव में एक इम्तहान से गुजरना पड़ा। खेड़ा अधिक उपजाऊ क्षेत्र था और यहाँ पर उगने वाली खाद्य फसलों, तंबाकू और रुई को अहमदाबाद में एक सुलभ बाजार प्राप्त था। यहाँ पर कई धनी किसान थे ,जो कि पट्टीदार कहलाते थे। इसके अतिरिक्त कई छोटे किसान और भूमिहीन कृषक भी यहाँ पर रहते थे।

1917 में अधिक बारिश के कारण खरीफ़ की फसल को नुकसान हुआ। इसी समय मिट्टी का तेल, लोहा, कपड़ों और नमक की कीमतों में भी वृद्धि हुई जिसने किसानों के जीवन स्तर को प्रभावित किया। किसानों ने इस समय यह माँग की कि पूरी फसल न होने के कारण राजस्व माफ किया जाए। राजस्व कानून के अंतर्गत ऐसा प्रावधान मौजूद था कि यदि कुल उपज सामान्य उपज के मुकाबले केवल 25 प्रतिशत हो तो पूरा राजस्व माफ किया जा सकता था। बंबई के दो वकीलों, श्री वी. जे. पटेल और जी. के. पारख ने इस संबंध में छानबीन की और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उपज का एक बड़ा हिस्सा नष्ट हो चुका था, परंतु सरकार इससे सहमत नहीं थी। खेड़ा के कलक्टर ने यह निर्णय लिया कि राजस्व माफ़ करने की माँग का कोई औचित्य नहीं है। सरकारी धारणा यह थी कि किसानों ने यह माँग नहीं की थी वरन् इसके लिए उन्हें बाहर के लोगों ने भड़काया था जो 'होम रूल लीग' और 'गुजरात सभा' से संबंध रखते थे। गांधी जी स्वयं इस समय गुजरात सभा के अध्यक्ष थे। सच्चाई यह थी कि यहाँ आंदोलन प्रारंभ करने की पहल न तो गांधी जी ने ही की थी और न ही अहमदाबाद के राजनीतिज्ञों ने। यह माँग तो वास्तव में मोहन लाल पंड्या जैसे स्थानीय गाँव के नेताओं ने उठायी थी।

छानबीन करने के बाद गांधी जी ने यह धारणा व्यक्त की कि सरकारी अफ़सरों ने उपज का बढ़ा-चढ़ा कर मूल्य लगाया था और किसानों का यह वैध अधिकार था कि वे राजस्व के स्थगित किए जाने के अधिकारी थे। और इसमें इन पर कोई अनुकंपा नहीं की जा रही थी। कुछ हिचकिचाहट के बाद गांधी जी ने यह निर्णय लिया कि 22 मार्च, 1918 से सत्याग्रह का प्रारंभ नदियाद में एक सभा करके किया गया। इस सभा में गांधी जी ने किसानों को यह राय दी कि वे अपना राजस्व न दें। किसानों के उत्साह को बढ़ाने के लिए और उनके हदय से सरकार का भय निकालने के लिए गांधी जी ने अनेक गाँवों का दौरा किया।

इस सत्याग्रह में इन्दुलाल याज्ञिक, बिट्ठल भाई पटेल और अनसुइया साराभाई ने भी गांधी जी की मदद की। 21 अप्रैल के दिन सत्याग्रह अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। 2,337 किसानों ने यह शपथ ली कि वे राजस्व नहीं देंगे। अधिकांश पट्टाधारियों ने सत्याग्रह में हिस्सा लिया परंतु सरकार ने अपनी दमनकारी नीति के द्वारा कुछ गरीब किसानों को राजस्व देने के लिए बाध्य किया। इस समय रबी की फसल अच्छी हुई जिससे राजस्व ने देने का मुद्दा कुछ कमजोर पड़ा। गांधी जी यह समझने लगे थे कि किसान सत्याग्रह से थकने लगे हैं। जब सरकार ने यह आदेश जारी किया कि राजस्व की वसूली केवल उन्हीं किसानों से की जानी चाहिए जो उसको दे सकते हैं और गरीब किसानों पर इसके लिए दबाव नहीं डाला जाना चाहिए, तो गांधी जी ने सत्याग्रह को समाप्त करने की घोषणा की। वास्तव में इस सत्याग्रह का सब गाँवों पर समान असर नहीं पड़ा था। खेड़ा के 559 गाँवों में से केवल 70 गाँवों में ही यह सफल रहा था और यही कारण था कि गांधी जी ने केवल थोड़ी सी रियायत मिलने पर ही सत्याग्रह वापस ले लिया था। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इस सत्याग्रह के द्वारा गुजरात के ग्रामीण क्षेत्र में गांधी जी के सामाजिक आधार का विकास हुआ था।

11.4.3 अहमदाबाद

गांधी जी ने अपना तीसरा अभियान अहमदाबाद में छेड़ा, जब उन्होंने मिल मालिकों और श्रमिकों के मध्य संघर्ष में हस्तक्षेप किया। अहमदाबाद, गुजरात के एक महत्वपूर्ण औद्योगिक नगर के रूप में विकसित हो रहा था परंतु मिल मालिकों को अक्सर श्रमिकों की कमी का सामना करना पड़ा था और उन्हें आकर्षित करने के लिए मजदूरी की ऊँची दर देते

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 130 24-03-2021 11:47:22

थे। 1917 में अहमदाबाद में प्लेग की महामारी फैली। अधिकांश श्रमिक शहर छोड़कर गाँव जाने लगे। श्रमिकों को शहर छोड़कर जाने से रोकने के लिए मिल मालिकों ने उन्हें ''प्लेग बोनस'' देने का निर्णय किया जो कि कभी-कभी साधारण मजूरी का लगभग 75 प्रतिशत होता था। जब यह महामारी समाप्त हो गयी तो मिल मालिकों ने इस भत्ते को समाप्त करने का निर्णय लिया। श्रमिकों ने इसका विरोध किया। श्रमिकों की धारणा थी कि युद्ध के दौरान जो महँगाई हुई थी, यह भत्ता उसकी भी पूर्ति करता था। मिल मालिक 20 प्रतिशत की वृद्धि देने को तैयार थे, परंतु मूल्य वृद्धि को देखते हुए श्रमिक 50 प्रतिशत की वृद्धि माँग रहे थे।

गुजरात सभा के एक सचिव गांधी जी को अहमदाबाद की मिलों में कार्य करने की दशाओं के बारे में सूचित करते रहते थे। एक मिल मालिक अम्बालाल साराभाई से उनका व्यक्तिगत परिचय था, क्योंकि उसने गांधी के आश्रम के लिए धनराशि दी थी। इसके अतिरिक्त अम्बालाल की बहन अनुसइया साराभाई गांधी जी के प्रति आदर भाव रखती थी। गांधी जी ने अम्बालाल साराभाई से विचार-विमर्श करने के उपरांत इस समस्या में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया। श्रमिक और मिल मालिक इस बात पर सहमत हो गए कि पूरी समस्या को एक मध्यस्थता कराने वाले बोर्ड के ऊपर छोड़ दिया जाए, जिसमें तीन प्रतिनिधि मज़दूरों के हों और तीन मिल मालिकों के। अंग्रेज़ कलेक्टर इस बोर्ड के अध्यक्ष होने थे। गांधी जी इस बोर्ड में श्रमिकों के प्रतिनिधि के रूप में मौजूद थे, परंतु अचानक मिल मालिक बोर्ड से पीछे हट गए। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि गांधी जी को श्रमिकों की तरफ से कोई अधिकार नहीं दिया गया था और इस बात की कोई गारंटी नहीं थी कि श्रमिक इस बोर्ड के निर्णय को स्वीकार करेंगे। 22 फरवरी से मिल मालिकों ने तालाबंदी की घोषणा की।

ऐसी परिस्थिति में गांधी जी ने पूरी स्थिति का विस्तृत रूप से अध्ययन करने का निर्णय लिया। उन्होंने मिलों की आर्थिक स्थिति के बारे में जानकारी हासिल की और उनके द्व ारा दी जा रही मजूरी की दरों की तुलना बंबई में दी जा रही मजूरी की दरों से की। इस अध्ययन के उपरांत गांधी जी ने यह निष्कर्ष निकाला कि मजदूरों को 50 प्रतिशत के स्थान पर 35 प्रतिशत बढ़ोतरी की माँग करनी चाहिए। गांधी जी ने मिल मालिकों के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारंभ किया। श्रमिकों से यह शपथ लेने को कहा गया कि जब तक मजूरी में 35 प्रतिशत वृद्धि नहीं होती, वे काम पर नहीं जाएँगे और शांतिपूर्वक सत्याग्रह करते रहेंगे। अनेक स्थानों पर सभाएँ हुई और गांधी जी ने इनमें भाषण दिये। इस स्थिति के ऊपर उन्होंने कुछ लेख भी लिखे।

12 मार्च के दिन मिल मालिकों ने यह घोषणा की कि वे ताला बंदी हटा रहे हैं और उन श्रमिकों को कार्य पर वापस लेंगे जो कि 20 प्रतिशत वृद्धि स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत 15 मार्च को गांधी जी ने यह घोषणा की कि जब तक कोई समझौता नहीं होता वे भूख हड़ताल पर रहेंगे। इस समय गांधी जी का उद्देश्य यह था कि जो मजदूर अपनी शपथ के बावजूद काम पर वापस जाने की सोच रहे थे, उन्हें उससे रोका जा सके। अंततः 18 मार्च के दिन एक समझौता हुआ, इसके अनुसार, श्रमिकों को उनकी शपथ को देखते हुए पहले दिन की मंजूरी 35 प्रतिशत वृद्धि के साथ हासिल होनी थी और दूसरे दिन उन्हें 20 प्रतिशत की वृद्धि, जो कि मिल मालिकों द्वारा प्रस्तावित की जा रही थी, मिलनी थी। तीसरे दिन ही तब तक, जब तक कि एक मध्यस्थता के द्वारा निर्णय नहीं लिया जाता उन्हें 27.5 प्रतिशत की वृद्धि मिलनी थी। अंततः मध्यस्थ ने गांधी जी के प्रस्ताव को मानते हुए मजदूरों के पक्ष में 35 प्रतिशत की वृद्धि का निर्णय दिया।

बोध प्रश्न-1

1) चम्पारण किसान विपत्ति में गांधी जी की भूमिका का वर्णन करें।

.....

.....

.....

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 131 24-03-2021 11:47:22

2) गांधी जी द्वारा अपने आंदोलन में प्रयोग में लाए गए वैचारिक साधनों और तरीकों का संक्षेप में विश्लेषण कीजिए।

.....

.....

.....

11.4.4 रौलट ऐक्ट सत्याग्रह

1917 में भारतीय सरकार ने जस्टिस सिडनी रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी का गठन किया था कि जिसका उद्देश्य क्रांतिकारियों के कार्यों की जाँच-पड़ताल करते हुए उनके दमन के लिए कानून प्रस्तावित करना था। स्थिति का जायजा लेने के उपरांत रौलट कमेटी ने कानून में कई प्रकार के परिवर्तन किए जाने का सुझाव रखा। इन सुझावों को ध्यान में रखते हुए भारतीय सरकार ने राष्ट्रीय काउंसिल के सम्मुख दो विधेयक 6 फरवरी, 1919 के दिन प्रस्तुत किए। सरकार का यह दावा था कि षड्यंत्रकारी अपराधों को रोकने के लिए यह विधेयक केवल अस्थायी आधार पर अपनाए जा रहे हैं।

ये विधेयक वास्तव में जो प्रतिबंध युद्ध के दौरान लगाये गए थे उन्हें स्थाई रूप देने के उद्देश्य से प्रेरित थे। इनके अंतर्गत अपराधियों पर एक विशेष न्यायालय के द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता था जिसमें तीन हाईकोर्ट के जज सदस्य होने थे। इस न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील का कोई प्रावधान नहीं था और न्यायालयों की कार्यवाही भी खुले तौर पर नहीं होनी थी। किसी भी व्यक्ति को बिना वारेंट के गिरफ़्तार किया जा सकता था या उसकी तलाशी ली जा सकती थी। बिना मुकदमा चलाए ही किसी भी व्यक्ति को दो वर्ष तक जेल में रखा जा सकता था। भारतीय राष्ट्रवादियों की यह धारणा थी कि यह बिल उस गैर-सरकारी और सरकारी जनमत को संतुष्ट करने के लिए लाए गए थे जिसने कि मोन्टेग्यू सुधार प्रस्तावों का विरोध किया था।

सारे देश में इन बिलों की आलोचना की गयी। गांधी जी ने भी इनके विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। 24 फ़रवरी 1919 के दिन बंबई में इन बिलों का विरोध करने के लिए गांधी जी ने एक सत्याग्रह सभा का संगठन किया। इस सभा के सदस्यों ने यह शपथ ली कि वे अत्यन्त ही सभ्य तरीके से, जिनका कि निर्णय एक कमेटी द्वारा लिया जाएगा, इन बिलों का विरोध करेंगे। 6 अप्रैल, 1919 को एक देशव्यापी आंदोलन की योजना बनाई गई। हड़ताल की सफलता विभिन्न क्षेत्रों, शहरों और ग्रामीण अंचलों में अलग-अलग थी। दिल्ली में 30 मार्च के दिन ही हड़ताल की गयी और इस दिन पुलिस की गोली से 10 व्यक्ति मारे गए। अन्य बड़े नगरों में हड़ताल 6 अप्रैल को हुई और जनता ने व्यापक सहयोग दिया।

8 तारीख को गांधी जी बंबई से दिल्ली और पंजाब के लिए रवाना हुए। सरकार ने यह माना कि उनका पंजाब आगमन खतरनाक हो सकता है। अतः दिल्ली के निकट गांधी को गाड़ी से उतारकर वापस बंबई भेज दिया गया। शीघ्र ही गांधी जी की गिरफ्तारी की खबर फैल गयी। इससे बंबई में स्थित तनावपूर्ण हो गयी और अहमदाबाद व वीरांगाम में हिंसा भी हुई। अहमदाबाद में सरकार को मार्शल लॉ लगाना पड़ा। सर्वाधिक हिंसा पंजाब में, विशेष तौर से अमृतसर में फैली। अमृतसर में जिस समय गांधी जी की गिरफ्तारी की खबर पहुँची तो उसी समय वहाँ के दो स्थानीय नेताओं, डॉ. किचलू और डॉ. सत्यपाल को भी गिरफ्तार किया गया था (10 अप्रैल)। जनता हिंसा पर उतारू हो गयी और कुछ सरकारी कार्यालयों में आग लगा दी गयी। 5 अंग्रेजों की हत्या कर दी गयी और एक अंग्रेज महिला से अभद्र व्यवहार भी किया गया। शहर पर से नागरिक प्रशासन का नियंत्रण लगभग समाप्त हो गया। 13 अप्रैल के दिन जनरल डायर ने जलियाँवाला बाग में निहत्थे लोगों की शांतिपूर्ण सभा पर गोलियाँ चलवाई। अधिकांश लोगों को इस बात की कोई खबर ही नहीं थी कि सरकार द्वारा सभा करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया है और जनरल डायर ने बिना किसी चेतावनी के गोलियाँ चलवाई थीं। डायर ने आगे चलकर यह स्वीकार किया कि उसका उद्देश्य मात्र सभा को तितर-बितर करना नहीं था, वह तो जनता को मानसिक

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 132 24-03-2021 11:47:22

तौर से भयभीत करना चाहता था। सरकारी आँकड़ों के अनुसार इस गोली कांड में 379 व्यक्ति मारे गए थे परंतु गैर सरकारी आँकड़े इससे कहीं अधिक थे।

यह स्पष्ट है कि रौलट ऐक्ट के विरुद्ध चलाया गया आंदोलन किसी योजनाबद्ध तरीके पर आधारित नहीं था। सत्याग्रह सभा केवल ऐक्ट के विरुद्ध प्रचार हेतु साहित्य प्रकाशित कर रही थी या उसके विरुद्ध दस्तखत इकट्ठे कर रही थी। एक संगठन के रूप में कांग्रेस कहीं पर भी नजर नहीं आ रही थी। अधिकांश क्षेत्रों में जनता ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अपनी सामाजिक और आर्थिक शिकायतों के कारण स्वयं हिस्सा लिया था। लेकिन एक बात स्पष्ट है कि गांधी जी द्वारा किए गए सत्याग्रहों ने विभिन्न वर्गों और समुदायों के लोगों को एक स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया था। परंतु इस आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह निकला कि गांधी जी एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उभर कर सामने आए।

11.5 असहयोग आंदोलन

सन् 1920-21 के दौरान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने एक नए दौर यानी, जन-राजनीति और जनता को लामबंद करने के दौर में प्रवेश किया। ब्रिटिश शासन का विरोध दो जन-आंदोलनों खिलाफ़त तथा असहयोग, के द्वारा हुआ। अलग-अलग समस्याओं से उभरने के बावजूद दोनों आंदोलनों ने एक समान कार्य-योजना को अपनाया। अहिंसात्मक संघर्ष की तकनीक राष्ट्रीय स्तर तक अपनाई गई। प्रथम विश्व युद्ध, रौलट ऐक्ट, जलियाँवाला बाग हत्याकांड तथा मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के प्रभाव ने इन आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार की।

11.5.1 ख़िलाफ़त का मुद्दा

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान तुर्की ब्रिटेन के ख़िलाफ़ जर्मनी व आस्ट्रिया के साथ मिल गया था। भारतीय मुसलमान तुर्की के सुल्तान को अपने धार्मिक नेता ''खलीफ़ा'' के रूप में मानते थे। अतः स्वाभाविक रूप से उनकी सहानुभूति तुर्की के साथ ही थी। युद्ध के बाद ब्रिटेन ने तुर्की में ख़लीफ़ा को सत्ता से हटा दिया। इस तरह ख़लीफ़ा को पुनर्स्थापित करने के लिए भारत में मुसलमानों ने ख़िलाफ़त आंदोलन शुरू किया। उनकी मुख्य माँगें निम्न थीं:

- मुसलमानी धार्मिक स्थानों पर ख़लीफ़ा के नियंत्रण को वापिस लाया जाए।
- युद्ध के बाद के क्षेत्रीय-समझौते में ख़लीफ़ा को पर्याप्त क्षेत्र मिलने चाहिए।

1919 के शुरू में, बंबई में एक ख़िलाफ़त कमेटी बनाई गई थी। पहल मुसलमान व्यापारियों द्वारा की गई और उनकी गतिविधियाँ सभाओं, ख़लीफ़ा के पक्ष में अर्जी देने व प्रतिनिधि मंडल ले जाने तक, सीमित थीं। फिर भी जल्दी ही आंदोलन के भीतर एक जुझारू प्रवृत्ति उभरी। इस जुझारू प्रवृत्ति के नेता संयमी विचारधारा से सन्तुष्ट नहीं थे। उसके विपरीत उन्होंने देश-व्यापी आन्दोलन चलाने का प्रचार किया। दिल्ली में 22–23 नवम्बर 1919 में हुई अखिल भारतीय ख़िलाफ़त कान्फ्रेंस में उन्होंने पहली बार भारत में ब्रिटिश सरकार से असहयोग का समर्थन किया। यह वही कांफ्रेंस थी जहाँ हसरत मोहानी ने ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार करने का आह्वान किया। इलाहाबाद में पहली से तीसरी जून 1920 को केंद्रीय ख़िलाफ़त कमेटी की बैठक हुई। इस सभा में अनेक कांग्रेस तथा ख़िलाफ़त नेता उपस्थित हुए। इस सभा में सरकार के प्रति असहयोग के कार्यक्रम को घोषित किया गया। जिसमें निम्न बातें शामिल थीं:

- सरकार द्वारा दी गई उपाधियों का बहिष्कार,
- लोक सेवाओं, सेना तथा पुलिस यानि सभी सरकारी नौकरियों का बहिष्कार, तथा
- सरकार को करों की अदायगी न करना।

पहली अगस्त 1920 को आंदोलन शुरू करने का निश्चय किया गया। गांधी जी ने जोर दिया कि जब तक पंजाब तथा ख़िलाफ़त की गलतियों को सुधारा न जाएगा, सरकार के साथ असहयोग जारी रहेगा। इस आंदोलन की सफलता के लिए कांग्रेस का समर्थन जरूरी था। असहयोग आंदोलन के मुख्य बिंदु थे:

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 133 24-03-2021 11:47:22

- शिक्षा का राष्ट्रीयकरण,
- स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन,
- चरख़ा और खादी को लोकप्रिय बनाना,
- स्वयं सेवियों की भर्ती,
- कानूनी अदालतों, शैक्षणिक संस्थाओं, सरकारी समारोहों तथा ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, और
- ब्रिटिश सरकार द्वारा दिए गए सम्मान और उपाधियों का समर्पण।

11.5.2 असहयोग आंदोलन के मुख्य चरण

1921 के शुरू में ही असहयोग तथा बहिष्कार के लिए जोर-शोर से प्रचार शुरू हो गया था। हालांकि आन्दोलन के एक चरण से दूसरे चरण में केंद्रीय मुद्दे बदलते रहे। जनवरी से मार्च 1921 के प्रथम चरण में मुख्य बल विद्यालयों, कॉलेजों, कानूनी अदालतों के बहिष्कार तथा चरखे के प्रयोग पर था। छात्रों में व्यापक अशांति थी तथा वकीलों जैसे सी. आर. दास तथा मोतीलाल नेहरु ने वकालत को त्याग दिया। इस चरण के बाद अप्रैल 1921 में दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ। दूसरे चरण का मूलभूत लक्ष्य, तिलक स्वराज कोष के लिए अगस्त 1920 तक एक करोड़ रुपए तथा 30 जून तक 20 लाख चरखे लगाना था। जुलाई से शुरू होने वाले तीसरे चरण में निम्न बातों पर जोर दिया गयाः विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, नवंबर 1921 में ब्रिटिश राजसिंहासन के उत्तराधिकारी प्रिंस ऑफ वेल्स की यात्रा का बहिष्कार, चरखे तथा **खादी** को लोकप्रिय बनाना, तथा कांग्रेस स्वयं सेवकों द्वारा **जेल भरो** आंदोलन।

अंतिम चरण में, नवंबर 1921 में उग्रता की ओर झुकाव दिखाई पड़ रहा था। कांग्रेस स्वयं सेवकों ने जनता को लामबंद किया और देश विद्रोह के कगार पर था। गांधी जी ने बरदोली में राजस्व नहीं देने का प्रचार तथा, बोलने, प्रेस और संस्थाओं की स्वतंत्रता के लिए एक बड़ा नागरिक अवज्ञा आंदोलन भी शुरू करने का निश्चय किया।

11.5.3 आंदोलन के प्रति लोकप्रिय प्रतिक्रिया और आंदोलन का अंत

आर्थिक बहिष्कार को भारतीय व्यापारिक समूह का समर्थन मिला क्योंकि राष्ट्रवादियों के स्वदेशी वस्त्र के प्रयोग पर जोर देने से कपड़ा उद्योग को फायदा हुआ। विद्यार्थियों तथा महिलाओं की प्रतिक्रिया बहुत प्रभावशाली थी। हजारों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों व कॉलेजों को छोड़कर राष्ट्रीय स्कूलों व कॉलेजों में दाखिला लिया। नव स्थापित काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ तथा जामिया मिलिया इस्लामिया जैसे अन्य राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं ने बहुत से विद्यार्थियों को स्थान दिया जबकि अनेकों विद्यार्थियों को स्थान न मिलने के कारण निराश होना पड़ा। विद्यार्थी राष्ट्रीय आंदोलन के गतिशील स्वयं सेवक बन गए। औरतें भी सामने आई। उन्होंने पर्दा छोड़ दिया तथा अपने गहने तिलक फंड के लिए दे दिए। वे बड़ी संख्या में आंदोलन में शामिल हुई और उन्होंने विदेशी कपड़ा व शराब बेचने वाली दुकानों के आगे होने वाले धरनों में सक्रिय रूप से भाग लिया। इस आंदोलन के विकास का अत्यधिक महत्वपूर्ण बिन्दु इसमें किसानों तथा मजदूरों का शामिल होना था। ग्रामीण इलाकों तथा कुछ अन्य स्थानों में, किसान जमींदारों व व्यापारियों के खिलाफ़ हो गए। इसने 1921-22 के आंदोलन को एक नया आयाम दिया।

यू.पी. के गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा में पुलिस ने कांग्रेस स्वयं सेवकों पर गोली चलाई जिससे उत्तेजित भीड़ ने 21 पुलिस कर्मियों को जान से मार दिया। इस हिंसात्मक घटना से गांधी जी को आघात पहुँचा और उन्होंने असहयोग आंदोलन को रोक दिया। उन्होंने बारदोली में प्रस्तावित नागरिक अवज्ञा-उल्लंघन को भी स्थागित कर दिया। अनेकों कांग्रेसी गांधी जी के निर्णय से चकित व हत्प्रभ रह गए।

12 फरवरी 1922 को बारदोली में कांग्रेस की कार्यकारी समिति की बैठक ने चौरी-चौरा में भीड़ के अमानवीय बर्ताव की निन्दा की। इसने नागरिक अवज्ञा आंदोलन को स्थापित

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 134 24-03-2021 11:47:22

करने का समर्थन किया। गांधी जी ने उसी दिन से इस घटना के विरोध में उपवास शुरू किया। इस तरह पहला असहयोग आंदोलन समाप्त हो गया। 10 मार्च 1922 को गांधी जी गिरफ़्तार हुए और उन्हें छह साल की कैद की सजा दी गयी।

11.6 सविनय अवज्ञा आंदोलन

सविनय अवज्ञा आंदोलन तब शुरू किया गया जब गांधी जी ने चुने हुए स्वयं सेवकों के एक समूह के साथ नमक कानून तोड़ने के लिए दांड़ी मार्च शुरू किया। उसके बाद पूरे देश में लोगों ने नमक कानून तोड़ा और गिरफ्तारियों दी। नमक कानूनों को तोड़ने के अलावा, कुछ क्षेत्रों में कर न देने और राजस्व न देने वे अभियान भी शुरू किए गए थे। उन वन कानूनों की अवहेलना भी की गई थी जो स्थानीय लोगों द्वारा वनों के उपभोग पर प्रतिबंध लगाते थे। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए, ब्रिटिश सरकार ने एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया और कांग्रेस को बातचीत के लिए आमंत्रित किया। गांधी जी ने कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया और बातचीत को सुविधाजनक बनाने के लिए आंदोलन को अस्थायी तौर पर वापस ले लिया। हालांकि बातचीत औपनिवेशिक शासकों की विभाजनकारी नीतियों के कारण विफल साबित हुई। इससे आंदोलन फिर से शुरू हो गया जो, हालांकि अपनी पहले की तीव्रता हासिल करने में विफल रहा।

11.6.1 गांधी जी द्वारा रियायतें प्राप्त करने का प्रयास

आंदोलन शुरू करने से पहले एक बार फिर उन्होंने सरकार से समझौता करने की कोशिश की। उन्होंने प्रशासनिक सुधार के लिए ''ग्यारह सूत्र'' पेश किए और कहा कि यदि लॉर्ड इरविन उन्हें स्वीकार कर लेंगे तो संघर्ष की आवश्यकता नहीं होगी। इनमें महत्वपूर्ण माँगें थीं:

1) रुपए की विनिमय दर घटा कर 1 शिलिंग 4 पेंस की जाए,
2) भू-राजस्व में 50 फीसदी कमी कर दी जाए और इसे विधायी नियंत्रण (लेजिस्लेटिव कंट्रोल) का विषय बनाया जाए,
3) नमक कर और सरकार का नमक पर एकाधिकार समाप्त किया जाए,
4) सर्वोच्च श्रेणी की सेवाओं का वेतन घटा कर आधा कर दिया जाए,
5) सेना खर्च में 50 प्रतिशत कमी की जाए,
6) भारतीय कपड़ा-उद्योग और जहाज़रानी उद्योग को संरक्षण दिया जाए,
7) सभी राजनीतिक क़ैदियों को रिहा किया जाए।

अनेकों प्रेक्षकों को यह माँग-पत्र, पूर्ण-स्वराज से पीछे हटना जान पड़ा। गांधी जी के प्रस्ताव पर सरकार की प्रतिक्रिया नकारात्मक थी।

11.6.2 आंदोलन की शुरुआत

गांधी जी ने आंदोलन शुरू करने का निर्णय लिया। 12 मार्च, 1930 को अपने 78 चुने हुए अनुयायियों के साथ गांधी जी ने साबरमती आश्रम में दांडी समुद्र तट तक की ऐतिहासिक यात्रा शुरू की। वहाँ गांधी जी और उनके अनुयायियों ने समुद्र से नमक बनाकर नमक कानून तोड़ा। आंदोलन का कार्यक्रम इस प्रकार था:

क) हर जगह नमक कानून का उल्लंघन किया जाना।
ख) विद्यार्थियों को कालेज छोड़ना चाहिए और सरकारी कर्मचारियों को नौकरी से इस्तीफा देना चाहिए।
ग) विदेशी कपड़ों को जलाया जाना चाहिए।
घ) सरकार को कोई कर अदा नहीं किया जाना चाहिए।
ड.) औरतों को शराब की दुकानों के आगे धरना देना चाहिए, इत्यादि।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 135 24-03-2021 11:47:22

शुरू में, केंद्रीय मुद्दे के रूप में नमक का चयन उलझन पैदा करने वाला जान पड़ा। शीघ्र ही घटनाओं ने इस चयन के व्यापक प्रभाव को उजागर कर दिया। बाद में इरविन ने गांधी जी से सहमति प्रकट की कि ''आपने नमक के मसले पर एक अच्छी नीति तैयार की''। नमक गरीब ग्रामीणों की एक ठोस और सर्वव्याप्त शिकायत थी, जो अपने आप में इस मायने में लाजवाब थी कि उसमें सामाजिक फूट का कोई आशय न था। खान-पान की आदतों के संबंध में, नमक से लोगों को रोज़मर्रा का वास्ता था। इसके साथ विश्वास, मेहमान-नवाज़ी, पारस्परिक कर्तव्य के आशय भी जुड़े हुए थे। हम अर्थ में वह दूरगामी भावात्मक तत्व रखता था। इसके अतिरिक्त नमक कानून तोड़ने का अर्थ सरकार के उस दावे को ठुकराना था जो मानता था कि जनता की निष्ठा उसके साथ है। तटीय इलाकों में जहाँ, पिछली शताब्दी से ब्रिटिश आयात ने स्वदेशी नमक उत्पादन को नष्ट कर दिया था, अवैध नमक के निर्माण से लोगों को मामूली आमदनी मिल सकती थी, जो महत्वहीन नहीं थी। नमक निर्माण भी खादी उत्पादन की तरह, रचनात्मक कार्यों के गांधीवादी तरीकों का एक हिस्सा बन गया। गांधी के प्रभाव वाले ग्रामीण क्षेत्रों ने हर जगह नमक सत्याग्रह के लिए पहले स्वयंसेवक उपलब्ध कराए। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि दांडी मार्च और उसके बाद नमक-कानून के देशव्यापी उल्लंघन ने अहिंसात्मक जन-संघर्ष की शक्ति का अत्यधिक प्रभावशाली प्रदर्शन किया। सरकार के सम्पूर्ण नैतिक अधिकार और उसकी अपने-आपको ग़रीबों का ''माँ-बाप'' कहने वाली पैतृक छवि नष्ट हो रही थी।

11.6.3 आंदोलन का प्रसार

पुलिस और निम्न स्तर के प्रशासनिक अधिकारियों के सामाजिक बहिष्कार से अनेकों इस्तीफ़े दिए गए। अंग्रेजों द्वारा क्रूरता से चलाया गया दमन चक्र इस बात का प्रतीक था कि अंग्रेज खतरे की गंभीरता को अच्छी तरह समझ गए थे। किंतु निहत्थे, मुकाबला न करने वाले सत्याग्रहियों द्वारा घृणित यंत्रणा को झेलने के दृश्य ने जिस तरह से स्थानीय सहानुभूति और आदर को जागृत किया उस तरह अन्य कोई नहीं कर पाता। असहयोग आंदोलन के विपरीत इस आंदोलन में शुरू से ही कानून का उल्लंघन, गिरफ़्तारियों और मार-पीट का समावेश था। जेल जाने वालों की संख्या 92,214 थी जो 1921-22 की संख्या में तिगुनी थी। राष्ट्रीय आंदोलन के इस दौर में अहमदाबाद मिल-मालिकों, बम्बई के व्यापारियों और छोटे दुकानदारों (शहर के उद्योगपति कम उत्साही थे) और जी. डी. बिड़ला के नेतृत्व में कलकता के मारवाड़ियों का समर्थन प्राप्त था। इसे पूँजीपतियों का आन्दोलन को समर्थन देने के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, अनेक शहरों के व्यापारियों ने कुछ महीनों के लिए विदेशी माल का आयात बंद करने की सामूहिक शपथ ली। पिकेटिंग और मंदी के समग्र प्रभाव से ब्रिटिश कपड़ों के आयात में आश्चर्यजनक गिरावट आई। 1929-30 में 124 करोड़ 80 लाख गज़ से यह 1930-31 में सिर्फ 5 करोड़ तीस लाख गज़ रह गया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की एक अपूर्व और विलक्षण विशिष्टता औरतों की व्यापक हिस्सेदारी थी। जहाँ 1930 में कुछ स्नातकोत्तर महिला छात्राएँ अपनी कक्षाओं में अध्यापकों के संरक्षण में जा रही थीं, वहीं सामाजिक रूप से कहीं अधिक संकीर्ण पेशों, व्यापार या किसान परिवारों की औरतें, दुकानों का घेराव और लाठियों का सामना कर रही थीं तथा जेल जा रहीं थीं। हालांकि राजनीति में औरतों की अचानक सक्रिय हिस्सेदारी से परिवार के भीतर या बाहर उनकी परिस्थिति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया। गहरे धार्मिक परिवेश की गांधी जी की संतछवि शायद कहीं अधिक निर्णायक थी। कांग्रेस में शामिल होना एक नया धार्मिक मिशन था।

11.6.4 गांधी-इर्विन समझौता, गोलमेज सम्मेलन और दूसरा चरण

गांधी-इरविन समझौते के परिणाम अस्पष्ट थे। नेहरु जी के अलावा अनेक लोगों को पूर्ण स्वराज के निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के बहुत पहले ही, इस अप्रत्याशित विराम से निराशा हुई। खासकर, किसानों को विशेष रूप से यह महसूस हुआ कि उनके साथ धोखा किया गया है क्योंकि उन्होंने कांग्रेस के आदेश पर अपनी जमींने, और माल-असबाब का

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 136 24-03-2021 11:47:22

बलिदान किया था। भगत सिंह को फाँसी पर चढ़ाए जाने के कुछ दिनों बाद जब कराची में कांग्रेस का अधिवेशन शुरू हुआ, तब गांधी जी के खिलाफ काले झंडे का प्रदर्शन भी हुआ था। यद्यपि नेहरु जी इससे बिल्कुल संतुष्ट नहीं थे, किंतु उन्होंने ही दिल्ली समझौते को स्वीकार करने का मुख्य प्रस्ताव रखा जिसमें नयी नीति का अनुमोदन किया गया।

गांधी जी का दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेंस में शामिल होना व्यर्थ ही हुआ। पहली कान्फ्रेंस जनवरी, 1931 में उस समय हुई जबकि सविनज्ञ आंदोलन अभी जारी था और कांग्रेस, काफ्रेंस का बहिष्कार कर रही थी। इस कान्फ्रेंस में रैमसे मैकडोनाल्ड ने केंद्र में उत्तरदायी शासन स्थापित करने का अनूठा प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव की दो विशेषताएँ थीं: एक संघीय-सभा (Federal Assembly) जिसमें शामिल होने वाले राजा अपने सदस्य नामित करेंगे और दूसरी, सुरक्षा विदेशी कार्य, वित्त और अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश नियंत्रण बनाए रखने के लिए ''अनेक नियंत्रण और रक्षा उपाय''। इसे चर्चा के आधार के रूप में स्वीकार करने के उपरांत कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से गांधी जी की दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेंस में मुसलमान नेताओं, अनुसूचित जाति के प्रतिनिधि अम्बेडकर, जिन्होंने अछूतों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र की माँग करनी शुरू कर दी थी और राजाओं से अंत तक तकरार होती रही। अंग्रेज उल्लासपूर्वक यह दृश्य देख रहे थे। कांग्रेस को स्पष्ट रूप से मात दे दी गयी थी।

जब आंदोलन दुबारा शुरू हुआ तब शुरू के तीन महीनों में एक लाख बीस हज़ार लोगों को जेल हो गयी। यह संख्या इस बात की इतनी प्रतीक नहीं है कि आंदोलन 1930 की तुलना में अधिक व्यापक हो गया था बल्कि यह उस तीव्र और सुव्यवस्थित दमन चक्र का प्रतीक है। लेकिन बहुत जल्द ही जेल जाने वाले लोगों की संख्या में कमी आने लगी। जैसे-जैसे क्रूर दमन के फलस्वरूप जन-आंदोलन धीरे-धीरे फीका पड़ रहा था, राजनीतिक यथार्थ ने और आर्थिक गणना ने व्यापारियों को अंग्रेजों के साथ सहयोग द`ने की ओर प्रवृत्त किया।

यह अस्वाभाविक नहीं था कि जेल में गांधी जी ने सम्मानपूर्वक पीछे हटने की दृष्टि से सोचना शुरू किया। उन्होंने मई, 1933 में सविनय अवज्ञा आंदोलन को थोड़े समय के लिए स्थागित कर दिया और अप्रैल, 1934 में उसे औपचारिक रूप से वापस ले लिया। महात्मा जी ने हरिजन कल्याण कार्य को अपने नए ग्रामीण रचनात्मक कार्यक्रम का मुख्य मुद्दा बनाया। यह अंग्रेजों की ''फूट डालो और राज करो'' की नीति का जवाब था। (अंग्रेजों की यह नीति 1932 के आरंभ में रैमसे मैकडोनाल्ड द्वारा घोषित औपचारिक साम्प्रदायिक पंचाट (Communal Award) में परिलक्षित हुई)। इस पंचाट में नए संघीय विधानमंडलों के लिए हिंदू, ''अछूत'' और मुसलमान निर्वाचन क्षेत्रों की अलग से व्यवस्था थी। गांधी जी ने इस पंचाट का विरोध किया क्योंकि उसमें हिंदू और हरिजनों को दो अलग राजनीतिक सत्ता माना गया। उन्होंने हिंदू निर्वाचन क्षेत्र से ही हरिजनों के लिए अधिक सीटों के आरक्षण की माँग की। हरिजन नेता, अम्बेडकर ने गांधी जी के दृष्टिकोण का समर्थन किया।

11.7 भारत छोड़ो आंदोलन की पृष्ठभूमि

युद्ध की प्रतिकूल परिस्थितियों और अंतर्राष्ट्रीय दवाबों ने अंग्रेजों को भारत के साथ एक सौहार्दपूर्ण समझौता करने और युद्ध में उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए विवश कर दिया। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स कुछ प्रस्तावों के साथ भारत आए और उन्होंने विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के नेताओं के साथ बातचीत की।

11.7.1 क्रिप्स के प्रस्ताव

क्रिप्स के कुछ प्रस्ताव जो घोषणा-पत्र के प्रारूप में शामिल थे, इस प्रकार थे:

- युद्ध समाप्त होने के तुंरत बाद भारत को, पृथक होने के अधिकार सहित, डॉमिनियन स्टेट्स दे दिया जाएगा।
- युद्ध समाप्त होने के तुरंत बाद एक संविधान निर्मात्री संस्था का गठन किया जाएगा। इसमें ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधि होंगे।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 137 24-03-2021 11:47:22

- इस तरह युद्धोपरांत बनाया गया संविधान अंग्रेज सरकार द्वारा इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया जाएगा कि कोई भी भारतीय प्रांत, यदि वह चाहे तो, भारतीय संघ से बाहर रह सकेगा और इस मसले पर ब्रिटेन से सीधी बातचीत कर सकेगा।
- रक्षा और सैनिक कार्रवाइयों का वास्तविक नियंत्रण अंग्रेज़ सरकार के पास रहेगा।

इस घोषणा-पत्र को तकरीबन सभी भारतीय पार्टियों ने अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस भविष्य के वादों पर भरोसा नहीं करना चाहती थी। वह पूर्ण अधिकारों सहित उत्तरदायी सरकार और देश की रक्षा पर नियंत्रण भी चाहती थी। गांधीजी ने प्रस्तावों की उपमा ''एक दिवालिया बैंक के नाम काटे गए उत्तर दिनांकित चेक से दी''।

8 अगस्त, 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने ''भारत छोड़ो प्रस्ताव'' पारित कर दिया। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों पर विस्तार से चर्चा करने के बाद, कांग्रेस ने भारत के लोगों से अपील की। गांधी जी ने अंग्रेजों से यहां से चले जाने और ''भारत को भगवान भरोसे छोड़ने'' के लिए कहा। उन्होंने सभी वर्गों को प्रोत्साहित किया कि वे आंदोलन में भाग लें, उन्होंने जोर देकर कहा ''प्रत्येक भारतीय को जो आज़ादी चाहता है और इसके लिए प्रयत्न करना चाहता है, अपना अगुआ स्वयं बनना चाहिए''। उनका संदेश था ''करो या मरो''। इस तरह ''भारत छोड़ो आंदोलन'' शुरू हो गया।

11.7.2 'करो या मरो' का आह्वान और आंदोलन का आरंभ

कांग्रेस ने अंग्रेजों को निकाल बाहर करने का आह्वान तो किया लेकिन इसके पालन के लिए लोगों को कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं दिया। सरकार इस आंदोलन को कुचलने की तैयारियाँ कर रही थी। 9 अगस्त की सुबह गांधी जी सहित कांग्रेस के सभी प्रमुख नेता गिरफ़्तार कर लिए गए। 9 अगस्त को अपनी गिरफ़्तारी से पूर्व गांधी जी ने देश के नाम निम्न संदेश दिया था। लेकिन यह संदेश देने के साथ गांधी जी ने एक बार फिर अहिंसा पर बल दियाः

''प्रत्येक व्यक्ति इसके लिए स्वतंत्र है कि वह हड़ताल और अन्य अहिंसक साधनों से गतिरोध पूरा करने के लिए अहिंसा के अंतर्गत, अपनी आखिरी हदों तक काम करे। सत्याग्रहियों को जीवन के लिए नहीं बल्कि मृत्यु के लिए बाहर निकलना है। उन्हें मृत्यु का सामना करना है, उसे गले लगाना है। जब प्रत्येक व्यक्ति मरने के लिए निकलेगा तभी देश जीवित रहेगा। करेंगें या मरेंगें।''

गांधी और उनके साथ अन्य कांग्रेसी नेताओं की गिरफ़्तारी पर देश के विभिन्न भागों में अभूतपूर्व जन-प्रतिक्रिया हुई। शहरों और कस्बों में हड़तालों, जुलूस और प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू हो गया। हालांकि आह्वान कांग्रेसी नेतृत्व का था, परंतु वास्तव में आंदोलन जनता ने शुरू किया। चूँकि राष्ट्रीय, प्रांतीय और स्थानीय स्तर के सभी मान्य नेता गिरफ़्तार कर लिए गए थे इसलिए इनकी जगह भरने के लिए उनके क्षेत्रों में स्थानीय स्तरों पर युवा और उग्र, विशेषरूप से समाजवादी रुझान वाले छात्र नेता उभर कर आए।

11.7.3 आंदोलन का फैलाव और सरकारी दमन

प्रारंभिक चरणों में आंदोलन अहिंसा की सीमाओं में रहा। पर सरकार की दमनकारी नीति ने लोगों को हिंसा के लिए उकसाया। अहिंसक संघर्ष का गांधी जी का संदेश पृष्ठभूमि में चला गया और लोगों ने संघर्ष को अपने-अपने तरीके ईजाद कर लिए। इनमें ये कदम शामिल थेः

- सरकारी इमारतों, पुलिस थानों और डाकघरों पर हमले,
- रेलवे स्टेशनों पर हमले, और रेल की पटरियों को उखाड़ना,
- टेलीग्राफ, टेलीफोन और बिजली के तारों को काटना,
- पुलों को नष्ट करके सड़क यातायात भंग करना, और
- मज़दूरों की हड़ताल आदि।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 138 24-03-2021 11:47:22

इनमें से अधिकांश कार्रवाइयाँ सेना और पुलिस की गतिविधि को रोकने के लिए थीं, जिनका इस्तेमाल सरकार आंदोलन को कुचलने के लिए कर रही थी। कई क्षेत्रों में सरकार का कोई नियंत्रण नहीं रह गया और यहां स्थानीय जनता ने ''स्वराज'' कायम कर दिया। कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं:

- महाराष्ट्र में, सतारा में एक समानान्तर सरकार स्थापित कर दी गयी जो लम्बे समय तक चलती रही।
- बंगाल में, तामलुक जातीय सरकार मिदनापुर जिले में काफी समय तक काम करती रही। इस राष्ट्रीय सरकार के पास कानून और व्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि आदि विभागों के साथ-साथ डाक व्यवस्था तथा मध्यस्थता (Arbitration) अदालतें भी थीं।
- उड़ीसा में तलचर (Talacher) में लोगों ने स्वराज स्थापित किया।
- पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के कई भागों में (आजमगढ़, बलिया, गाजीपुर, मुंगेर, मुज़फ्फरपुर इत्यादि) लोगों ने पुलिस थानों पर कब्ज़ा कर लिया और सरकारी सत्ता को उखाड़ फेंका।

प्रारंभ में यह आंदोलन शहरी इलाकों में ही प्रभावी था, परंतु शीघ्र ही इसका प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों में भी हो गया जहाँ विद्रोह का झंडा लम्बे समय तक ऊंचा उठा रहा। पूरे भारतवर्ष में आंदोलन को एक व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार बंबई में, अरूणा आसिफ़ अली जैसी नेता के नेतृत्व में समाजवादी नेताओं ने अपनी भूमिगत गतिविधियाँ जारी रखीं। भूमिगत आंदोलन की सबसे साहसपूर्ण कार्रवाई कांग्रेस रेडियो की स्थापना थी, जिसकी उद्घोषिका उषा मेहता थी। यह रेडियो लम्बे समय तक सक्रिय रहा। आंदोलन में छात्रों ने व्यापक रूप से भाग लिया। वे देहात में फैल गए और वहाँ ग्रामीणों को दिशा-निर्देश देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

11.7.4 दमन

व्यापक जन आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार ने अपनी सारी ताकत लगा दी थी। गिरफ़्तारियों, नज़रबंदियाँ, पुलिस गोली चालन, कांग्रेस कार्यालयों को आग लगाना, आदि वे तरीके थे जो सरकार ने अपनाए।

- 1942 के अंत तक अकेले यू. पी. में 16,089 लोग गिरफ़्तार किए गए। सारे भारत में 1943 के अंत तक गिरफ़्तारियों का सरकारी आँकड़ा 91,836 था।
- सितम्बर 1942 तक पुलिस गोली चालन में मारे गए लोगों की संख्या 658 थी, और 1943 तक यह संख्या 1060 हो गई थी। लेकिन ये सरकारी आँकड़े थे। वस्तुतः इससे कहीं अधिक लोग मरे थे और बहुत से घायल हुए थे।
- अकेले मिदनापुर में सरकारी बलों ने 31 कांग्रेस शिविरों और 164 निजी घरों को आग लगायी थी। बलात्कार के 74 मामले हुए। इनमें से 46 पुलिस द्वारा एक ही दिन में एक ही गाँव में 9 जनवरी 1943 को किए गए थे।
- सरकार ने 5 स्थानों पर लोगों पर गोली चलाने के लिए हवाई जहाज़ों के प्रयोग की बात स्वीकार की। ये स्थान थे – पटना के निकट गिरिक (Giriak) भागलपुर जिला, नाडिया जिले में रानाघाट, मुंगेर जिला, तलचर (Talacher) शहर के निकट।
- लाठीचार्ज, कोड़े मारने, बंदी बनाने की अनगिनत घटनाएँ हुई।
- आंदोलन प्रभावित क्षेत्रों के निवासियों से सामूहिक जुर्माना वसूल किया गया। उदाहरण के लिए, यू. पी. में इस तरह के जुर्माने की कुल धनराशि 28,32,000 रुपए थी, और फ़रवरी 1943 तक 25,00,000 रुपए वसूल कर लिए गए थे।

भारत छोड़ो आंदोलन असफल हो गया। परंतु इसने अंग्रेज़ राज से छुटकारा पाने के लिए जनता के दृढ़ इरादे को बखूबी ज़ाहिर कर दिया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 139 24-03-2021 11:47:22

बोध प्रश्न-2

1) असहयोग आंदोलन में गांधी की भूमिका का आकलन कीजिए।

.....

.....

.....

2) सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ों आंदोलन के प्रति लोकप्रिय प्रतिक्रिया की विस्तार से चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

11.8 सारांश

प्रथम युद्ध के बाद, राष्ट्रीय आंदोलन और अधिक तीव्र हो गया और इसमें विभिन्न सामाजिक समूहों और वर्गों के शामिल होने से यह एक वास्तविक जन आंदोलन बन गया। अनेक कारकों ने इस विकास में योगदान दिया। उनमें से एक मोहनदास करमचंद गांधी का प्रवेश था जो दक्षिण अफ्रीका में नस्लीय भेदभाव के खिलाफ़ बड़े पैमाने पर जन लामबंदी का अनुभव प्राप्त करने के बाद भारत आए थे। गांधी ने नए तरह के विचारों और तकनीकों का इस्तेमाल किया जिससे आम लोगों के लिए आंदोलन में भाग लेना आसान हो गया। वह 1920 तक राष्ट्रीय आंदोलन के निर्विवाद नेता बन गए और 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त होने तक बने रहे। उनके सभी अभियानों और आंदोलनों में सामान्य लोगों के मुद्दों और शिकायतों का उचित समावेश था और उनके आंदोलन नैतिक ताने-बाने से जुड़े हुए थे। इसलिए उनकी अपील तीन प्रमुख आंदोलनों और अन्य स्थानीय आंदोलनों में स्पष्ट थी। उन्होंने भारतीय लोगों को सत्याग्रह और अहिंसा के हथियारों द्वारा बदल दिया जो प्रभावी रूप से दमनकारी औपनिवेशिक राज्य के खिलाफ़ इस्तेमाल किए गए थे।

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) उपभाग 11.4.1 देखें।

2) भाग 11.3 देखें।

बोध प्रश्न-2

1) भाग 11.5 देखें।

2) भाग 11.6 और 11.7 देखें।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 140 24-03-2021 11:47:22

इकाई 12 साम्प्रदायिकता : उत्पत्ति, विकास और भारत का विभाजन

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 साम्प्रदायिकता क्या है?

12.3 साम्प्रदायिकता के बारे में मिथक

12.4 साम्प्रदायिकता का उद्‌भव और विकास

12.4.1 सामाजिक एवं आर्थिक कारक

12.4.2 ब्रिटिश नीति की भूमिका

12.4.3 राष्ट्रीय आंदोलन की कमजोरियाँ

12.5 बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिकता

12.5.1 बंगाल का विभाजन और मुस्लिम लीग का गठन

12.5.2 पृथक निवार्चन मंडल

12.5.3 लखनऊ समझौता

12.6 नेहरु रिपोर्ट और जिन्ना से मार्ग भिन्न होना

12.7 जन-साम्प्रदायिकता की ओर

12.8 ब्रिटिश नीति का अंतिम चरण और विभाजन

12.8.1 चुनाव, कैबिनेट मिशन और मुस्लिम लीग की भूमिका

12.9 साम्प्रदायिक नर-संहार और अंतरिम सरकार

12.10 सारांश

12.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

आप सभी ''साम्प्रदायिक'' शब्द से परिचित हैं। लेकिन क्या आपने कभी सोचा कि वास्तव में सांप्रदायिकता का क्या अर्थ है और हमारे समाज में इसकी इतनी गहरी जड़ें क्यों हैं? इस इकाई में भारत में सांप्रदायिकता से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- सांप्रदायिकता की व्याख्या कर सकते हैं और सांप्रदायिकता के विभिन्न प्रकारों के बीच फर्क कर सकते हैं;
- समझ सकते हैं कि भारतीय समाज एवं राजनैतिक सोच में सांप्रदायिकता का उदय कैसे हुआ;
- उन विभिन्न शक्तियों का मूल्यांकन कर सकते हैं जो इसे बढ़ावा देती हैं;
- 20वीं शताब्दी में इसके विकास को इंगित कर सकते हैं;
- ब्रिटिश शासन के अंतिम दशक में साम्प्रदायिकता की प्रकृति को व्याख्यायित कर सकेंगे;

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 141 24-03-2021 11:47:22

- पाकिस्तान की माँग की पृष्ठभूमि की जानकारी दे सकेंगे;
- भारत के विभाजन से संबंधित राजनीतिक गतिविधियों को पहचान सकेंगे; और
- पाकिस्तान के निर्माण में अंग्रेजों, लीग और कांग्रेस की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

किसी भी विकासशील देश की प्रमुख प्राथमिकताओं में देश के अंदर जनता में एकता बनाए रखना भी महत्वपूर्ण है। आधुनिक भारत के इतिहास में इस प्रकार की एकता के लिए भारतीय जनता, समाज तथा राजनीति के सांप्रदायिकीकरण के कारण बहुत बड़ी चुनौती उठ खड़ी हुई। जहाँ एक ओर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का उद्देश्य सभी भारतीयों की एकता थी, वहीं धार्मिक संप्रदाय, धार्मिक हितों और अंततः धार्मिक राष्ट्र की कृत्रिम सीमाएँ तैयार करके लोगों में धार्मिक आधार पर फूट डालने के लिए सांप्रदायिकता प्रयत्नशील रही। इस इकाई में भारत में सांप्रदायिकता के उत्थान तथा विभिन्न शक्तियों के गठजोड़ तथा उनके विकास जिसके कारण सांप्रदायिकता को स्थायित्व मिला, के विषय में जानकारी दी जाएगी। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में सामाजिक-आर्थिक विकास की अपनी विशिष्टता, औपनिवेशिक शासन एवं कुछ औपनिवेशिक नीतियों का प्रभाव, सांप्रदायिकता विरोधी राष्ट्रीय शक्तियों की कमजोरी और अंततः सांप्रदायिक शक्तियों की सक्रिय भूमिका इत्यादि इस इकाई में रेखांकित किए जाएंगे।

1940 का दशक साम्प्रदायिकता का सबसे संकटकालीन और निर्णायक चरण था। इसी काल में पाकिस्तान की माँग को सामने रखा गया और प्रचारित किया गया। इसी दशक (1947) में पाकिस्तान का निर्माण भी हुआ। इस इकाई में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि आप पाकिस्तान बनने की प्रक्रिया से परिचित हो सकें। साथ ही साथ इससे जुड़ी प्रमुख घटनाओं से आपका साक्षात्कार कराया जाएगा।

12.2 सांप्रदायिकता क्या है?

ऐसा माना जाता है कि सामान्यतः सांप्रदायिकता एक ऐसी धारणा है, जिसके अनुसार समान धर्म वाले लोगों के बीच समान सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हित और अस्मिताएँ हों – दूसरे शब्दों में, सांप्रदायिकता ऐसी मान्यता है जिसके अनुसार धर्म समाज का आधार तथा समाज के विभाजन की आधारभूत इकाई तैयार करता है। इसके अनुसार धर्म ही सभी अन्य मानवीय हितों का प्रतिपादन करता है। सांप्रदायिकता को बेहतर रूप में समझने के लिए आइए इसे एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए। मनुष्य एक बहुरूपी सामाजिक प्राणी है जो एक साथ कई पहचान रखता है। उसकी पहचान उसके देश, क्षेत्र, लिंग, व्यवसाय, परिवार के अंतर्गत उसके अपने स्तर, धर्म, जाति आदि के आधारों पर हो सकती है। सांप्रदायवादी इन तमाम आधारों में से केवल धार्मिक पहचान को ही चुनता है और इसे आवश्यकता से कहीं अधिक महत्व देने का प्रयास करता है, परिणामतः सामाजिक संबंध, राजनैतिक समझ तथा आर्थिक संघर्ष धार्मिक पहचान के आधार पर व्याख्यायित किए जाते हैं। संक्षेप में तमाम महत्वपूर्ण पहलुओं को नजरअंदाज करके धर्म को अनावश्यक रूप से अत्यधिक महत्व देना संप्रदायवाद का आरंभ है।

संक्षिप्त रूप में सांप्रदायिक प्रचार एवं तर्क निम्नलिखित तीन स्तरों पर थे :

1) किसी धार्मिक संप्रदाय के सभी सदस्यों के हित समान होते हैं। उदाहरण के लिए, यह तर्क कि मुसलमान जमींदार एवं किसान के हित एक हैं क्योंकि दोनों एक ही संप्रदाय के सदस्य हैं (यही तर्क सिख अथवा हिन्दू संप्रदाय पर भी लागू होता है)।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 142 24-03-2021 11:47:22

2) किसी धार्मिक संप्रदाय के सदस्यों के हित दूसरे संप्रदाय के सदस्यों से भिन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि सभी हिन्दुओं के हित मुस्लिमों के हितों तथा इसी प्रकार मुस्लिमों के हित हिन्दुओं के हितों से भिन्न थे।

3) न केवल इन हितों में भिन्नता थी बल्कि ये हित आपस में टकरावपूर्ण एवं विपरीत भी थे। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर्विरोधी हितों के कारण हिन्दुओं एवं मुसलमानों का सह अस्तित्व संभव नहीं था।

12.3 सांप्रदायिकता के बारे में मिथक

सांप्रदायिकता को अधिकतर गलत रूप में समझा जाता रहा है और परिणामस्वरूप इसके प्रति अनेक मिथक बन चुके हैं। इस दृष्टि से यह अति आवश्यक हो जाता है कि यह जाना जाय कि सांप्रदायिकता क्या नहीं है। सांप्रदायिकता को समझने की प्रक्रिया में इससे जुड़े मिथकों को ध्यान में रखना जरूरी है।

1) प्रचलित दृष्टिकोण के विपरीत, सांप्रदायिकता केवल धर्म का राजनीति में प्रवेश मात्र अथवा केवल राजनीति की धार्मिक रूप में व्याख्या मात्र नहीं है। दूसरे शब्दों में धर्म के राजनीति में प्रवेश से आवश्यक रूप में सांप्रदायिकता का उदय नहीं हुआ। उदाहरण के लिए, बीसवीं शताब्दी के दो महानतम धर्मनिरपेक्ष नेता महात्मा गांधी और मौलाना अबुल कलाम आजाद काफी धार्मिक थे और अपनी राजनीति को धार्मिक रूप में व्याख्यायित करते थे।

2) सांप्रदायिकता धार्मिक मतभेदों का परिणाम नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, आर्थिक मतभेद अपने आप में सांप्रदायिकता का सूत्रपात नहीं करते। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच धार्मिक मतभेद शताब्दियों से चले आ रहे थे किन्तु केवल आधुनिक काल में पहुँच कर ही इन मतभेदों ने सांप्रदायिकता का रूप लिया। दरअसल सांप्रदायिकता धार्मिक समस्या है ही नहीं।

3) सांप्रदायिकता भारतीय समाज में अंतर्निहित नहीं थी, जैसा कि माना जाता रहा है। यह भारत के भूतकाल की निरंतरता नहीं बल्कि कुछ विशेष परिस्थितियों एवं विभिन्न शक्तियों के गठजोड़ का परिणाम थी। सांप्रदायिकता आधुनिक भारत में ही उपजी यह उतनी ही आधुनिक है जितना कि औपनिवेशिक शासन। सांप्रदायिकता की व्याख्या आधुनिक भारत में हुए राजनैतिक एवं आर्थिक विकासों के संदर्भ में की जानी चाहिए।

बोध प्रश्न-1

1) आप सांप्रदायिकता से क्या समझते हैं? उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

2) निम्न में कौन से वक्तव्य सही (✓) अथवा गलत (×) है।

i) सांप्रदायिकता केवल धार्मिक मतभेदों का ही परिणाम नहीं है।

ii) सांप्रदायिकता भारतीय समाज में अंतर्निहित थी।

iii) सांप्रदायिकता एक आधुनिक समस्या है।

iv) सांप्रदायिक तर्क गलत समझ पर आधारित थे तथा भारतीय वास्तविकता से परे थे।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 143 24-03-2021 11:47:23

12.4 सांप्रदायिकता का उद्भव और विकास

फिर इस समस्या का आरंभ कहाँ से हुआ? सांप्रदायिकता की उत्पत्ति अंग्रेजी साम्राज्य के भारत में प्रवेश करने के साथ देखी जानी चाहिए जिसका प्रभाव भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर अद्भुत रूप से पड़ा।

12.4.1 सामाजिक एवं आर्थिक कारक

भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के उदय ने शक्ति संरचना में भारी परिवर्तन किए जिसका प्रभाव भारतीय समाज के सभी वर्गों पर पड़ा। साम्राज्यवाद के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय मुसलमानों का पतन शुरू हुआ। बंगाल में, जहाँ कि उच्चवर्गीय मुसलमानों का सेना के उच्च पदों, प्रशासन एवं न्यायालयों में रोजगार पर अर्ध आधिपत्य था, इसका सबसे अधिक प्रभाव देखने में आया, धीरे-धीरे भूमि पर भी उनका आधिपत्य कम होने लगा।

हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों ने शिक्षा, संस्कृति, नए व्यवसाय तथा प्रशासन में पद जैसी सरकारी सुविधाओं को बाद में अपनाया। परिणामतः हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में पुरानी परंपराओं, रवैयों और मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन के लिए बौद्धिक जागरण भी बाद में हुआ। इस बिन्दु पर राम मोहन राय तथा सैयद अहमद खान के बीच अंतराल का उदाहरण कथन में स्पष्टता ला सकता है। इस अंतराल के कारण मुसलमानों के बीच कमजोरी तथा असुरक्षा की भावना ने परंपरागत विचार प्रक्रिया तथा धर्म पर उन्हें आश्रित बना दिया।

12.4.2 ब्रिटिश नीति की भूमिका

सांप्रदायिकता के विकास के लिए अंग्रेजी नीति मुख्य रूप से जिम्मेदार है। यदि सांप्रदायिकता भारत में पनपी और इसने भयावह रूप धारण कर लिया जैसा कि 1947 के उदाहरण से स्पष्ट है, तो इसके लिए बहुत कुछ अंग्रेजी सरकार जिम्मेदार है जिसने कि सांप्रदायिकता को काफी बढ़ावा दिया। लेकिन इससे पूर्व कि हम अंग्रेजी नीति पर चर्चा करें, कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होते हैं। अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता को जन्म नहीं दिया। जैसा कि हमने देखा, कुछ सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक मतभेद पहले से ही मौजूद थे। अंग्रेजों ने इनका निर्माण नहीं किया बल्कि सिर्फ इन परिस्थितियों का लाभ उठाया था जिससे उनका राजनैतिक उद्देश्य पूरा हो सके। इसलिए यह स्पष्ट है कि ''फूट डालो और राज करो'' की अंग्रेजी नीति जिस पर हम चर्चा करने जा रहे हैं केवल इसलिए सफल हो सकी क्योंकि समाज की आंतरिक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उस सफलता में भूमिका निभा रही थीं। यह समझना महत्वपूर्ण है कि सांप्रदायिकता के विकास एवं उसके इस्तेमाल तथा ''फूट डालो और राज करो'' की नीति के लिए परिस्थितियाँ अत्यंत अनुकूल थीं।

1857 के बाद सरकार के समक्ष मुख्य रूप से दो उद्देश्य थेः

1) समाज में समर्थक बनाना, नियंत्रण एवं प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से कुछ वर्गों को संरक्षण देना और इस प्रकार समाज में अपने आधार को मजबूत करना।

2) भारतीयों में एकता न होने देना। यदि समाज के सभी वर्ग एक विचारधारा के अंतर्गत हो जाते तो अंग्रेजी साम्राज्य के लिए खतरा पैदा कर सकते थे। इसलिए सांप्रदायिक विचारधारा को इस्तेमाल करके उसे बढ़ावा देते हुए भारतीयों में एकता नहीं होने दी गयी। बीसवीं शताब्दी में यह कार्य और प्रभावपूर्ण ढंग से किया गया और राष्ट्रीय विचारधारा, संगठन और माँगों के न्यायसंगत होने तथा उनकी प्रमाणिकता को नकारने के उद्देश्य से सांप्रदायिक माँगों और संगठनों को प्रोत्साहित किया गया। इस प्रकार एक ओर मुसलमानों को कांग्रेस से दूर करने का भरसक प्रयास किया गया और दूसरी और कांग्रेस के दावों को यह कहकर ठुकराया जाता रहा कि कांग्रेस मुसलमानों का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही है। सांप्रदायिकता ने सरकार को एक और लाभ पहुँचाया। सांप्रदायिक तनाव बने रहने तथा इसके और

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 144 24-03-2021 11:47:23

बदतर होने को अंग्रेजी शासन ने अपनी सरकार बनाए रखने के एक बहाने के रूप में इस्तेमाल किया। उनके तर्क इस प्रकार थे – कि भारतीय जनता आपस में विभाजित है, अतः यदि ब्रिटिश शासन समाप्त भी हो जाए तो भी वे सरकार बनाने की स्थिति में नहीं हैं।

12.4.3 राष्ट्रीय आंदोलन की कमजोरियाँ

बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिकता के विकास को राष्ट्रवादी आंदोलन द्वारा ही रोका जा सकता था। सांप्रदायिक विचारधारा राष्ट्रवादी विचारधारा एवं शक्तियों के द्वारा ही परास्त की जा सकती थी। लेकिन एक राष्ट्रवादी विचारधारा एवं शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जनसाधारण में सांप्रदायिकता फैलने से न रोक सकी। कांग्रेस राष्ट्रवाद एवं धर्मनिरपेक्षता के प्रति कटिबद्ध थी और भारतीयों में एकता लाने की इच्छुक थी। उसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में सांप्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष भी किया लेकिन वह असफल रही। इसके कई कारण थे।

- कांग्रेस सांप्रदायिकता के स्वरूप को पूरी तरह नहीं समझ सकी जिसके कारण इससे लड़ने के लिए एक समग्र रणनीति तैयार करने में असफल रही।
- राष्ट्रीय आंदोलन में कुछ हिन्दू पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ प्रवेश कर गयी जिन्होंने कांग्रेस द्वारा मुसलमानों का विश्वास प्राप्त करने और उन्हें अपने साथ ले चलने के प्रयत्न में बाधा उत्पन्न की। साथ ही कुछ हिन्दू प्रतीकों (जैसे रामराज्य) के इस्तेमाल ने भी इसमें बाधा उत्पन्न की।

फिर भी इन सीमाओं को समस्या की जटिलता के संदर्भ में देखा जाना चाहिए विशेषकर सरकार के सांप्रदायिकता के प्रति रवैये को देखते हुए इस समस्या को सुलझाना अत्यंत कठिन कार्य हो गया था। अंग्रेजी सरकार ने विभिन्न राजनैतिक दलों के बीच समझौता न होने देने के हर संभव प्रयास किए। कांग्रेस मुसलमानों को जो भी सुविधाएँ देने की कोशिश करती अंग्रेजी सरकार उससे अधिक रियायतें दे देती थी और कांग्रेस एक बार फिर मुसलमानों का समर्थन पाने में असफल रह जाती थी।

बोध प्रश्न-2

1) सांप्रदायिकता के प्रति अंग्रेजी नीति पर उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

2) सांप्रदायिकता के विकास को रोकने में कांग्रेस की कमजोरियों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

12.5 बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिकता

इस भाग में हम सांप्रदायिकता की समस्या से जुड़े हुए बीसवीं शताब्दी में हुए कुछ मुख्य गतिविधियों पर दृष्टिपात करेंगे। हम उन पर संक्षिप्त चर्चा करके यह जानने का प्रयास करेंगे कि उन्होंने सांप्रदायिकता की समस्या को कैसे प्रभावित किया। पिछले भाग में अंग्रेजी नीति एवं कांग्रेस से संबंधित बिंदुओं पर चर्चा की गयी है, आगे के भाग में इन बिंदुओं पर और प्रकाश डाला जाएगा।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 145 24-03-2021 11:47:23

12.5.1 बंगाल का विभाजन और मुस्लिम लीग का गठन

संभवतः बंगाल का विभाजन (1905) प्रशासनिक कदम के रूप में किया गया, लेकिन इसने जल्द ही अंग्रेजी सरकार को एक अन्य राजनैतिक लाभ प्रदान किया, क्योंकि इसने बंगाल को हिन्दू बाहुल्य और मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्रों में बाँट दिया। इस प्रकार यह बंगाल के राष्ट्रवाद को कमजोर बनाने और उसके विरुद्ध मुसलमानों को मजबूत करने की अंग्रेजों की इच्छा का परिणाम था। वाइसराय कर्जन के अनुसार, ''विभाजन पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को वह एकता प्रदान करेगा जो कि पुराने मुसलमान शासकों और राजाओं के शासन के काल के बाद उन्हें फिर से नहीं प्राप्त हो सकी थी।'' विभाजन की योजना और स्वदेशी आंदोलन के साथ ही सरकारी संरक्षण में 1906 के अन्त में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का गठन हुआ। इस दल में आगा खाँ, ढाका के नवाब और नवाब मुहसिन्नुल मुल्क जैसे बड़े जमींदार, भूतपूर्व नौकरशाह और उच्च वर्गीय मुसलमान शामिल थे। इसका उद्देश्य नौजवान मुसलमानों को कांग्रेस की ओर न जाने देने और फलतः राष्ट्रवादी मुख्यधारा में शामिल नहीं होने देना था।

मुस्लिम लीग का गठन पूर्ण रूप से सरकार के प्रति निष्ठा की भावना से प्रेरित था और इसका एकमात्र कारण समर्थन और संरक्षण के लिए सरकार का दामन पकड़ना था। इस उद्देश्य में उन्हें निराशा नहीं हुई।

इस काल का एक महत्वपूर्ण तथ्य मुस्लिम अलगाववाद का विकास था, जिसके कारण थे –

- स्वदेशी आंदोलन के दौरान पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों का फैलना।
- सरकार का यह प्रचार कि बंगाल के विभाजन से मुसलमानों को फायदा होगा।
- सांप्रदायिक दंगे भड़कना। स्वदेशी आंदोलन के दौर में पूर्वी बंगाल में कई सांप्रदायिक दंगे हुए।

12.5.2 पृथक निर्वाचन मंडल

1909 में विधान परिषदों के लिए निर्वाचन मोरले मिंटो सुधारों का एक महत्वपूर्ण अंग था। सांप्रदायिकता के इतिहास में यह महत्वपूर्ण कदम था। पृथक निर्वाचन मंडल का अर्थ चुनाव क्षेत्रों, मतदाताओं और निर्वाचित उम्मीदवारों को धर्म के आधार पर समूहों में बाँटना था। व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ भिन्न मुस्लिम चुनाव क्षेत्र, मुस्लिम मतदाता और मुस्लिम उम्मीदवार की प्रथा आरंभ करना था। इसका अर्थ यह भी था कि गैर-मुस्लिम मतदाता मुस्लिम उम्मीदवारों के लिए मतदान नहीं कर सकते थे। इस प्रकार चुनाव प्रचार और राजनैतिकरण को धार्मिक दीवार के बीच सीमाबद्ध कर दिया। इन सभी घटनाओं के खतरनाक परिणाम अवश्यम्भावी थे।

पृथक निर्वाचक मंडल की प्रक्रिया आरंभ करने के पीछे सोच यह थी कि भारतीय समाज भिन्न हितों और समूहों का जमघट है और यह बुनियादी रूप में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच बँटा हुआ है। भारतीय मुसलमान एक भिन्न और मजबूत समुदाय के रूप में देखे गए। इसका उद्देश्य अपने संभावित सहयोगियों के हाथ मजबूत करना और हिन्दू-मुस्लिम एकता न होने देना था।

इन सुधारों के तहत मुसलमानों को आश्वासन दिया गया कि उन्हें कौंसिलों का प्रतिनिधित्व केवल उनकी संख्या के आधार पर ही नहीं बल्कि उनके ''राजनैतिक महत्व'' के आधार पर भी दिया जाएगा।

पृथक निर्वाचन मण्डल के प्रभाव निम्न रूप से श्रेणीबद्ध किए जा सकते हैं :

- इसने ऐसी संस्थागत संरचनाओं को जन्म दिया जिनसे अलगाववाद को बढ़ावा मिला।
- इससे कांग्रेस पर गंभीर दबाव आने वाला था तथा राष्ट्रवादी गतिविधियों के लिए इसका कार्य क्षेत्र सीमित होने वाला था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 146 24-03-2021 11:47:23

- इसके द्वारा सांप्रदायिक समूहों एवं संगठनों की प्रक्रिया तेज होने वाली थी, तथा
- इसने भारतीय राजनैतिक दलों के बीच किसी भी समझौते की संभावना समाप्त कर दी।

12.5.3 लखनऊ समझौता

लखनऊ समझौता (1916) कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा एक समझौते पर पहुँचने का प्रयास था। मुस्लिम लीग का समर्थन प्राप्त करने के लिए एक अस्थायी प्रबन्ध के रूप में कांग्रेस ने पृथक निर्वाचन मंडल की माँग मान ली। लखनऊ समझौते से संबंधित दो बातें याद रखनी आवश्यक है :

- यह नेताओं के बीच का समझौता था न कि जनता के बीच का। कांग्रेस-लीग के समझौते को गलत रूप में हिन्दू-मुस्लिम समझौते का नाम दिया गया। इसके पीछे समझ यह थी कि लीग मुसलमानों की असली प्रतिनिधि है।
- गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1919, जिसने मुसलमानों को लखनऊ समझौते की अपेक्षा कही अधिक रियायतें दी, के कारण लखनऊ समझौता अर्थहीन हो गया।

12.6 नेहरु रिपोर्ट और जिन्ना से मार्ग भिन्न होना

साइमन कमीशन (1927) के आने और लगभग सभी राजनैतिक विचारों द्वारा सर्वसम्मति से इसका बहिष्कार किए जाने के कारण एक बार फिर एकता का अवसर आया। मोहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग का एक हिस्सा पृथक निर्वाचन मंडल के स्थान पर संयुक्त निर्वाचक मंडल के समर्थन में जाने को तैयार था लेकिन उसके लिए निम्न शर्ते थीं :

- केंद्रीय विधान मण्डल में मुसलमानों का एक तिहाई प्रतिनिधित्व हो,
- सिंध को बंबई से अलग करके एक अलग प्रदेश बनाया जाए,
- उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेशों में सुधार लाए जाएं, तथा
- पंजाब और बंगाल में उनकी जनसंख्या के प्रतिशत के अनुसार मुसलमानों को विधान परिषदों में प्रतिनिधित्व मिले।

कांग्रेस ने ये माँगें स्वीकार कर ली जिससे एकता की संभावना बढ़ी, लेकिन हिन्दू महासभा द्वारा आल पार्टीज कांफ्रेन्स (1928) में इसके बिना शर्त नामंजूर किए जाने के कारण समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। लीग और महासभा की प्रतिद्वंद्विता ने एकता के सभी प्रयास असफल कर दिए।

12 फरवरी, 1928 को साइमन कमीशन की नियुक्ति के जबाव में 29 संगठनों के प्रतिनिधियों ने दिल्ली में बुलाए गयी एक सर्वदलीय कान्फ्रेंस में भाग लिया। इसने मोतीलाल नेहरु की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इसका उद्देश्य भारत के लिए संविधान के सिंद्धातों पर विचार करना और उनका निर्धारण करना था। नेहरु रिपोर्ट की कुछ मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीः

- भारत को दो वर्ष के भीतर एक सीनेट और प्रतिनिधि सभा की द्विवार्षिक विधायिका के साथ डोमेनियन स्टेट्स का दर्जा दिया जाना चाहिए।
- सीनेट में सात साल के लिए चुने दो सौ सदस्य शामिल होंगे, जबकि प्रतिनिधि सभा में पाँच साल के लिए चुने गए 500 सदस्य होंगे। गवर्नर जनरल कार्यकारी परिषद की सलाह पर कार्य करेगा। यह सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी भी होगा।
- भारत में संघीय प्रकार की सरकार होनी चाहिए जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ निहित रहेंगी। अल्पसंख्यकों के लिए कोई पृथक निर्वाचन मंडल नहीं होगा क्योंकि यह

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 147 24-03-2021 11:47:23

साम्प्रदायिक भावनाओं को जगाता है और इसलिए इसे खत्म करके संयुक्त निर्वाचन मंडल रहना चाहिए।

- पंजाब और बंगाल में समुदायों के लिए कोई आरक्षित सीट नहीं होगी। हालांकि, मुस्लिम सीटों का आरक्षण उन प्रांतों में सम्भव हो सकता है जहाँ मुस्लिम आबादी कम से कम 10 प्रतिशत होनी चाहिए।
- न्यायपालिका को कार्यपालिका से स्वतंत्र होना चाहिए।
- केन्द्र में 1/4 वाँ भाग मुस्लिम प्रतिनिधित्व होना चाहिए।
- सिंध की बम्बई से अलग किया जाना चाहिए बशर्ते यह वित्तीय रूप से आत्म-निर्भर साबित हो।

इसके कारण जिन्ना, जिन्होंने इसे अलग-अलग रास्तों पर जाना (Parting of the ways) बताया, का कांग्रेस के साथ संबंध टूट गया। जिन्ना ने फिर से पृथक निर्वाचन मंडल का रास्ता अपनाया और अपने प्रसिद्ध चौदह सूत्रीय कार्यक्रम (पृथक निर्वाचन मंडल, केन्द्र और प्रदेशों में सीटों का आरक्षण, रोजगार में मुसलमानों के लिए आरक्षण, नयी मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेश की स्थापना आदि भी इसमें शामिल थे) की घोषणा की जो सांप्रदायिक माँगों का दस्तावेज बन गया।

12.7 जन-साम्प्रदायिकता की ओर

अभी तक मुस्लिम लीग रईसों का संगठन बना हुआ था जिसका नेतृत्व रजवाड़े और जमींदार कर रहे थे तथा उसके पास कोई जन आधार नहीं था। चुनावी राजनीति में सफलता प्राप्त करने की प्रक्रिया में अपना पक्ष मजबूत रखने के लिए कांग्रेस जैसा जन आधार हासिल करना और लोकप्रिय संगठन बनाना अत्यावश्यक हो चुका था। 1937 तक सरकार ने जिन्ना के सभी चौदह सत्रीय कार्यक्रम स्वीकार कर लिए थे फिर भी जिन्ना लक्ष्य से बहुत दूर थे। वे स्वयं अथवा लीग, जिसके वे स्थायी अध्यक्ष बन चुके थे, को राजनैतिक सम्मान दिला पाने की स्थिति में नहीं ले जा पाए। इसलिए आवश्यक था कि लीग की सदस्यता में वृद्धि की जाए और चूँकि अन्य सभी माँगें पृथक निर्वाचन मंडल, सीटों में आरक्षण आदि मान ली गयी थी अतः कुछ और भी बड़ी माँगें प्रस्तुत की जाएँ।

इस दोहरी चुनौती के लिए जिन्ना ने निम्नलिखित कार्य किए :

- मुस्लिम लीग को लोकप्रिय बनाने के लिए एक बड़ा अभियान आरंभ किया गया। मुस्लिम लीग अपने रईसी शिकंजे से बाहर आकर जन आधार प्राप्त करने लगी (यद्यपि यह जन आधार केवल मुसलमानों के बीच था), सदस्यता शुल्क घटा दिया गया, प्रांतीय कमेटियाँ गठित की गयीं और कार्यक्रम को सामाजिक-आर्थिक आधार देने के लिए उसमें परिवर्तन किए गए।
- कांग्रेस मंत्रिमण्डलों की भर्त्सना करने के उद्देश्य से उतना ही बड़ा अभियान शुरू किया गया। उन्हें हिन्दू राज का प्रतिनिधि और मुस्लिम अल्पसंख्यक विरोधी बताया गया। हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का यह सबसे अच्छा तरीका था। चूँकि जिन्ना इसे हिन्दुओं का संगठन बताते थे, इसलिए कांग्रेस को केवल हिन्दुओं की ओर ध्यान देने को कहा गया।
- 1940 के लाहौर सत्र में जिन्ना ने द्विराष्ट्रीय नजरिया प्रस्तुत किया। इसके अनुसार मुस्लिम अल्पसंख्यक नहीं बल्कि वे एक राष्ट्र (Nation) थे। चूँकि हिन्दू और मुसलमान आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रूप में भिन्न थे इसलिए वे दो अलग-अलग राष्ट्र थे। अतः भारतीय मुसलमानों के लिए एक अलग स्वायत्त देश होना चाहिए। इस प्रकार मुस्लिम देश के रूप में पाकिस्तान के गठन का प्रस्ताव सामने आया।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 148 24-03-2021 11:47:23

ऊपर जिन परिणामों की चर्चा की गई है उसके फलस्वरूप सांप्रदायिकता जन शक्ति के रूप में उभरने लगी। यही प्रक्रिया 1947 में पाकिस्तान को जन्म देने वाली थी।

बोध प्रश्न-3

1) पृथक निर्वाचक मंडल से आप क्या समझते हैं। उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

2) लखनऊ समझौता पर लिखें।

.....

.....

.....

3) मुस्लिम लीग ने जनाधार कैसे प्राप्त किया?

.....

.....

.....

12.8 ब्रिटिश नीति का अंतिम चरण और विभाजन

मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भड़काने में अंग्रेज सरकार की महत्वपूर्ण भूमिका थी। अंग्रेजों ने मुस्लिम सम्प्रदायवादियों की खुलेआम सरकारी सहायता की। द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद वाइसरॉय लिनलिथगो ने प्रयत्नपूर्वक मुस्लिम लीग को प्रोत्साहित किया। पाकिस्तान की माँग का इस्तेमाल कांग्रेस की इस माँग का मुकाबला करने के लिए किया गया कि विश्वयुद्ध के बाद अंग्रेजों को भारत छोड़ देना होगा। लेकिन युद्ध से पहले से सत्ता हिंदुस्तानियों के हाथ में सौंप दी जानी चाहिए। अंग्रेजी शासन ने यह तर्क दिया कि पहले हिन्दू और मुस्लिम हस्तांतरण की प्रक्रिया पर सहमत हो जाएं तभी बात आगे बढ़ सकती है। सरकारी तौर पर लीग को मुस्लिम हित के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया गया। (हालांकि पिछले चुनाव का परिणाम मुस्लिम लीग के इस दावे से मेल नहीं खाता था) और अंग्रेजों ने उनसे यह भी वादा किया कि बिना लीग की सहमति से कोई भी राजनीतिक समझौता नहीं किया जाएगा। इस प्रकार लीग को ऐसी वीटो शक्ति प्राप्त हुई, जिसका उपयोग जिन्ना ने युद्ध की समाप्ति के बाद किया।

हालांकि क्रिप्स मिशन असफल रहा लेकिन इसने मुस्लिम लीग को एक तरह से प्रोत्साहित किया। प्रांतीय स्वायत्तता के प्रावधान ने पाकिस्तान बनने की माँग को वैधानिक रूप प्रदान किया। जिस समय भारतीयों द्वारा इस समस्या को बहुत हल्के ढंग से लिया जा रहा था, उस समय पाकिस्तान बनाने की माँग को सरकारी तंत्र ने काफ़ी तेज़ी से प्रोत्साहित किया।

12.8.1 चुनाव, कैबिनेट मिशन और मुस्लिम लीग की भूमिका

1945-46 की सर्दियों में चुनाव हुए। शिमला कांफ्रेस के अनुकूल परिणाम तथा पाकिस्तान की माँग के आधार पर चुनाव होने तक लीग मुस्लिम मतदाताओं को आकृष्ट करने के लिए पृथक मुस्लिम निर्वाचन मंडल का उपयोग करने के लिए बेहतर स्थिति में थी। ''इस्लाम के खतरे में होने'' के धार्मिक नारे के साथ मुस्लिम व्यापारियों एवं मध्यम वर्ग के मुसलमानों की हुकूमत तथा अपने भविष्य के प्रति आत्म-निर्णय लेने के मुसलमानों के विशेषाधिकार के सपने को समाहित कर दिया गया। यद्यपि कांग्रेस, विशेषकर जनसाधारण के अंतर्गत आज़ादी प्राप्त होने के पूर्वानुमान के कारण, अपनी लोकप्रियता के चरमोत्कर्ष पर थी लेकिन

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 149 24-03-2021 11:47:23

धार्मिक कट्टरता के इस माहौल में वह अधिक संख्या में मुस्लिम वोट आकृष्ट करने की स्थिति में नहीं थी। चुनाव के परिणाम से विशेषतः कांग्रेस और लीग की स्थिति के संदर्भ में, यह सारी स्थिति स्पष्ट हो गयी। आम (गैर मुस्लिम) चुनाव क्षेत्रों में कांग्रेस को भारी सफलता प्राप्त हुई। 91.3 प्रतिशत मत लेकर केन्द्रीय विधान परिषद में उसने 102 स्थानों में से 57 स्थान प्राप्त किए तथा सिंध, पंजाब एवं बंगाल को छोड़कर अन्य सभी प्रांतों में उसे बहुमत मिला। कांग्रेस की यह अभूतपूर्व विजय भी उस प्रभाव के महत्व को कम नहीं कर सकी जो सरकार मुसलमानों मतदाताओं को पहले ही दे चुकी थी। ब्रिटिश दृष्टिकोण तथा अंग्रेजों की अध्यक्षता में आगे चलने वाली चर्चाओं की दृष्टि से 1946 में कांग्रेस की भारी सफलता से भी अधिक महत्वपूर्ण, लीग द्वारा मुस्लिम मतदाताओं को किसी भी तरीके से, चाहे वह नैतिक हो अथवा अनैतिक, अपनी ओर आकृष्ट करना था। इस दृष्टि से मुस्लिम लीग ने काफ़ी महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की थी। उसे 86.6 प्रतिशत मुस्लिम वोट प्राप्त हुए। केन्द्रीय विधान परिषद के सभी 30 सीट उसे ही मिली तथा प्रांतों में कुल 509 मुस्लिम सीटों में से 442 सीट उसे प्राप्त हुई। इस सफलता के बावजूद भी लीग उन मुस्लिम बाहुल्य प्रांतों में सफल न हो सकी जिन्हें वह पाकिस्तान में शामिल करने की माँग लेकर चल रही थी। उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांतों और असम में कांग्रेस के हाथों इसे पराजित होना पड़ा और पंजाब में यूनियनिस्ट को यह अपदस्थ न कर सकी। सिंध और बंगाल में भी जहाँ लीग ने अपने मंत्रिमंडल का गठन किया वहाँ वे सरकारी तथा यूरोपीय सहयोग के बल पर ही टिके हुए थे। वास्तविकता यह थी कि अविभाजित भारत में मुसलमानों के बीच लीग के प्रति समर्थन की वास्तविक परीक्षा कभी हुई ही नहीं थी। चुनाव केवल पृथक निर्वाचक मंडलों के आधार पर ही हुए थे, जो कि मुसलमानों को राष्ट्रीय मुख्यधारा से अलग रखने का प्रयास था, बल्कि मताधिकार भी बहुत सीमित (कुल जनसंख्या का 10 प्रतिशत) रखा गया था।

ब्रिटिश अनुमान के अनुरूप मुख्य राजनीतिक दलों द्वारा सीमित चुनावों में अपने-अपने रूप में सफलता प्राप्त करने के साथ ही ऐटली सरकार ने बगैर कोई समय नष्ट किए उनसे बातचीत का दौर आरंभ कर दिया। तीन ब्रिटिश कैबिनेट सदस्यों (भारत के लिए राज्य सचिव पेथिक लॉरेंस, व्यापार बोर्ड अध्यक्ष, स्टैफोर्ड क्रिप्स तथा नौ सेना के प्रमुख ए. वी. अलेक्ज़ेंडर) का एक उच्च स्तरीय मिशन भारत में समझौते द्वारा शांतिमय ढंग से सत्ता हस्तांतरण के तरीके ढूँढने भारत भेजा गया। जैसा कि ब्रिटिश अनुमान लगा चुके थे कि समय तेजी से उनके हाथ से निकल रहा था और मार्च 1946 तक सम्पूर्ण भारत में जन आक्रोश जन आंदोलन का रूप लेने लगा था। ब्रिटिश जिस स्थिति के लिए अधिक चिंतित थे वह यह संभावना थी कि कहीं लोगों के अन्दर की यह व्याकुलता देशव्यापी ''जन आंदोलन अथवा क्रांति'' का रूप न ले ले। ऐसी स्थिति पैदा करना कांग्रेस की शक्ति से बाहर नहीं था और ''जिसे नियंत्रित करना'', जैसा कि स्वयं वाइसरॉय का मानना था, ''ब्रिटिश के हाथ में नहीं रह गया था''। अतः जून 1946 में भारत के संवैधानिक भविष्य को निर्धारित करने तथा अंतरिम सरकार पर निर्णय लेने के उद्देश्य से वाइसरॉय की सहायता से भारतीय नेताओं के साथ बातचीत के लिए कैबिनेट मिशन भारत आ पहुँचा।

सभी प्रकार के भारतीय नेताओं के साथ एक लम्बी बातचीत हुई। जिसमें समय-समय पर पाकिस्तान और मुसलमानों के अपने भाग्य का फैसला स्वयं करने के अधिकार के मुद्दे पर जिन्ना की हठधर्मी के कारण, व्यवधान पड़ता रहा। काफी वाद-विवाद के बाद मिशन ने इस परिस्थिति से निपटने के लिए एक जटिल किन्तु स्वीकार्य योजना प्रस्तुत की। यद्यपि वाइसरॉय तथा मिशन के एक अन्य सदस्य (अलेक्ज़ेंडर) जिन्ना के प्रति सहानुभूति रखते थे लेकिन मिशन, लीग की पूर्ण पाकिस्तान (जिसमें सभी मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्रों के सम्पूर्ण प्रदेश शामिल किए जाने की माँग थी) की माँग स्वीकार करने की स्थिति में नहीं था क्योंकि यदि सांप्रदायिक आधार पर अपने भविष्य का फैसला करने का अधिकार मुसलमानों को दिया जाता तो यह अधिकार, उन गैर-मुस्लिमों को भी देना पड़ता जो पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब तथा असम में बहुमत में हैं, इस आधार पर बंगाल, पंजाब और असम को

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 150 24-03-2021 11:47:23

विभाजित करना पड़ता सभी क्षेत्रीय तथा भाषायी संबंधों के विरुद्ध होता और यह आर्थिक एवं प्रशासनिक समस्याओं को चिरस्थायी बना देना और इस पर भी संभव है कि यह लीग को मान्य नहीं होता। बड़े और छोटे पाकिस्तान की दोनों ही प्रकार की संकल्पनाओं को अस्वीकार करते हुए मिशन ने एक केन्द्र के अंतर्गत सभी भारतीय प्रदेशों के ढीले-ढाले संघ की योजना प्रस्तुत की जिसमें केवल रक्षा विभाग, विदेशी मामलों के विभाग तथा संचार विभाग ही संघ के नियंत्रण में होने थे, अन्य सभी विभाग विद्यमान प्रादेशिक विधान सभाओं के पास ही रहने थे। इसके उपरांत प्रादेशिक विधान सभाओं को विधान परिषद का चुनाव करना था जिसमें प्रदेश की जनसंख्या के हिसाब से प्रत्येक प्रदेश के लिए स्थान निश्चित किए जाने थे, यह स्थान विभिन्न समुदायों को प्रदेश में उनकी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार दिए जाने थे। इस रूप में निर्वाचित सदस्यों को तीन भागों में बाँटा जाना था। भाग ए को गैर मुस्लिम बाहुल्य प्रांत (बम्बई, संयुक्त प्रांत बिहार, केन्द्रीय प्रांत, उड़ीसा तथा मद्रास) के लिए होना था, भाग बी को उत्तर-पश्चिमी मुस्लिम बाहुल्य प्रांतों (सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांतों तथा पंजाब) तथा भाग सी को उत्तर-पूर्व (बंगाल एवं असम) के मुस्लिम बाहुल्य प्रांतों के लिए होना था। इन सभी भागों को प्रादेशिक संविधान तैयार करने का अधिकार था। आवश्यकता पड़े तो वे सामूहिक संविधान तैयार कर सकते थे। यह भाग प्रादेशिक एवं खंडीय विधान सभाएँ तथा कार्यकारिणी का भी गठन कर सकते थे। चूँकि इन दीर्घ आवधिक समाधानों में काफी समय लग सकता था इसलिए मिशन ने अल्प आवधिक समाधान भी प्रस्तावित किए जिसके तहत केन्द्र में तत्काल अंतरिम सरकार का गठन होना था जिसमें सभी मुख्य राजनैतिक दलों की सहभागिता होनी थी तथा सभी विभागों को भारतीयों के नियंत्रण में रहना था।

मिशन का लक्ष्य पाकिस्तान योजना को अस्वीकार करके कांग्रेस को शान्त करना तथा कुछ निकटवर्ती मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्रों को लेकर स्वतंत्र मुस्लिम क्षेत्रों के गठन के द्वारा एक समझौता प्रस्तुत करना था। शुरू-शुरू में कांग्रेस और लीग दोनों ही इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। लेकिन शीघ्र ही प्रान्तों के समूहों अथवा भागों के गठन के प्रावधानों को लेकर समस्या उठ खड़ी हुई। लीग का मानना था कि समूहबद्ध ता अनिवार्य होनी चाहिए क्योंकि लीग को यह सम्भावना नज़र आ रही थी कि इससे वह उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांतों (भाग बी) के कांग्रेस प्रशासित मुस्लिम बाहुल्य प्रांतों तथा असम (भाग सी) को तोड़कर (उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांतों तथा असम में अपने-अपने भागों में कांग्रेस बहुमत अल्पमत में परिवर्तित हो जाएगा) अपने अन्दर शामिल करते हुए पूर्ण पाकिस्तान बना सकेगी। उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्तों तथा असम के भाग बी और सी में लाए जाने के उनके विरोध के कारण ही कांग्रेस समूहबद्धता को स्वैच्छिक (optional) माने जाने पर बल दे रही थी। कांग्रेस प्रस्तावित विधान परिषद में रियासतों के निर्वाचित सदस्यों के लिए कोई प्रावधान न होने पर भी असंतुष्ट थी, यद्यपि कांग्रेस विधान परिषद के चुनाव के सीमित और अप्रत्यक्ष स्वरूप (जो कि ऐसे चुनावों में वयस्क मताधिकार की इसकी पूर्व की माँगों के विरुद्ध था) को स्वीकार करने के लिए तैयार थी। जुलाई 1946 के अन्त तक कांग्रेस और लीग के कैबिनेट मिशन योजना पर निर्भर रहने के विरुद्ध निर्णय लिया। इसका मुख्य कारण समूह प्रणाली पर उनके मतभेद तथा कुछ हद तक मिशन का अपने आशयों को स्पष्ट न कर पाना था।

12.9 सांप्रदायिक नर-संहार और अंतरिम सरकार

कैबिनेट मिशन योजना से पहुँचने वाले धक्के ने लीग को इतना व्याकुल बना दिया कि वह तुरंत ''सीधी कार्यवाही'' (Direct action) अथवा अपने चुनावोपरांत नारे ''लड़के लेंगे पाकिस्तान'' की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के ज़रिए स्थिति अपने पक्ष में करने के लिए तत्पर हो गयी। इसके परिणामस्वरूप सर्वप्रथम सीधी कार्यवाही दिवस (Direct action day) (16 अगस्त, 1946) को सांप्रदायिक दंगे शुरू हुए और प्रतिक्रिया की एक पूरी शृंखला के रूप में पूरे देश, विशेषकर बम्बई, पूर्वी बंगाल और बिहार तथा यू.पी., पंजाब एवं उत्तर

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 151 24-03-2021 11:47:23

पश्चिमी सीमांत प्रांतों के कुछ भागों में फैल गए। कलकत्ता में लीग ने बंगाल के लीग अध्यक्ष सुहरावर्दी के प्रोत्साहन से 16 अगस्त को गैर-मुस्लिमों पर अचानक बड़े पैमाने पर हमले शुरू कर दिए। इस अप्रत्याशित हमले से उभरते ही हिन्दुओं और सिखों ने भी हमले शुरू किए। शहर के बीचों बीच मौजूद सेना ने प्रतिक्रिया दिखाने में कोई जल्दबाज़ी नहीं की और जब तक सेना ने हस्तक्षेप किया, तब तक तीन दिन के अन्दर 4000 लोग मारे जा चुके थे और 10,000 से अधिक घायल हो चुके थे। सितम्बर 1946 में बम्बई में सांप्रदायिक दंगे शुरू हुए लेकिन उतने बड़े पैमाने पर नहीं हुए जितने कलकत्ता में हुए थे फिर भी 300 से अधिक लोग इस दंगे में मारे गए। अक्तूबर 1946 में नोआखाली तथा तिपेरा में दंगे भड़के जिसमें 400 लोग मारे गए और बड़े पैमाने पर महिलाओं पर अत्याचार, लूट-खसोट और आगज़नी हुई। बिहार के साम्प्रदायिक दंगों में अक्तूबर के अंत में लगभग 7000 लोगों को बर्बरतापूर्वक मौत के घाट उतार दिया गया। यू. पी. भी इस नर-संहार में पीछे नहीं रहा और केवल गढ़ मुक्तेश्वर में लगभग 1000 लोगों का कत्ले आम हुआ। 1947 के मध्य तक लाहौर, अमृतसर, मुल्तान, अटौक और रावलपिंडी के दंगों में लगभग 5000 लोग मारे गए। यह मात्र शुरुआत थी क्योंकि पूरे 1947 तथा 1948 के शुरू में सांप्रदायिक दंगे निरंतर चलते रहे जिसमें लाखों लोग मारे गए अथवा घायल हुए तथा महिलाओं के अपहरण एवं बलात्कार, निजी संपत्ति की भयंकर क्षति तथा धार्मिक स्थलों को अपवित्र करने की असंख्य घटनाएँ हुई। लाखों लोग इन दंगों के कारण शरणार्थी बन गए। इस प्रक्रिया में कुछ स्थानों पर (जैसे पंजाब) अत्यधिक बड़े पैमाने पर जनसंख्या विस्थापित हुई जबकि दूसरे स्थानों (जैसे बंगाल) पर विस्थापन की प्रक्रिया में काफी लंबे समय तक लोग झुंड के रूप में अपने घरों को छोड़ कर जाते रहे। मानवीय कष्टों तथा अमानवीकरण की यह सीमा, देश के आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे का इस प्रकार पूर्णतः अस्त-व्यस्त होना, 1946 एवं 1948 के मध्य उप-महाद्वीप में भ्रातृघात (Fratricide) की ऐसी स्थिति विश्व सभ्यता के इतिहास में शायद ही इससे पूर्व कभी घटी हो।

ये सांप्रदायिक दंगे ठीक उसी समय बढ़ने शुरू हुए जिस समय अल्पावधि समाधान के रूप में कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तावित केन्द्र में अंतरिम सरकार सितम्बर 1946 को गठित की गयी। अंतरिम सरकार के गठन में वाइसरॉय को उन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ा जो शिमला कांफ्रेंस के समय उठी थीं। जिन्ना ने इस प्रकार की सरकार में एक सिख एवं एक अनुसूचित जाति सदस्य के अतिरिक्त कांग्रेस एवं लीग के क्रमशः 5 हिन्दू और 5 मुस्लिम नामज़द सदस्यों के रूप में बराबरी के प्रतिनिधित्व की माँग की, जैसा कि अपेक्षित था। कांग्रेस ने इस प्रकार की बराबरी के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया तथा साथ ही यह माँग उठाई कि कांग्रेस को अधिकार होना चाहिए कि नामजदगी की अपनी सूची में हिन्दू, मुस्लिम और अन्य किसी भी समुदाय के सदस्यों को किसी भी अनुपात में शामिल करे तथा नई सरकार वाइसरॉय की सलाहकार समिति के बजाए एक कैबिनेट के रूप में कार्य करें। वैवेल ने जून 1945 में शिमला कांफ्रेस की भाँति ही इस आधार पर अपने प्रयास रोक दिए होते कि यदि मुख्य राजनैतिक दलों में मतभेद बने रहे तो किसी प्रकार की सफलता अर्जित नहीं की जा सकती, लेकिन जन-उभार और बिगड़ती कानून-व्यवस्था के आसन्न खतरे के कारण अंतरिम सरकार के विचार को लागू करना उनकी मजबूरी बन गई थी। और वह ऐसा करने में असमर्थ थे जैसा उन्होंने शिमला में संतोषपूर्वक कर लिया था।

लीग के विरुद्ध प्राथमिकता दिए जाने के वाइसरॉय के कदम में प्रफुल्लित तथा अंतरिम सरकार के गठन को हितकर एवं सत्ता के शांतिपूर्ण हस्तांतरण की दिशा में एक प्रगति के रूप में देखते हुए कांग्रेस ने 2 सितम्बर को जवाहर लाल नेहरु के नेतृत्व में कैबिनेट के गठन का निश्चय किया। लेकिन परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार सामने आयीं कि कांग्रेस की अंतरिम सरकार दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में पहुँच गयी, अपनी तमाम चिंताओं के बावजूद कांग्रेस को सांप्रदायिक दंगों के ज्वार के समक्ष असहाय होकर ब्रिटिश सेनाध्यक्ष के मातहत

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 152 24-03-2021 11:47:23

दंगाग्रस्त क्षेत्रों में सेना भेजनी पड़ी। वाइसरॉय की अध्यक्षता में अंतरिम सरकार कभी-कभी वाइसरॉय के वीटों का भी प्रतिकार नहीं कर पाती थी। अंतरिम सरकार की स्थिति तब और खराब हो गयी जबकि वैवेल ने लीग को उनके सीधी कार्रवाई पर बने रहने के बावजूद तथा कांग्रेस द्वारा एक राष्ट्रवादी मुस्लिम सदस्य के मनोनीत किए जाने के बदले लीग द्वारा अनुसूचित जाति सदस्य मनोनीत किए जाने पर सहमत होकर 26 अक्तूबर, 1946 को सरकार में शामिल होने पर राज़ी कर लिया। तदोपरांत अंतरिम सरकार लीग और कांग्रेस खेमों में बंट गयी तथा नौकरशाही के अंतर्गत दोनों खेमों के समर्थकों के आपसी टकराव एवं लीग के सदस्यों की अंतरिम सरकार की गतिविधियों में व्यवधान डालने की नीति के कारण सरकार का अस्तित्व केवल नाममात्र को ही रह गया। किसी देश की केन्द्रीय सरकार में ऐसा विभाजन तथा मुख्य समुदायों की बीच ऐसी कटुता को देखते हुए देश की एकता तथा उसकी स्वतंत्रता की आशा धूमिल हो रही थी। कांग्रेस के अग्रणी नेता 1947 तक वाद-विवाद, सांप्रदायिक दंगों और झगड़ों से तंग आकर किसी भी प्रकार की आशा छोड़ बैठे थे। वे अब इस भयावह परिस्थिति से किसी भी कीमत पर बाहर आना चाहते थे यहाँ तक कि वे अपने राष्ट्रवादी सपनों को भी दाँव पर लगाते हुए देश के विभाजन की कीमत पर भी आजादी खरीदने को तैयार थे।

विभाजन की तीव्रता और सीमा आयोग के निर्णयों में विलम्ब ने विभाजन की त्रासदी को और गंभीर बना दिया। ये माउंटबेटन के निर्णय थे। संकटपूर्ण स्थिति के उतरदायित्व से बचने के लिए माउंटबेटन ने सीमा आयोग का निर्णय सुनाने में विलम्ब किया। (जबकि यह 12 अगस्त, 1947 को तैयार हो गया था।) इसके कारण आम नागरिक और अधिकारी उलझन में पड़ गए। लाहौर और अमृतसर के बीच के गाँवों में रहने वाले लोग इस आशा में अपने निवास स्थानों पर टिके रहे कि वे सही सीमा के अन्तर्गत रह रहे हैं। देशान्तरण उन्मत मामला बन जाता है और अक्सर इसका परिणाम होता है कत्लेआम।

12.10 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि विभिन्न कारणों के परिणाम के रूप में सांप्रदायिकता भारत में किस प्रकार उभरी और पनपी। उन्नीसवीं शताब्दी के विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक विकास, औपनिवशिक शासन की भूमिका, इसकी प्राथमिकताएँ और उन्हें पूरा करने के लिए इसके द्वारा उठाए गए कदम, सांप्रदायिकता विरोधी शक्तियों की कमजोरियाँ एवं सीमाएँ और बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिक शक्तियों का उत्थान इसके कारण हैं जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

भारत का विभाजन मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को लेकर हुआ। पृथक राष्ट्र की माँग 1940 के बाद तेज़ी से उभरी। जिन्ना के नेतृत्व में लीग ने संवैधानिक तरीकों से और प्रत्यक्ष कार्रवाई करके राजनीतिक गतिरोध की ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिससे विभाजन अवश्यम्भावी हो गया। लेकिन पाकिस्तान के निर्माण में अंग्रेजों का बहुत बड़ा हाथ था। अंग्रेज़ शासकों ने बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन में गतिरोध उत्पन्न करने के लिए साम्प्रदायिक शक्तियों का इस्तेमाल किया। लीग को मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था के रूप में स्वीकार किया और उसे वीटो की शक्ति दी। अंत में जब अंग्रेजों की नज़र में अखंड भारत सुविधाजनक प्रतीत होने लगा, तब उन्होंने इसे एक रखने का थोड़ा प्रयत्न किया, पर जिन्ना की कारगर धमकियों के सामने उनकी एक न चली। साम्प्रदायिक दंगों को अधिकारीगण रोक नहीं पाए और विभाजन अवश्यम्भावी हो गया। कांग्रेस अपनी सम्पूर्ण प्रतिबद्धता के बावजूद भारत की अखंडता की रक्षा नहीं कर सकी। इसके दो कारण थे। यह राष्ट्रीय आन्दोलन में मुस्लिम जनता को शामिल करने में असफल रही और साम्प्रदायिकता से लड़ने की सही नीति नहीं अपना सकी।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 153 24-03-2021 11:47:23

12.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उपभाग 12.2

2) i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ✓

बोध प्रश्न-2

1) देखें उपभाग 12.4.2

2) देखें उपभाग 12.4.3

बोध प्रश्न-3

1) देखें उपभाग 12.5.2

2) देखें उपभाग 12.5.3

3) देखें भाग 12.7

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 154 24-03-2021 11:47:23

इकाई 13 स्वतंत्रता का आगमन : संविधान सभा और गणतंत्र की स्थापना

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 समझौता वार्ता के माध्यम से सत्ता हस्तांतरण

13.2.1 शिमला सम्मेलन

13.2.2 लेबर पार्टी द्वारा सत्ता ग्रहण

13.3 चुनाव और कैबिनेट मिशन योजना

13.4 संविधान निर्माण और संविधान सभा

13.4.1 संविधान का मसौदा (Draft) तैयार करने के विभिन्न प्रयास

13.4.2 संविधान सभा का गठन और उद्देश्य सम्बंधी प्रस्ताव

13.4.3 संविधान सभा में प्रतिनिधित्व की प्रकृति

13.4.4 संविधान सभा की भूमिका 1946-1949

13.5 औपनिवेशिक सत्ता के स्वरूप के अवशेष और स्वतंत्रता के बाद की राज्य व्यवस्था

13.6 स्वतंत्रता के बाद की राज्य व्यवस्था पर राष्ट्रवादी विरासत का प्रभाव

13.7 जनतांत्रिक राज्य के संस्थात्मक स्तंभ

13.8 सारांश

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के बाद आप यह स्पष्ट कर पाएंगे:

- समझौता वार्ता के द्वारा सत्ता हस्तांतरण के लिए विभिन्न ब्रिटिश योजनाएँ,
- भारत के संविधान के निर्माण की प्रक्रिया और संविधान सभा की संरचना, उद्देश्य और कार्य प्रणाली,
- स्वतंत्रता के बाद भारतीय राज्य व्यवस्था की औपनिवेशिक और राष्ट्रीयवादी विरासतें, और
- भारतीय लोकतांत्रिक राज्य की कुछ विशेषताएँ।

13.1 प्रस्तावना

एक दृष्टिकोण के अनुसार साम्राज्यी ताकत के रूप में ब्रिटेन का भारत से हटना और स्वदेशी राष्ट्रवादी नेतृत्व का सत्ता को हस्तांतरण इस कारण था कि एक विशाल साम्राज्यी शक्ति के तौर पर ब्रिटेन कमजोर हो गया था। विश्व युद्धों के दौरान ब्रिटेन के विश्वव्यापी नेतृत्व को उन राष्ट्रों द्वारा चुनौती दी जा रही थी जिनमें औद्योगीकरण नया-नया हुआ था जैसे जर्मनी, इटली और जापान। इस प्रतिद्वंद्विता का सबसे अधिक लाभ संयुक्त राज्य अमरीका को मिला जो वैश्विक साहूकार (बैंकर) और वित्त उपलब्ध करने वाले के रूप में उभर कर आया था। शताब्दी के प्रारंभ में भारत के कुल विदेश व्यापार में अमरीका का हिस्सा भारत के निर्यात-आयात का लगभग 6 प्रतिशत था, लेकिन 1945-46 के दौरान

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 155 24-03-2021 11:47:23

यह बढ़कर 11.4 प्रतिशत के आसपास पहुँच गया। दूसरे, 1914-47 के दौरान, भारतीय पूँजीपति वर्ग तेजी से आगे बढ़ा था। यह मुख्यतया आयात-प्रतिस्थापन द्वारा उन क्षेत्रों में प्रवेश करके हुआ था जिनमें ब्रिटिश पूँजी का आधिपत्य था। उन्होंने औद्योगिक उत्पादन के नए क्षेत्रों में भी प्रवेश किया जो उन्हें औपनिवेशिक सरकार की विशिष्ट क्षेत्रों में चयनात्मक संरक्षण की नीति के चलते मिल गए थे। 1945-46 के दौरान घरेलू बाजार के लगभग 72-73 प्रतिशत पर स्वदेशी पूँजीपतियों का नियंत्रण था और संगठित बैंकिंग क्षेत्र में 80 प्रतिशत जमा पूँजी उन्हीं की थी। इन आर्थिक रुझानों के आधार पर कुछ विद्वानों का यह कहना है कि आर्थिक वि-औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही शुरू हो गयी थी। 1920 और 1930 के दशकों के दौरान औपनिवेशिक सरकार की नौकरशाही संस्थाओं के, खासतौर पर निचले और बीच के स्तरों में भारतीय अधिकारियों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई थी। इसका भारी असर अपने राज के विरुद्ध स्वदेशी आन्दोलन को दबाने में उनके साम्राज्य की क्षमता पर पड़ा था। भारत छोड़ो आंदोलन ने औपनिवेशिक दमन की विफलता के साथ ब्रिटिश आधिपत्य के अपक्षरण की पुष्टि की।

दूसरे मत की दृष्टि में भारत से अंग्रेजों का जाना राष्ट्रीय नेतृत्व के अंतर्गत जन आंदोलनों की क्रमशः उठी लहरों का परिणाम था। 1939 के सिंतबर में यूरोप में जब विश्व युद्ध शुरू हुआ तब ब्रिटिश राजनेता अपने भारतीय साम्राज्य पर इस तथ्य के बावजूद कब्जा जमाए रहना चाहते थे जबकि राष्ट्रवाद, मध्यमवर्ग के उभार आदि जैसी घटनाओं ने ब्रिटेन और उपनिवेश के परस्पर संबंधों को एक नया रूप दे दिया था। कांग्रेस नेतृत्व चाहता था कि अंग्रेज युद्ध के अपने लक्ष्यों को स्पष्ट करें और कांग्रेस नेतृत्व अथवा कांग्रेस की प्रांतीय सरकारों से स्वीकृति लेने का परवाह किए गए बगैर जब वायसराय लिन्लिथगो ने जर्मनी के खिलाफ ब्रिटिश युद्ध प्रयासों के समर्थक के तौर पर भारत के शामिल होने की घोषणा कर दी, तब कांग्रेस को बुरा लगा। शुरुआत में उन्होंने प्रतीकात्मक व्यक्तिगत सत्याग्रह आयोजित किए परंतु अगस्त 1942 में 'भारत छोड़ो' आंदोलन के रूप में उसने एक शक्तिशाली जन उभार का रूप ग्रहण कर लिया। जगह-जगह पर लोगों ने ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों, विशेषतया राजस्व कार्यालयों, पुलिस स्टेशनों, रेलवे लाइनों और डाकघरों आदि पर बड़े स्तर पर हमले किए। बिहार, बंगाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बंबई जैसे अनेक स्थानों में ब्रिटिश सत्ता समाप्त हो गई।

नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने ब्रिटिश भारतीय सेना के उन भारतीय सैनिकों को राष्ट्रीय मुक्ति की सेना 'आजाद हिंद फौज' के रूप में लामबंद किया, जिन्होंने सिंगापुर में आत्मसमर्पण किया था। इसमें बर्मा और थाईलैण्ड के जिन नागरिकों को भर्ती किया गया वे भारतीय मूल के मलाया के बागानों में काम करने वाले मजदूर, और छोटे दुकानदार थे। इस सेना संगठन ने ब्रिटिश साम्राज्यी शक्ति के आधार अर्थात् ब्रिटिश भारतीय सेना और उसकी नींव को हिला दिया। हालांकि आजाद हिंद फौज के अभियान को 1944 में उत्तर पूर्व में रोक दिया गया था, 1945-1946 की सर्दियों में इसका नाटकीय रूप से राजनीतिक पुनर्जन्म हो गया। अंग्रेजों ने इंडियन नेशनल आर्मी (आईएनए) के कैदियों पर खुले आम मुकद्दमा चलाने की घोषणा की थी। 1946 में एचएमआईएस तलवार के नाविकों के विख्यात रॉयल इंडियन नेवी विद्रोह कर दिया। साम्राज्यवाद विरोधी इन विद्रोहों के प्रति सारे देश के लोगों की एकजुटता दिखाई पड़ी।

13.2 समझौता वार्ता के माध्यम से सत्ता हस्तांतरण

1944 के अंत तक युद्ध में अंग्रेजों की स्थिति मज़बूत होने के साथ उन्हें यह आभास होने लगा था कि ''भारत छोड़ो आंदोलन'' के बाद भारतीय स्थिति जैसी थी उसे उसी रूप में नहीं रहने दिया जाना चाहिए। वे इस परिणाम पर पहुँच चुके थे कि भारत पर अपना आधिपत्य बलपूर्वक लंबे समय तक नहीं बनाए रखा जा सकता। अतः कैदी कांग्रेसी नेताओं से बातचीत का दौर आरंभ करना आवश्यक था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 156 24-03-2021 11:47:23

13.2.1 शिमला सम्मेलन

अंततः ब्रिटेन स्थित उच्चाधिकारियों का अनुमोदन प्राप्त करके वाइसरॉय वैवेल ने बातचीत का दौर आरंभ किया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सभी सदस्य 14 जून, 1945 को रिहा कर दिए गए तथा अन्य लोगों विशेषकर लीग के नेताओं के साथ उन्हें शिमला में एक कांफ्रेंस (24 जून–14 जुलाई, 1945) में आमंत्रित किया गया। इस कांफ्रेंस का प्रमुख उद्देश्य केन्द्र में एक ऐसी कार्यकारिणी परिषद का गठन किया जाना था जिसमें सेना अध्यक्ष तथा इस परिषद के अध्यक्ष के रूप में वाइसरॉय के अतिरिक्त सभी पदों पर भारतीय हो सकते थे। इस परिषद में तथाकथित (ब्रिटिश और लीग दोनों द्वारा ही) ''सवर्ण हिन्दू'' तथा मुसलमानों का समान प्रतिनिधित्व होगा तथा परिषद अस्तित्वमान संवैधानिक तंत्र के तहत कार्य करेगी तथा विधान मण्डल के प्रति जिम्मेदार नहीं होगी।

युद्ध के वास्तविक रूप में समाप्त हो जाने के बाद नए संविधान की संरचना पर भी विचार-विमर्श करने के लिए ब्रिटिश शासन अनमने ढंग से तैयार था। यद्यपि कांग्रेस ने कांफ्रेंस में हिस्सा लिया लेकिन स्वाभाविक रूप से ''सवर्ण हिन्दू'' निकाय के रूप में देखे जाने से इंकार कर दिया तथा अपने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी चरित्र को दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करते हुए मुसलमानों सहित किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय के लोगों को कांग्रेस की ओर से नामज़द किए जाने के अधिकार की माँग की। अबुल कलाम आज़ाद और अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान शिमला कांफ्रेंस में कांग्रेस प्रतिनिधि मंडल के विशिष्ट सदस्य तथा कांग्रेस के नेता के रूप में शामिल हुए। लीग ने तर्क के बजाए हठ से काम लेते हुए समस्त भारतीय मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था होने का दावा किया तथा कांग्रेस की माँगों का विरोध करते हुए परिषद के तमाम मुस्लिम सदस्यों के चयन के सम्पूर्ण अधिकार की माँग की। इससे असंतुष्ट होकर लीग ने इस माँग के द्वारा कि प्रस्तावित परिषद में मुस्लिम हितों से संबंधित यदि किसी निर्णय का विरोध मुस्लिम सदस्य (अथवा स्वयं लीग के नामज़द सदस्य) करते हैं तो उन्हें दो तिहाई बहुमत लेना होगा और इसके लिए सांप्रदायिक वीटो की माँग की। लीग के हठपूर्ण रवैये को प्रोत्साहित करने तथा परिषद में लीग के प्रवेश का अवसर बाद तक बनाए रखने के द्वारा, परिषद में प्रवेश के कांग्रेस के प्रस्ताव को नकार देने की अपनी उत्सुकता के कारण वाइसरॉय वैवेल ने ब्रिटिश प्रस्तावों को तत्काल वापस लेते हुए शिमला कांफ्रेंस भंग कर दी। इसके बाद की घटनाओं से यह प्रतीत होता है कि वैवेल की कार्रवाई का अर्थ न केवल लीग को सारे मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में आधिकारिक तौर पर मान्यता देकर मुसलमानों की नज़र में उसे प्रतिष्ठित करना था बल्कि अप्रत्यक्षतः लीग का यह उत्साहवर्धन भी करना था कि जो चर्चा उसे अपने हित में न लगे उसे नकार देने का लीग को अधिकार है। इसके बाद किसी भी महत्वपूर्ण समझौते में लीग की संतुष्टि एक पूर्ण शर्त बन गयी।

13.2.2 लेबर पार्टी द्वारा सत्ता ग्रहण

जुलाई 1945 में आम चुनावों में अपनी भारी जीत के साथ ब्रिटिश लेबर पार्टी सत्ता में आई और भारतीय प्रश्न का जल्दी ही समाधान होने की आशाएँ जगीं। भारतीय राष्ट्रवादी उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति रखने वाले दल के रूप में विख्यात, लेबर पार्टी ने पहले ही यह घोषणा कर दी थी कि यदि वे सत्ता में आते हैं तो वे भारत को मुक्ति दिलायेंगे। दरअसल सत्ता में आने से काफ़ी समय पूर्व ही 24 जून, 1938 को लेबर पार्टी के नेता (जिसमें क्लेमेंट ऐटली, बेवन, स्टेफोर्ड क्रिप्स तथा हैरोल्ड लॉस्की शामिल थे) जवाहरलाल नेहरु और वी. के. कृष्ण मेनन से मिले और यह वादा किया कि यदि लेबर पार्टी ब्रिटेन में सरकार बनाने में सफल हो जाती है तो भारत का भावी संविधान तैयार करने का अधिकार ''व्यापक (सार्वभौम) मताधिकार'' के आधार पर निर्वाचित भारतीय संविधान-सभा को होगा। उन्होंने यह भी माना था कि वे सत्ता भारतीयों को सौंपकर उन्हें आज़ादी देंगे। भारतीय स्वतंत्रता के मुद्दे पर लेबर पार्टी के अप्रतिम समर्थन और इसकी पूर्ण चुनावी जीत के बावजूद लेबर पार्टी का रुख जब साम्राज्यवादी हितों की बात आई तो बिल्कुल अलग नहीं था।

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 157 24-03-2021 11:47:23

अपनी नीति के अनुरूप, ऐटली सरकार ने भारत में जो सबसे पहला कदम उठाया वह कहीं से नया नहीं था और न ही उसमें कुछ ऐसी बात थी जो गैर-लेबर सरकार नहीं कर सकती थी। 21 अगस्त, 1945 को ऐटली सरकार ने वाइसरॉय को 1945-46 की सर्दियों में भारतीय विधान मण्डलों के नए चुनाव कराने का आदेश दिया। केन्द्र और प्रान्तों के लिए चुनाव न केवल लम्बे समय से होना बाकी थे (केन्द्र के लिए पिछला चुनाव 1934 तथा प्रांतों के लिए 1937 में हुआ था) बल्कि बातचीत आरंभ करने के नाम पर लक्ष्यविहीन तकरार का संवैधानिक खेल आरंभ करना भी आवश्यक था। 19 सितम्बर 1945 को पुनः वाइसरॉय ने भारत के लिए ''शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी सरकार'' (आजादी शब्द को जानबूझ कर इस्तेमाल नहीं किया गया) देने का वचन दुहराया। इसके साथ ही निर्वाचित विधायकों तथा भारतीय रजवाड़ों के प्रतिनिधियों के साथ नए संवैधानिक प्रबंधों के लिए संविधान सभा के गठन पर चर्चा (जो कि लेबर पार्टी के पूर्व आश्वासन कि विधान सभा ''व्यापक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित की जाएगी, के प्रतिकूल था) तथा वाइसरॉय की कार्यकारिणी परिषद, जिसमें मुख्य भारतीय राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधि नामज़द होंगे उस के गठन के प्रयास का भी आश्वासन दिया गया।

13.3 चुनाव और कैबिनेट मिशन योजना

1945-46 की सर्दियों में चुनाव हुए। आम (गैर-मुस्लिम) चुनाव क्षेत्रों में कांग्रेस को भारी सफलता प्राप्त हुई। 91.3 प्रतिशत मत लेकर केन्द्रीय विधान परिषद में उसने 102 स्थानों में से 57 स्थान प्राप्त किए तथा सिंध, पंजाब एवं बंगाल को छोड़कर अन्य सभी प्रांतों में उसे बहुमत मिला। इस दृष्टि से मुस्लिम लीग ने काफ़ी महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की थी। उसे 86.6 प्रतिशत मुस्लिम वोट प्राप्त हुए। केन्द्रीय विधान परिषद के सभी 30 सीट उसे ही मिली तथा प्रांतों में कुल 509 मुस्लिम सीटों में से 442 सीट उसे प्राप्त हुई। इस सफलता के बावजूद भी लीग उन मुस्लिम बाहुल्य प्रांतों में सफल न हो सकी जिन्हें वह पाकिस्तान में शामिल करने की माँग लेकर चल रही थी। सिंध और बंगाल में लीग ने अपने मंत्रिमंडल का गठन किया।

ब्रिटिश अनुमान के अनुरूप मुख्य राजनीतिक दलों द्वारा सीमित चुनावों में अपने-अपने रूप में सफलता प्राप्त करने के साथ ही ऐटली सरकार ने बगैर कोई समय नष्ट किए उनसे बातचीत का दौर आरंभ कर दिया। तीन ब्रिटिश कैबिनेट सदस्यों (भारत के लिए राज्य सचिव पेथिक लॉरेंस, व्यापार बोर्ड अध्यक्ष, स्टैफोर्ड क्रिप्स तथा नौ सेना के प्रमुख ए. वी. अलेक्ज़ेंडर) का एक उच्च स्तरीय मिशन भारत में समझौते द्वारा शांतिमय ढंग से सत्ता हस्तांतरण के तरीके ढूँढने भारत भेजा गया। अतः जून 1946 में भारत के संवैधानिक भविष्य को निर्धारित करने तथा अंतरिम सरकार पर निर्णय लेने के उद्देश्य से वाइसरॉय की सहायता से भारतीय नेताओं के साथ बातचीत के लिए कैबिनेट मिशन भारत आ पहुँचा।

सभी प्रकार के भारतीय नेताओं के साथ एक लम्बी बातचीत हुई। जिसमें समय-समय पर पाकिस्तान और मुसलमानों के अपने भाग्य का फैसला स्वयं करने के अधिकार के मुद्दे पर जिन्ना की हठधर्मी के कारण, व्यवधान पड़ता रहा। काफी वाद-विवाद के बाद मिशन ने इस परिस्थिति से निपटने के लिए एक जटिल किन्तु स्वीकार्य योजना प्रस्तुत की। (कैबिनेट मिशन योजना पर कांग्रेस-लीग टकराव और 1946 में बाद में साम्प्रदायिक नर-संहार के विस्तृत वर्णन के लिए इकाई 12 के भाग 12.8 तथा 12.9 देखें)

बोध प्रश्न-1

1) संक्षेप में कैबिनेट मिशन योजना की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 158 24-03-2021 11:47:23

2) इंग्लैंड में लेबर पार्टी की जीत का भारत की राजनैतिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 संविधान निर्माण और संविधान सभा

भारत के लिए एक संविधान तैयार करने की माँग वास्तव में एक आत्मनिर्णय का दावा था। संविधान को संप्रभुता के स्रोत और भारत के लोगों के अधिकारों के रूप में देखा गया था। ब्रिटिश शाही अभ्यास में सामान्य कानून के उपर किसी लिखित संविधान की कोई परम्परा नहीं थी। ब्रिटिश नागरिकों के अधिकार शाही अनुदान, संसदीय कानूनों और सामान्य कानून से ही प्राप्त होते थे। अंग्रेजों द्वारा लागू किए गए छोटे-मोटे सुधार लोगों की आंकाक्षाओं को पूरा करने में विफल रहे। 1920 में अपने नागपुर सत्र में कांग्रेस ने स्वराज के लक्ष्य को अपनाया। औपनिवेशिक शासकों के किसी भी सुधार प्रयास में भाग नहीं लेना आंदोलन के नेताओं की जानी-मानी नीति बन गई।

13.4.1 संविधान का मसौदा (Draft) तैयार करने के विभिन्न प्रयास

संवैधानिक सुधारों की माँगों पर विचार करने के लिए भारतीय वैधानिक आयोग (साइमन कमीशन) की 1928 में नियुक्ति को निदंनीय माना गया क्योंकि इसमें भारतीय प्रतिनिधि शामिल नहीं थे। संविधान का मसौदा तैयार करने का पहला प्रयास 1928 में हुआ जब एक सर्वदलीय सम्मेलन दिल्ली में हुआ था और भारत के लिए एक संविधान का मसौदा तैयार करने के लिए मोतीलाल नेहरु की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई थी। नेहरु समिति ने मौलिक अधिकारों के एक समूह की सिफारिश की, जिनको सरकार वापस नहीं ले सकती थी।

मई 1934 में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक भाग ने स्वराज पार्टी को पुनर्जीवित किया और ''भारतीय लोगों के सभी वर्गों के प्रतिनिधियों'' वाली संविधान सभा की माँग की। इस संविधान सभा का कार्य एक स्वीकार्य संविधान तैयार करना होगा जिसके द्वारा भारत में आत्म-निर्णय के सिद्धांत को लागू किया जा सकता था। भारतीय सरकार अधिनियम (1935) जो वैधानिक आयोग (साइमन कमीशन) की रिपोर्ट और लंदन में गोलमेज सम्मेलनों के विचार-विमर्श का परिणाम था, भारतीय लोगों के अधिकारों की माँगों को पूरा नहीं करता था। 1936 में अपने लखनऊ अधिवेशन में, कांग्रेस ने घोषणा की कि भारत के लोगों की आकांक्षाएँ बाहरी लोगों द्वारा लादे गए संविधान से संतुष्ट नहीं होगी। उसने कहा कि 1935 के अधिनियम ने लोगों की संप्रभुता पर अंकुश लगाया था और उनके स्वयं के राजनीतिक और आर्थिक भविष्य को आकार देने और नियंत्रित करने के उनके अधिकार को उसमें मान्यता नहीं मिली थी।

भारतीयों की बढ़ती माँग यह थी कि उन्हें अपने प्रशासन में अधिक अधिकार मिलने चाहिए और अगस्त, 1940 में वायसराय ने यह स्वीकार किया कि भारत के लिए संविधान निर्माण ''प्राथमिक रूप से भारतीयों की जिम्मेदारी होगा।'' लेकिन इसके लिए, उन्होंने कहा, युद्ध समाप्ति तक इंतजार करना होगा। युद्ध के बाद क्रिप्स मिशन ने भी एक संविधान सभा की स्थापना का प्रस्ताव रखा।

13.4.2 संविधान सभा का गठन और उद्देश्य सम्बंधी प्रस्ताव

कैबिनेट मिशन ने मार्च 1946 में भारत का दौरा किया और भारत के भविष्य के संविधान को तय करने के लिए भारतीयों के लिए 'तत्काल व्यवस्था' करने की बात की जिसमें इस

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 159 24-03-2021 11:47:23

तरह के सभी टकरावों को हल किया जा सके। मई 1946 में जारी कैबिनेट मिशन योजना ने भारतीयों को इस उद्देश्य के लिए संविधान सभा बनाने का अवसर प्रदान किया।

कैबिनेट मिशन ने ''नागरिकों, अल्पसंख्यकों, आदिवासियों और बहिष्कृत क्षेत्रों'' के अधिकारों पर एक सलाहकार समिति के गठन का सुझाव दिया था। इसका काम मौलिक अधिकारों की सूची, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए धाराएँ और आदिवासी और बहिष्कृत क्षेत्रों के प्रशासन के लिए एक योजना बनाना होगा। इसलिए, संविधान सभा ने सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में एक सलाहकार समिति का गठन किया। सलाहकार समिति, आगे और कई उप-समितियों का गठन करती है। संविधान सभा के 'उद्देश्य प्रस्ताव' में, जो भारतीय संविधान की प्रस्तावना में परिलक्षित होता है, संविधान सभा ने भारत को एक संप्रभु गणराज्य के रूप में गठित करने के संकल्प की घोषणा की। संविधान अपनी संप्रभुता लोगों से प्राप्त करेगा, जिनको न्याय, समानता और स्वतंत्रता की सुरक्षा दी जाएगी। उद्देश्य प्रस्ताव ने अल्पसंख्यकों, पिछड़े और आदिवासी क्षेत्रों और शोषित उत्पीड़ित और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए अधिकारों की पर्याप्त सुरक्षा उपाय उपलब्ध कराने की घोषणा करके लोकतांत्रिक आदर्शों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित की।

भारतीय राजनीतिक प्रणाली की विशिष्ट विशेषताएँ संविधान सभा द्वारा संहिताबद्ध की गयी थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी हुई संविधान सभा की स्थापना चाहती थी। वास्तविक संविधान सभा, जिसने भारतीय संविधान का निर्माण किया, वह कैबिनेट मिशन (मार्च, 1946) की योजना थी। भारतीय सरकार अधिनियम (1935) के आधार पर प्रांतों की नवनिर्वाचित विधान सभाओं ने लगभग एक मिलियन लोगों के लिए एक प्रतिनिधि के आधार पर संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव किया। सिख और मुस्लिम विधायकों ने अपनी-अपनी आबादी के आधार पर अपने अलग-अलग प्रतिनिधियों का चुनाव किया। ब्रिटिश योजना संविधान सभा के दायरे को सीमित करने, इसे विभाजित रखने और इसे संप्रभु दर्जा नहीं देने की थी। कांग्रेस ने इसे अधिक प्रतिनिधित्व देने का प्रयास किया और 30 सदस्य प्रतिनिधि विभिन्न सामाजिक समूहों से चुने गए जो कांग्रेस पार्टी के सदस्य भी नहीं थे। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों ने इसके कामकाज में सहयोग नहीं किया और अंततः विभाजन के बाद वे इससे हट गए।

कांग्रेस द्वारा अपनी स्वयं की संविधान सभा द्वारा भारत के संविधान बनाने की आवश्यकता पर जोर देने के बाद, द्वितीय विश्व युद्ध के बदले राजनीतिक हालात में और ब्रिटेन में सरकार बदल जाने से, अंग्रेजों ने अनिच्छा से ही सही पर संविधान सभा की स्थापना की जरूरत महसूस की। संविधान सभा, जिसे कैबिनेट मिशन योजना की सिफारिशों के बाद स्थापित किया गया था, वह प्रांतीय विधानसभाओं द्वारा सीमित वयस्क मताधिकार के माध्यम से चुनी गयी थी। समाज के विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों द्वारा चुने जाने के बावजूद, संविधान सभा ने विभिन्न विचारधाराओं और मतों का प्रतिनिधित्व किया। इसने भारत के विभिन्न सामाजिक समूहों का भी प्रतिनिधित्व किया। इस बीच, कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों के अनुसार, संविधान सभा का चुनाव हुआ जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के सदस्य जीत कर आए। कैबिनेट मिशन की 1946 की योजना के तहत पहली बार संविधान सभा के चुनाव हुए थे। संविधान सभा के सदस्यों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल, हस्तांतरणीय वोट प्रणाली द्वारा प्रांतीय विधान-सभाओं द्वारा चुना गया था। संविधान सभा की कुल सदस्यता 389 थी जिसमें से 292 प्रांतों के प्रतिनिधि थे और चार दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कूर्ग और ब्रिटिश बलूचिस्तान के मुख्य आयुक्त प्रांतों के थे। हालांकि, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच मतभेद कैबिनेट मिशन के समूहों संबंधित धाराओं की व्याख्या को लेकर उत्पन्न हुए। ब्रिटिश सरकार ने इस समय हस्तक्षेप किया और लंदन में नेताओं को समझाया कि मुस्लिम लीग का तर्क सही था और 6 दिसम्बर, 1946 को ब्रिटिश सरकार ने एक बयान प्रकाशित किया, जिसने पहली बार दो संविधान सभाओं और दो राज्यों की संभावना को स्वीकार किया। परिणामस्वरूप जब 9 दिसंबर, 1946 को संविधान सभा पहली

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 160 24-03-2021 11:47:23

बार मिली, तो मुस्लिम लीग द्वारा इसका बहिष्कार किया गया और इसने मुस्लिम लीग की भागीदारी के बिना ही कार्य किया।

13.4.3 संविधान सभा में प्रतिनिधित्व की प्रकृति

अक्सर यह बात कही जाती है कि भारत की संविधान सभा भारत की जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी क्योंकि इसके प्रतिनिधियों का चुनाव सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ था। इसकी जगह उनका चुनाव सीमित वयस्क मताधिकार के आधार पर अप्रत्यक्ष तरीके से हुआ था। यह मताधिकार समाज के कुलीन तबकों–शिक्षितों और टैक्स चुकाने वाले तक सीमित था। ऑस्टिन के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों का सीमित मताधिकार के आधार पर अप्रत्यक्ष चुनाव के कारण कैबिनेट मिशन योजना में वर्णित थे– संविधान निर्माण की प्रक्रिया में तकलीफदेह और धीमी प्रगति से बचाव। कैबिनेट मिशन के अनुसार संविधान सभा का अप्रत्यक्ष चुनाव प्रांतीय विधायिका के चुने हुए सदस्यों द्वारा किया गया। कैबिनेट मिशन के इस प्रस्ताव में कांग्रेस सहमत हो गई और उसने संविधान सभा का चुनाव कराने के लिए वयस्क मताधिकार के दावे को छोड़ दिया। सीमित वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने होने के बावजूद संविधान सभा में भारत के विभिन्न मतों और धार्मिक समुदायों का प्रतिनिधित्व था। ऑस्टिन का कहना है कि हालांकि संविधान सभा में कांग्रेस का बहुमत था लेकिन यह एक ''अलिखित और असंदिग्ध विश्वास'' था कि कांग्रेस सामाजिक और वैचारिक विविधता का प्रतिनिधित्व करेगी। इसकी ''सचेत नीति'' थी कि संविधान सभा में विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों और विचारों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। संविधान सभा में अलग अलग वैचारिक झुकावों वाले सदस्य थे जो तीन धार्मिक समुदायों – सिख, मुस्लिम और सामान्य (हिंदू तथा अन्य समुदाय जैसे आंग्ल-भारतीय, पारसी आदि) के थे। संविधान सभा में सभी मतों के व्यक्तियों को लाने का प्रयास किया गया। संविधान सभा के सदस्यों की बहुसंख्या कांग्रेसी थी। इसमें ए. के. अय्यर और एन. जी. आयंगर जैसे गैर-कांग्रेसी सदस्य भी थे जिन्हें ''विशेषज्ञ'' के रूप में कांग्रेस ले आई थी; डॉक्टर अंबेडकर और जॉन मथाइ थे जो मंत्रिमंडल में भी थे; एस. पी. मुखर्जी हिंदू महासभा के प्रतिनिधि थे। संविधान सभा में देसी रियासतों के भी प्रतिनिधि थे। यह बताना जरूरी है कि शुरू में डॉक्टर अंबेडकर संविधान सभा में शेड्यूल कास्ट फेडरेशन के सदस्य के रूप में बंगाल से चुने गए थे। लेकिन बंगाल के बंटवारे के चलते उनकी सीट जाती रही और कांग्रेस के आला कमान के अनुरोध पर बाम्बे कांग्रेस द्वारा (गैर-कांग्रेसी प्रत्याशी के बतौर) पुनर्निर्वाचित हुए। संविधान सभा ने किसी भी सामाजिक या सांस्कृतिक दिशा का ध्यान रखे बिना प्रत्येक व्यक्ति के सरोकारों को समझना चाहा। संविधान में कोई भी प्रावधान शामिल करने से पहले विस्तार से उस पर चर्चा होती थी। इस तरह संविधान सभा के सदस्य सीमित मताधिकार से निर्वाचित होने की सीमाओं पर विजय पा सके। जैसा कि हम इस इकाई में बता रहे हैं संविधान सभा के लोकतंत्र के सार्वभौमिक मूल्यों को समाहित करना चाहा। संविधान सभा ने दुनिया के विभिन्न संविधानों से कई प्रावधानों को अपनाया और उन्हें भारत की जरूरत के मुताबिक ढाल लिया। असल में संविधान में अन्य देशों से लिए गए प्रावधानों सहित विभिन्न प्रावधानों को शामिल करते हुए संविधान सभा ने अपने सदस्यों के बीच मतभेद के समाधान के लिए ''दो पूरी तरह से भारतीय धारणाओं'' यानी सर्वसम्मति और समायोजन का रास्ता अपनाया। जहाँ कहीं संविधान में सिद्धांतों को शामिल करने के मामले में समायोजन की धारणा का इस्तेमाल किया गया वहां भी निर्णय लेने की प्रक्रिया में सर्वसम्मति का रास्ता अपनाया गया।

संविधान सभा की कार्यवाही में उसके अधिकांश सदस्यों ने भाग लिया। लेकिन बीस लोग थे जिन्होंने सभा में सबसे प्रभावकारी भूमिका निभाई। उनमें थे प्रसाद, असद, पटेल, नेहरु, पंत, सीतारामैया, अय्यर, आयंगर, अंबेडकर और सत्यनारायण सिन्हा। हालांकि संविधान सभा ही वह मंच था जहाँ बहसें होती थीं। फिर भी तीन संस्थाओं – संविधान सभा, कांग्रेस पार्टी और अंतरिम सरकार के संयोजन से बहसें हुईं। संविधान सभा के कुछ सदस्य साथ

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 161 24-03-2021 11:47:23

ही अन्य संस्थाओं के भी सदस्य थे। ऑस्टिन का कहना है कि संविधान सभा में नेहरु, पटेल, प्रसाद और असद इन चार लोगों के ''अल्पतंत्र'' को असंदिग्ध इज्जत और सम्मान हासिल था। संविधान सभा की कार्यवाही पर इनका दबदबा था। इनमें से कुछ लोग एक साथ सरकार, कांग्रेस पार्टी और संविधान सभा में थे। संविधान सभा का अध्यक्ष बनने से पहले प्रसाद कांग्रेस के अध्यक्ष थे। नेहरु और पटेल संविधान सभा के साथ साथ प्रधानमंत्री और उप प्रधानमंत्री भी थे। वे लोग संविधान सभा की समितियों के आंतरिक दल में थे। संविधान का मसौदा लिखने वाली समिति ने परिश्रम के साथ संविधान सभा के फैसलों को मसौदे में शामिल किया। मसौदा समिति के अध्यक्ष डॉक्टर बी. आर. अंबेडकर ने संविधान के लिखने में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई।

13.4.4 संविधान सभा की भूमिका 1946-1949

संविधान सभा का उद्घाटन सत्र 9 दिसम्बर, 1946 को संपन्न हुआ। उम्मीद थी कि इसमें सभी 296 सदस्य भाग लेंगे लेकिन केवल 207 सदस्य ही इसमें रहे क्योंकि मुस्लिम लीग द्वारा संविधान सभा के बहिष्कार के चलते मुस्लिम लीग के सदस्य इसमें शामिल नहीं हुए। इस बैठक में जे. बी. कृपलानी ने डाक्टर सच्चिदानंद से अनुरोध किया कि वे सदन के अस्थायी अध्यक्ष के रूप में अध्यक्षता करें। 10 दिसंबर 1946 को सदस्यों ने एक स्थायी अध्यक्ष के चुनाव के लिए प्रस्ताव पारित किया और 11 दिसंबर 1946 को डॉक्टर राजेंद्र प्रसाद को संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया। 13 दिसंबर, 1946 को जवाहरलाल नेहरु ने लक्ष्य और उद्देश्य के सिलसिले में प्रस्ताव पेश किया।

सुचारू संचालन के लिए संविधान सभा ने अपना काम विभिन्न समितियों में बांटा। कुछेक महत्वपूर्ण समितियां थींः (क) संघीय शक्ति समिति – इसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे और इसमें नौ सदस्य थे; (ख) बुनियादी अधिकारों और अल्पसंख्यक समिति – इसके 54 सदस्य थे और सरदार बल्लभभाई पटेल इसके अध्यक्ष थे; (ग) संचालन समिति और इसके तीन सदस्य जिनमें के. एम. मुंशी (अध्यक्ष), गोपालस्वामी आयंगर तथा भगवान दास थे; (घ) प्रांतीय संविधान सभा – इसमें 25 सदस्य थे और अध्यक्ष सरदार पटेल थे; (ङ) संघीय संविधान समिति–इसमें अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरु सहित 15 सदस्य थे।

इन समितियों की रपटों पर विचार करने के बाद सभा ने 29 अगस्त, 1947 को डॉक्टर बी. आर. अंबेडकर की अध्यक्षता में एक ड्रॉफ़्टिंग कमेटी की नियुक्ति की। संविधान सभा के सलाहकार सर बी. एन. राउ ने ड्रॉफ़्ट यानी मसौदा तैयार किया। मसौदे की जाँच के लिए सात सदस्यों की एक समिति गठित की गई। डॉक्टर अंबेडकर ड्रॉफ़्टिंग समिति के अध्यक्ष होने के अतिरिक्त कानून मंत्री भी थे। उन्होंने सभा में मसौदे को अंतिम रूप दिया। डॉक्टर अंबेडकर ने ''ड्रॉफ़्ट कंस्टीच्यूशन ऑफ़ इंडिया'' पेश किया जो समितियों द्वारा दिए गए प्रस्तावों का विकल्प था; उनके अलावा इसमें अतिरिक्त प्रस्ताव भी थे। फ़रवरी 1948 में ''ड्रॉफ़्ट कंस्टीच्यूशन'' प्रकाशित हुआ। संविधान सभा ने अपने कई अधिवेशनों में इस पर अनुच्छेद दर अनुच्छेद विचार किया (इसे दूसरा पाठ कहा जाता है)। यह काम 17 अक्टूबर, 1949 को पूरा हुआ। 14 नवंबर को संविधान सभा की बैठक फिर से हुई ताकि इस मसौदे पर और भी विचार किया जाए या इसका तीसरा पाठ संपन्न हो। 26 नवंबर, 1949 को संविधान सभा के अध्यक्ष का हस्ताक्षर मिलने के बाद उसे अंतिम रूप दिया गया। लेकिन 26 जनवरी, 1950 को संविधान के लागू होने की तारीख माना गया।

13.5 औपनिवेशिक सत्ता के स्वरूप के अवशेष और स्वतंत्रता के बाद की राज्य व्यवस्था

जिस राज्य में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रवादी शक्तियों ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी उसने औपनिवेशिक अतीत के प्रशासनिक और संस्थागत ढाँचों की अनेक विशेषताएँ विरासत में पाई थीं। स्वयं में भारत का संविधान भारत के लिए ब्रिटिश संवैधानिक व्यवस्था

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 162 24-03-2021 11:47:23

की देन था। स्वाधीन हो जाने के बाद भारत की संविधान-प्रारूप तैयार करने वाली संस्था पूरी तरह से प्रभुसत्ता-संपन्न बन गई। हालांकि संविधान सभा ने ऐसे अनेक जनतांत्रिक और नियामक रूप अपनाए थे, औपनिवेशिकाल के दौरान राष्ट्रवादी नेता जिनकी वकालत करते रहे थे, परंतु संवैधानिक ढाँचे के आधार का निर्माण एक शक्तिशाली एकात्मक केन्द्र से किया गया जिसमें प्रांतों को सीमित अधिकार दिए गए थे। इस प्रकार कुछ परिवर्तनों के बावजूद औपनिवेशिक काल की केन्द्रियकृत राज्य-व्यवस्था को बनाए रखा गया था। शाही राज्य-व्यवस्था का असर भारतीय सिविल सेवा के उच्च वर्गीय संवर्ग को बनाए रखने में अभिव्यक्त होता था। हालांकि निर्वाचित, गैर-नौकरशाह संस्थाओं के प्रति नौकरशाही की जबावदेही या उनको नियमित रूप से रिपोर्ट करने और नौकरशाही पर इन संस्थाओं के नियंत्रण के मामले में इनकी कार्यप्रणाली और दिशा में बुनियादी परिवर्तन किए जाने की जरूरत थी, लेकिन औपनिवेशिक काल की अनेक विशेषताओं को बनाए रखा गया था। इसके कार्यों में साम्राज्यी विरासत और कानून व्यवस्था की प्राथमिकता को भी जारी रखा गया था। कुछ रूपों में चुनावों का संचालन कराने और सार्वजनिक उपक्रमों के प्रमुखों के रूप में विकास की पहल करने जैसी नई जिम्मेदारियों के साथ लोक सेवकों के तौर पर उनके कार्यों में धीरे-धीरे जो परिवर्तन आए, उनसे इसकी पहले वाली विशिष्टता और एकरूपता की प्रकृति में कमी आई। औपनिवेशिक विरासत सेना और अर्द्धसैनिक बलों की संरचना और भूमिका में भी दिखाई दी। सेना की उस पेशेवर प्रकृति को बनाए रखा गया जिसमें उसे नागरिक समाज से अलग रखा गया था। निचले स्तर के अधिकारी अधिकतर भूस्वामी किसानों के बीच से आते थे, जो औपनिवेशिक नीति की निरंतरता थी। योद्धा जातियों (Martial races) में औपनिवेशिक विश्वास भर्ती नीति और रेजीमेंटों में प्रतिबिंबित होती थी जो प्रारंभ में हालांकि जाति, नस्ल और समुदाय के आधार पर विभाजित थी परंतु बाद में इनमें जातियों और नस्लों के मिले-जुले समूह शामिल कर लिए गए थे। 1920 और 1930 के दशकों के दौरान सत्ता के आशिंक हस्तांतरण की प्रक्रिया उन कार्यप्रणालियों से स्थापित की गई थी जिनके द्वारा नौकरशाही निर्वाचित राजनीतिक नेताओं को दरकिनार कर सकती थी। इन कार्यप्रणालियों में एक ऐसी संभावना और अवसर रखे गए जिनका इस्तेमाल करके नौकरशाही 'सार्वजनिक मामलों' का निपटारा निर्वाचित संस्थाओं के बाहर कर सकती थी। इसने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिसमें निर्वाचित प्रतिनिधि 'सरकारी तरफदारी के लिए मध्यस्थों' की तरह काम कर सकते थे, और इसने निर्वाचित नेताओं के जरिए जनता और 'अफसरों' के बीच मध्यस्थता का रास्ता खोल दिया। औपनिवेशिक काल के बाद की स्थिति में आर्थिक अधिशेष के बहुत बड़े भाग का विनियोग राज्य ने भी किया और नौकरशाही के माध्यम से इसका उपयोग विकास को आगे बढ़ाने में लगाया। संसाधनों के आवंटन में, जो लाइसेंसों, परमिटों और सरकारी स्वीकृतियों के मामलों में संरक्षण के मनमाने वितरण के द्वारा होता था, गैर बाज़ारी कार्यविधियों में बढ़ोतरी होने के साथ नौकरशाही प्रबंधकों के नए उच्च वर्ग की शक्ति और हैसियत कई गुणा बढ़ गई। भारत ने औपनिवेशिक शासन की कई अन्य संस्थात्मक विशेषताओं को विरासत में पाया जैसे कि शिक्षा संगठन और कानूनी तथा न्यायिक व्यवस्थाएँ। नए राज्य ने भी आधारभूत ढाँचे के विकास के रूप को जारी रखा जिसका काम संक्रमण की क्रमिक प्रक्रिया को ऊपर से लागू करना था और यह सामाजिक न्याय के पहले वाले उन नारों को तिलांजली देते हुए हुआ जिनका इस्तेमाल औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध लोगों को लामबंद करने के लिए किया गया था।

13.6 स्वतंत्रता के बाद की राज्य व्यवस्था पर राष्ट्रवादी विरासत का प्रभाव

इसकी झलक राष्ट्रवादी नेताओं के भारतीय राज्य की प्रभुसत्ता और एक संतुलित आर्थिक प्रगति एवं नियोजित औद्योगीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एकात्मक राज्य जैसे विचारों के अपनाने में मिलती है। भारत के लिए वे संसदीय संस्थाओं और आर्थिक

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 163 24-03-2021 11:47:23

आत्मनिर्भरता के हिमायती थे ताकि गुट निरपेक्ष आंदोलन में यह एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सके। उन्होंने सामाजिक-आर्थिक सुधार लागू करने की जरूरत पर भी जोर दिया था। इन विचारों और मूल्यों की छाप अनेक संस्थागत संरचनाओं पर दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रवादी आंदोलन ने प्रारंभ से ही जनतांत्रिक आदर्शों और संस्थाओं का प्रचार और उन कानूनों का विरोध किया था जो औपनिवेशिक काल में नागरिक स्वतंत्रताओं को सीमित करते थे। वे वयस्क मताधिकार के द्वारा भारतीयों के प्रतिनिधित्व की माँग कर रहे थे। उन्होंने दमनात्मक औपनिवेशिक कानूनों के खिलाफ प्रेस और बोलने की आजादी की वकालत की थी। कांग्रेस संगठन भी जनतांत्रिक पैटर्न पर आधारित था जिसके अंतर्गत इसकी कार्यप्रणाली में असहमति और अभिव्यक्ति के अधिकार को समुचित स्थान दिया गया था। राष्ट्रवादी नेतृत्व ने लोक संप्रभुता, प्रतिनिधिक सरकार और नागरिक स्वतंत्रताओं के मूल आदर्शों को प्रचारित किया और इस प्रबुद्ध राजनीतिक स्वभाव को उत्तर-उपनिवेशवादी राज्यव्यवस्था में जोड़ने का प्रयास किया था।

13.7 जनतांत्रिक राज्य के संस्थात्मक स्तंभ

भारत में 15 अगस्त, 1947 के बाद जो राज्य उभर कर आया उसके मूलभूत नियामक और संस्थात्मक ढाँचे का आधार लोक संप्रभुता, धर्मनिरपेक्षता, जनतंत्र और संसदीय प्रणाली जैसे प्रमुख विचारों ने प्रदान किया जिनकी वकालत राष्ट्रवादियों द्वारा स्वाधीनता के बाद की गई थी। इन विचारों ने उत्तर-औपनिवेशिक राज्यव्यवस्था को विशेषतया इसलिए वैधता प्रदान की थी कि इस राज्य व्यवस्था को एक ऐसे समाज में काम करना था जो बिखरा हुआ और सांस्कृतिक रूप से विविध था। लेकिन अपनाया गया उन संस्थाओं और व्यवहारों को जो संसदीय जनतंत्र के वेस्टमिनिस्टर रूप से लिए गए थे और उन्हें देश की जरूरतों के अनुसार नया रूप दिया गया। 1947 में अंग्रेजों ने जिस राष्ट्र को सत्ता सौंपी थी वह 1930 और 1940 के दशक के विशिष्ट राजनीतिक विचारों की देन था। कांग्रेस संगठन निर्वाचन सिद्धांत पर आधारित था। संसद के प्रति जबावदेह सरकार को अपनाना पूरे तौर पर ब्रिटिश संसद की नकल नहीं थी, बल्कि एक प्रकार से यह राष्ट्रवादी संगठन की परंपराओं को औपचारिक रूप देना था। इसी तरह से व्यस्क मताधिकार (संपत्ति या शिक्षा की किसी योग्यता के बिना), मौलिक अधिकार और राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांतों के रूप में सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम का घोषणा-पत्र जैसे अनेक संवैधानिक विचारों के पूर्वगामियों को कांग्रेस के स्वाधीनता पूर्व के मुहावरों और नारों में खोजा जा सकता है। 1950 के संविधान में हालांकि बहुत सारी चीजें 1935 के गवर्नमेंट इंडिया एक्ट से ली गई थीं और अधिकारों के केन्द्रीयकरण की ओर झुके अर्ध-संघीय ढाँचे को बनाए रखा गया था, फिर भी इसने औपनिवेशिक ढाँचे में अतंर्निहित नियंत्रणों को समाप्त कर दिया था। केन्द्र और राज्यों तथा कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच अधिकारों के बँटवारे का उद्देश्य नागरिकों को सत्ताधारियों द्वारा अपने अधिकारों को मनमाने ढंग से इस्तेमाल किए जाने से रोकना और नागरिकों को बचाना था। इसे न्यायिक पुनर्विचार के अधिकार के साथ अमरीकी मॉडल के सर्वोच्च न्यायालय को लाकर सुनिश्चित किया गया था। परंतु आपातकाल लागू करने सहित कुछ अप्रतिनिधिक (नौकरशाही तंत्र) प्रावधान बनाए रखे गए थे। उत्तर-औपनिवेशिक राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता विकास की विचारधारा थी और इसने इसके एक अविभाज्य अंग की रचना की थी। संविधान के अनुच्छेद 12 से 35 में शामिल किए गए मौलिक अधिकार सभी नागरिकों के अधिकारों के साथ-साथ धार्मिक अल्पसंख्यकों के व्यक्तियों के नागरिक और मानव अधिकारों पर राज्य के अतिक्रमणों के विरुद्ध गारंटी देते हैं। मौलिक अधिकार सात हैंः समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति एवं शिक्षा का अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, संपत्ति का अधिकार और संवैधानिक उपचार का अधिकार। निर्देशक सिद्धांत राज्य के लिए मार्गदर्शक या निर्देश है कि मौलिक अधिकारों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए वह कुछ मूलभूत सामाजिक-आर्थिक सुधार लागू करे। हालांकि नीतिगत इन उपायों को लागू करने के

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 164 24-03-2021 11:47:23

पीछे कोई कानूनी स्वीकृति नहीं है, फिर भी वे भारतीय राजनीतिक प्रणाली के बुनियादी कल्याणोन्मुख मानदंडों को प्रतिबिंबित करते हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने धर्मनिरपेक्षता को अपने संविधान, राज्य और समाज की आधारशिला बनाया था। धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या धर्म को राजनीति और राज्य से अलग रखने और धर्म को नागरिक के व्यक्तिगत क्षेत्र तक सीमित रखने तथा सभी धर्मों के प्रतिराज्य की तटस्थता एवं धर्म के आधार पर भेदभाव की अनुपस्थित के रूप में की गई थी।

बोध प्रश्न-2

1) संविधान सभा की संरचना, गठन और कार्य प्रणाली का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) यह चर्चा कीजिए कि कैसे औपनिवेशिक और राष्ट्रीयवादी विरासत ने उत्तर-औपनिवेशिक काल में भारतीय राज्य व्यवस्था को प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

3) उत्तर औपनिवेशिक भारतीय राज्य की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

13.8 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद और भारत छोड़ो आंदोलन के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश शासन जल्दी ही खत्म होने वाला है। लेकिन भारतीय लोगों को सत्ता हस्तांतरण के लिए समझौते में लंबा समय लगा। कई दशकों से राष्ट्रवादी औपनिवेशिक सत्ता का प्रतिरोध और इसके आधिपत्य का विरोध करने की कोशिश करते रहे थे। भारतीय राष्ट्र की अवधारणा का विकास करने के लिए राष्ट्रवादियों ने कुछ वैचारिक और सांस्कृतिक विशिष्टताओं का इस्तेमाल किया था। जबकि अंग्रेजों का दावा था कि भारत एक राष्ट्र नहीं है और कभी नहीं बन पाएगा क्योंकि इसके लोग जाति और समुदाय के आधार पर विभाजित थे। मुस्लिम लीग के नेता अंग्रेजों द्वारा चलाए गए शक्ति के खेल में तल्लीन थे। अब यह राष्ट्रवादियों का काम था कि जिन्होंने विशेष रूप से सामूहिक जीवन और अखंड भारत के लिए पूरी जिंदगी शपथ ली थी कि आगे आने वाले अशांत दिनों की सम्भावनाओं पर ध्यान देते। लेकिन अब तक वे ऐसी परिस्थिति में पहुँच चुके थे कि वह किसी न किसी रूप में एक समझौते पर पहुँचने के लिए व्याकुल थे और धर्म के आधार पर भारत के विभाजन की संभावना के सम्मुख भी न तो उनमें इतनी शक्ति थी और न ही इच्छा कि वह किसी बड़े संघर्ष की तैयारी करते। परिणामस्वरूप कांग्रेस ने 1945-47 के दौरान के अधिकतर जन संघर्षों की उपेक्षा करनी शुरू कर दी। औपनिवेशिक सत्ता का भारत से वापस जाना केवल आंशिक सफलता थी क्योंकि साम्राज्यवादी ताकत

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 165 24-03-2021 11:47:24

उपमहाद्वीप को अपनी योजना के अनुसार विभाजित करने में सफल रही थी। विभाजन ने यह भी सुनिश्चित कर दिया था कि औपनिवेशिक सत्ता द्वारा निर्मित संस्थानात्मक ढाँचे बने रहेंगे। उपमहाद्वीप के दो हिस्सों में सत्ता का जो हस्तांतरण कांग्रेस और मुस्लिम लीग को हुआ था उसने उत्तर-औपनिवेशिक राजनीतिक परिदृश्य से संबंधित आमूल परिवर्तन की आवाजों और चर्चाओं को भी चुप कर दिया।

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 13.3

2) देखें उप-भाग 13.2.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 13.4

2) देखें भाग 13.5 और 13.6

3) देखें भाग 13.7

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 166 24-03-2021 11:47:24

इस पाठ्यक्रम के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bandopadhyaya, Sekhar (2004), *From Plassey to Partition: A History of Modern India*, Orient Blackswan.

Bayly, C.A. (1988), *Indian Society and the Making of British Empire*, Cambridge University Press.

Brown, Judith M. (1985), *Modern India: The Origins of an Asian Democracy*, Oxford University Press.

Chandra, Bipan, (2010), *Rise and Growth of Economic Nationalism in India*, Har Anand.

Chaudhuri, B.B. (2008), *Peasant History of Late Pre-Colonial and Colonial India*, Pearson Education.

Hasan, Mushirul (1991), *Nationalism and Communal Politics in India: 1885-1932*, Manohar.

Jalal, Ayesha and Bose, Sugata, (1998), *Modern South Asia: History, Culture and Political Economy*, Routledge.

Jones, Kenneth W. (1990), *Socio-Religious reform Movements in British India*, Cambridge University Press.

Kumar, Dharma, (2005), ed., *Cambridge Economic History of India*, Vol. II, Orient Longman.

Metcalf, Thomas R. (1999), *The Aftermath of Revolt: India 1857-1870*, Manohar.

Mukherjee, Rudraghasu, (1984), *Awadh in Revolt: A Study in Popular Resistance*, Oxford University Press.

Roy, Tiranthkar, (2000), *The Economic History of India, 1857-1947*, Oxford University Press.

Sarkar, Sumit (1986), *Modern India*, Macmillan.

Stokes, Eric (1959), *The English Utilitarians and India*, Oxford University Press.

BHIC-134 (HINDI)_NEW SETTING.indd 167 24-03-2021 11:47:24

नोट्स

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

QR Code -website ignou.ac.in

QR Code -e Content-App

QR Code - IGNOU-Facebook
(@OfficialPageIGNOU)

QR Code Twitter Handel
(OfficialIGNOU)

INSTAGRAM
(Official Page IGNOU)

QR Code -e Gyankosh-site

IGNOU SOCIAL MEDIA

QR Code generated for quick access by Students

IGNOU website

eGyankosh

e-Content APP

Facebook (@offical Page IGNOU)

Twitter (@ Offical IGNOU)

Instagram (official page ignou)

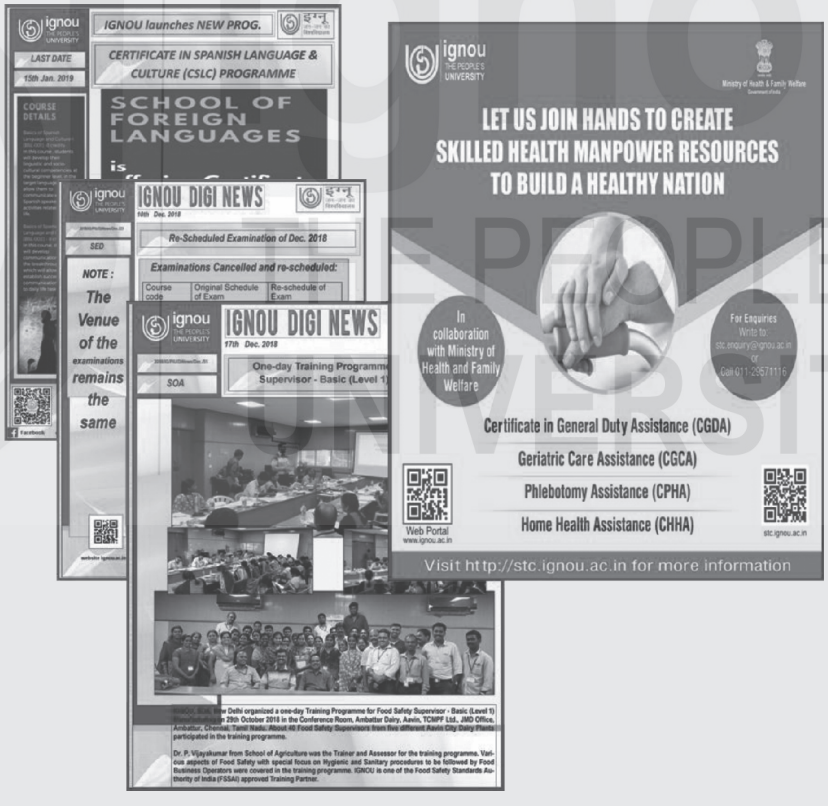

Like us, follow-us on the University Facebook Page, Twitter Handle and Instagram

To get regular updates on Placement Drives, Admissions, Examinations etc.

MPDD/IGNOU/P/O/ 33.5K / FEBRUARY, 2021

ISBN : 000-00-00000-00-0